भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन
Indian National Movement

इतिहास

M.A. (Final) History

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक-124 001

Copyright © 2003, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय सूची

UNIT -I

अध्याय 1:	भारतीय राष्ट्रवाद का उदय	5
अध्याय 2:	भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उदय	20
अध्याय 3:	उदारवादी और उनकी कार्यविधि	31
अध्याय 4:	उग्रवादी और उनकी कार्यविधि	42
अध्याय 5:	बंगाल का विभाजन और स्वदेशी आन्दोलन	64
अध्याय 6:	होमरूल लीग का आन्दोलन	72

UNIT - II

अध्याय 7:	क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी आन्दोलन	81
अध्याय 8:	भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में वामपंथी राजनीति का उदय एवं विकास	99
अध्याय 9:	साम्प्रदायिक राजनीति की उत्पत्ति	113
अध्याय 10:	आजाद हिन्द फौज का स्वतन्त्रता संघर्ष में योगदान	136

UNIT - III

अध्याय 11:	असहयोग और खिलाफत आन्दोलन	141
अध्याय 12:	ब्रिटिश प्रतिक्रिया व सुधार	176
अध्याय 13:	साम्प्रदायिकता का उदय - पाकिस्तान की माँग और भारत विभाजन	196
अध्याय 14:	शक्ति का स्थानान्तरण - स्वतन्त्रता प्राप्ति	212

INTERNATIONAL TRADE AND FINANCE
M.A. (Final) Economics

M. Marks : 100
Time : 3 Hrs.

Note: 10 Questions will be set–2 from each unit. The candidate is required to attempt 5 questions, selecting one from each unit.

UNIT-I

अध्याय-1
भारतीय राष्ट्रवाद का उदय
(Emergence of Indian Nationalism)

राष्ट्र की परिभाषा एक ऐसे जन समूह के रूप में की जा सकती है जो कि एक भौगोलिक सीमाओं में एक निश्चित देश में रहता हो, समान परम्परा, समान हितों तथा समान भावनाओं से बँधा हो और जिसमें एकता के सूत्र में बाँधने की उत्सुकता तथा समान राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाएँ पाई जाती हों। राष्ट्रवाद के निर्णायक तत्वों मे राष्ट्रीयता की भावना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रीयता की भावना किसी राष्ट्र के सदस्यों में पायी जानेवाली सामुदायिक भावना है जो उनका संगठन सुद ढ़ करती है। भारत में अंग्रेजों के शासनकाल मे राष्ट्रीयता की भावना का विशेषरूप से विकास हुआ, इस विकास में विशिष्ट बौद्धिक वर्ग का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से एक ऐसे विशिष्ट वर्ग का निर्माण हुआ। जो स्वतन्त्रता को मूल समझता था और जिसमें अपने देश को अन्य पाश्चात्य देशों के समकक्ष लाने की प्रेरणा थी। पाश्चात्य देशों का इतिहास पढ़कर उसमें राष्ट्रवादी भावना का विकास हुआ। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भारत के प्राचीन इतिहास से नई पीढ़ी को राष्ट्रवादी प्रेरणा नहीं मिली है किन्तु आधुनिक काल में नवोदित राष्ट्रवाद अधिकतर अंग्रेजी शिक्षा का परिणाम है। देश में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त किए हुए नवोदित विशिष्ट वर्ग ने ही राष्ट्रीयता का झण्डा उठाया।

भारतीय राष्ट्रवाद का उदय

भारतीय राष्ट्रवाद एक आधुनिक तत्त्व है। इस राष्ट्रवाद का अध्ययन अनेक द ष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रवाद के उदय की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल और बहुमुखी रही है। भारत मे अंग्रेजों के आने से पहले देश में ऐसी सामाजिक संरचना थी जो कि संसार के किसी भी अन्य देश मे शायद ही कहीं पाई जाती हो। वह पूर्व मध्यकालीन यूरोपीय समाजों से आर्थिक द ष्टि से भिन्न थी भारत विविध भाषा-भाषी और अनेक धर्मों के अनुयायियों वाले विशाल जनसंख्या का देश है। सामाजिक द ष्टि से हिन्दू समाज जो कि देश की जनसंख्या का सबसे बड़ा भाग है विभिन्न जातियों और उपजातियों में विभाजित रहा है। स्वयं हिन्दू धर्म में किसी विशिष्ट पूजा पद्धति का नाम नहीं है। बल्कि उसमें कितने ही प्रकार के दर्शन और पूजा पद्धतियाँ सम्मिलित है। इस प्रकार हिन्दू समाज अनेक सामाजिक और धार्मिक विभागों में बँटा हुआ है। भारत की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संरचना तथा विशाल आकार के कारण यहाँ पर राष्ट्रीयता का उदय अन्य देशों की तुलना मे अधिक कठिनाई से हुआ है शायद ही विश्व के किसी अन्य देश में इस प्रकार की प्रकट भूमि में राष्ट्रवाद का उदय हुआ हो। सर जॉन स्ट्रेची ने भारत के विभिन्नताओं के विषय मे कहा है कि "भारतवर्ष के विषय में सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण जानने योग्य बात यह है कि भारतवर्ष ने कभी न था और न है, और न उसमें यूरोपीय विचारों के अनुसार किसी प्रकार की भौगोलिक, राजनैतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक एकता थी, न कोई भारतीय राष्ट्र और न कोई भारतीय ही था जिसके

विषय में हम बहुत अधिक सुनते हैं।" इसी सम्बन्ध मे सर जॉन शिले का कहना है कि "यह विचार कि भारतवर्ष एक राष्ट्र है, उस मूल पर आधारित है जिसको राजनीतिक शास्त्र स्वीकार नहीं करता और दूर करने का प्रयत्न करता है। भारतवर्ष एक राजनीतिक नाम नही हैं वरन् एक भौगोलिक नाम है जिस प्रकार यूरोप या अफ्रीका।"

उपरोक्त विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में राष्ट्रवाद का उदय और विकास उन परिस्थितियों में हुआ जो राष्ट्रवाद के मार्ग में सहायता प्रदान करने के स्थान पर बाधाएँ पैदा करती है। वास्तविकता यह है कि भारतीय समाज की विभिन्नताओं में मौलिक एकता सदैव विद्यमान रही है और समय-समय पर राजनीतिक एकता की भावना भी उदय होती रही है। वी०ए० स्मिथ के शब्दों में "वास्तव मे भारतवर्ष की एकता उसकी विभिन्नताओं में ही निहित है।" ब्रिटिश शासन की स्थापना से भारतीय समाज में नये विचारों तथा नई व्यवस्थाओं को जन्म मिला है इन विचारों तथा व्यवस्थाओं के बीच हुई क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप भारत में राष्ट्रीय विचारों को जन्म दिया।

पूर्व-ब्रिटिश सामाजिक प ष्ठभूमि

भारतीय राष्ट्रवाद को समझने के लिए उसकी सामाजिक प ष्ठभूमि को समझना आवश्यक है। भारत में अंग्रेजो के आने से पहले भारतीय ग्राम आत्मनिर्भर समुदाय थे। वे छोटे-छोटे गणराज्यों के समान थे जो प्रत्येक बात में आत्मनिर्भर थे। ब्रिटिश पूर्व भारत में ग्रामीण अर्थव्यवस्था कृषि और कुटीर उद्योगों पर आधारित थी और सदियों से ज्यों-की-त्यों चली आ रही थी। कृषि और उद्योग में तकनीकी स्तर अत्यन्त निम्न था। समाजिक क्षेत्र में परिवार, जाति पंचायत और ग्रामीण पंचायत सामाजिक नियन्त्रण का कार्य करती थीं। नगरीय क्षेत्र में कुछ नगर राजनैतिक, कुछ धार्मिक तथा कुछ व्यापार की द ष्टि से महत्त्वपूर्ण थी। अधिकतर राज्यों की राजधानी किसी न किसी नगर में थी। नगरों में अधिकतर लघु उद्योग प्रचलित थे। इन उद्योगों को राजकीय सहायता प्राप्त होती थी। अधिकतर गाँवों और नगरों में परस्पर सांस्क तिक आदान-प्रदान बहुत कम होता था, क्योंकि यातायात और संदेशवाहन के साधन बहुत कम विकसित थे। इस प्रकार राजनैतिक परिवर्तनों से ग्राम की सामाजिक स्थिति पर बहुत कम प्रभाव पड़ता था। विभिन्न ग्रामों और नगरों के एक दूसरे से अलग-अलग रहने के कारण देश में कभी अखिल भारतीय राष्ट्र की भावना उत्पन्न नहीं हो सकी। भारत में जो भी राष्ट्रीयता की भावना थी, वह अधिकतर धार्मिक और आदर्शवादी एकता की भावना थी, वह राजनैतिक व आर्थिक एकता की भावना नहीं थी। लोग तीर्थयात्रा करने के लिए पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण भारत का दौरा अवश्य करते थे और इससे देश की धार्मिक एकता की भावना बनी हुई थी, किन्तु सम्पूर्ण देश परस्पर संघर्षरत छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था, जिनमे बराबर युद्ध होते रहते थे। दूसरी ओर ग्रामीण समाज इन राजनैतिक परिवर्तनों से लगभग अछूते रहते थे। भारतीय संस्कृति मुख्यरूप से धार्मिक रही है। इसमें राजनैतिक तथा आर्थिक मूल्यों को कभी इतना महत्त्व नहीं दिया गया, जितना कि आधुनिक संस्कृति में दिया जाता है। भारतीय संस्क ति की एकता भी धार्मिक आदर्शवादी एकता है। उसमें राष्ट्रीय भावना का अधिकतर अभाव ही दिखलाई देता है।

कृषि व्यवस्था मे परिवर्तन

भारत में अंग्रेजों की विजय के पश्चात् भारतीय समाज में व्यापक रूपान्तरण हुआ ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना का कारण मुगल साम्राज्य का पतन और देश का अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो जाना था। ब्रिटिश शासन पूर्व-मुस्लिम शासनों से अनेक बातों में भिन्न था भारतीय लोगों की तुलना में अंग्रेजों की राष्ट्रीयता की भावना, अनुशासन, देश भक्ति और सहयोग कहीं अधिक दिखाई

पड़ते थे। उनके इन गुणों ने भारतीय विशिष्ट वर्ग को भी प्रभावित किया अंग्रेजी शासन के भारत की आर्थिक संरचना पर दूरगामी प्रभाव पड़े। उससे एक और देश में प्राचीन एशियायी समाज को आघात पहुँचा और दूसरी ओर पाश्चात्य समाज की स्थापना हुई। इससे देश में राजनैतिक एकता का निर्माण हुआ। उसके प्रभाव से देश में राष्ट्रीयता के आन्दोलन का विकास हुआ। उससे देश की कृषि व्यवस्था मे आमूल चूल परिवर्तन हुआ। अंग्रेजों के आने से पहले भूमि राजा की नहीं समझी जाती थी उसे जोतनेवाले राजा को कर दिया करते थे, अस्तु भूमि निजी सम्पत्ति भी नहीं मानी जाती थी। अंग्रेजों के आने से भूमि पर ग्रामीण समुदाय का अधिकार नहीं रहा, बल्कि वह व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति बन गई। इस प्रकार देश के कुछ भागों में जमीदारों और अन्य भागों मे किसानों का भूमि पर अधिकार हो गया। लार्ड कार्नवालिस के राज्यकाल में, बंगाल बिहार और उड़ीसा में जमींदार वर्ग का उदय हुआ। इससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था मे दूरवर्ती परिवर्तन हुए। देश के अन्य भागों में रैयतवाड़ी प्रबन्ध से किसानों को उनके द्वारा जोती गई भूमि पर अधिकार दे दिया गया। सर टॉमस ने मद्रास के गवर्नर के रूप में सन् 1820 ई० मे रैयतवाड़ी व्यवस्था प्रारम्भ की। इससे देश मे व्यापक, सामाजिक, राजनैतिक सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक परिवर्तन हुए। लगान देने की नई व्यवस्था में ग्रामीण पंचायत नहीं बल्कि जमींदार और किसान सीधे सरकार को कर देने लगे। इस प्रकार कृषि व्यवस्था व्यापार की स्थिति में आ गई और परम्परागत भारतीय ग्रामीण व्यवस्था का विघटन हुआ। क्रमशः कृषि व्यवस्था का रूपान्तरण होने लगा। भूमि पर निजी अधिकार स्थापित होने से भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े बढ़ने लगे। इस अपखण्डन से खेती पर बुरा प्रभाव पड़ा। लगान वसूल करने की नई प्रणाली से सरकारी कर्मचारियों के नवीन वर्ग का निर्माण हुआ। जिनका दूरवर्ती राजनीतिक महत्त्व है। देश की आर्थिक दशा बिगड़ने लगी, गरीबी बढ़ने लगी। गाँवों में लोगों पर कर्ज बढ़ने लगा, जिससे क्रमशः भूमि खेती करनेवालों के हाथ से निकल कर खेती न करनेवाले भू-स्वामियों के हाथ में जाने लगी। इससे भू-दासों के एक नवीन वर्ग का निर्माण हुआ, जिसके हित भू-स्वामियों के हित के विरुद्ध थे। कृषि के क्षेत्र मे एक ओर सर्वहारा भू-दास और दूसरी ओर परोपजीवी जमींदार वर्ग का निर्माण हुआ, जिनमें परस्पर संघर्ष और तनाव बढ़ने लगा। इन वर्गों के निर्माण से व्यापक, सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तन हुए।

नगरीय अर्थव्यवस्था मे परिवर्तन

ब्रिटिश शासनकाल में नगरीय अर्थव्यवस्था मे भी व्यापक परिवर्तन हुए। कुटीर उद्योगों को धक्का लगा। विदेशी शासन में उनके हितों पर कुठाराघात हुआ, उनके माल की खपत कम होती गई, जिससे क्रमशः परम्परागत उद्योग समाप्त होने लगे। कारीगरों का सामाजिक स्तर गिरने लगा और कारीगिरी के काम छोड़कर अन्य व्यवसायों लगने लगे। विदेशों से आए हुए बने-बनाये माल के मुकाबलों में देशी माल की खपत घटने लगी, जिसके परिणामस्वरूप भारत अधिकतर कच्चा माल उत्पादन करने का स्रोत बन गया और देश के बाजार विदेशी माल से भरे जाने लगे। इस प ष्ठभूमि देश में आधुनिक उद्योगों के विकास मे अत्यधिक महत्त्व है। अंग्रेजों ने अपने लाभ के लिए देश में यातायात और सन्देश वाहन के साधन बढ़ाये। उन्होने नये-नये उद्योगों की स्थापना की। इन सबसे धीरे-धीरे राष्ट्रीयता की भावना के विकास में सहायता मिली। अंग्रेजी पढ़े नये लोगो ने अंग्रेजों की आर्थिक नीति की कटु आलोचना की। देश मे उद्योगों के विकास से पूँजीपति वर्ग बढ़ने लगा। अधिकतर भारतीय उद्योगों में विदेशी पूँजी लगी हुई थी। इस प्रकार देश की अर्थ-व्यवस्था देश के लिए हानिकारक और अंग्रेजों के लिए लाभदायक थी, दूसरी ओर व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में उनका एकाधिकार बढ़ गया।

शिक्षा का प्रसार

अंग्रेजों ने देश में एक ऐसे वर्ग के निर्माण के लिए अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार किया जो कि उन्हें शासन में सहायता दे सकें। पूर्व-ब्रिटिश भारत में अधिकतर शिक्षा धार्मिक शिक्षा थी जो संस्कृत पाठशालाओं तथा मुस्लिम मदरसों के माध्यम से दी जाती थी। ईसाईयों ने देश में आधुनिक शिक्षा का प्रचार किया, यद्यपि उनकी शिक्षा का एक उद्देश्य देश में ईसाईयों की संख्या बढ़ाना भी था, किन्तु उससे पश्चिमी तथा आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं को भी प्रोत्साहन मिला। अंग्रेजों ने सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त व्यावसायिक शिक्षा देने के लिए भी विद्यालय खोले। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से देश मे एक ऐसे विशिष्ट वर्ग का निर्माण हुआ जिसने राष्ट्रीय शिक्षा की ओर ध्यान दिया। यह वर्ग शिक्षा के महत्त्व को भलीभाँति जानता था। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, अलीगढ़ आन्दोलन ने भी शिक्षा को प्रोत्साहित किया। बनारस मे हिन्दू विश्वविद्यालय और अलीगढ़ में मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। देश में अनेक जगह दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक विद्यालयों और कालेजों की स्थापना हुई। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से जहाँ एक ओर काले अंग्रेजों का वर्ग बढ़ा जो कि केवल जन्म से भारतीय और सब प्रकार से अंग्रेज थे। वहीं दूसरी ओर ऐसे पढ़े-लिखे वर्ग का भी निर्माण हुआ जो कि देश की प्राचीन परम्पराओं पर गर्व करते थे। इन्हीं लोगों ने देश में राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात किया। भारत में अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली की चाहे जो भी आलोचना की जाए यह निश्चित है कि उससे देश मे राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। उससे राष्ट्रीयता, जनतन्त्रवाद और समाजवाद की लहर उत्पन्न हुई।

ब्रिटिश शासन मे कानूनी एकता

अंग्रेजों से पहले भारत में मौलिक, राजनैतिक और प्रशासनिक एकता का सर्वथा अभाव था। अंग्रेजों ने समस्त देश में राजनैतिक और प्रशासनिक द ष्टि से सामान्य व्यवस्था स्थापित की थी उन्होंने अपने राज्य में कानून के राज्य की स्थापना की। ये कानून राज्य के प्रत्येक नागरिक पर लागू किए गए और इनको लागू करने के लिए देश में एक जटिल न्याय व्यवस्था का निमार्ण हुआ राज्य द्वारा नियुक्त न्यायाधीश कानूनों की व्याख्या करते थे। और राज्य के अधिनियमों को नागरिकों पर लागू करते थे। सम्पूर्ण देश में निचली अदालतों, उच्च न्यायालयों तथा संघीय न्यायालयों तथा काउंसिल की स्थापना हुई। जिसकी अपील प्रिवी काउंसिल में की जा सकती थी। इस प्रकार कानून रीति-रिवाजों पर आधारित न होकर अधिक निश्चित बन गए। कानून का राज्य स्थापित होने से स्थानीय पंचायतों के अधिकार कम हो गए तथा न्याय-व्यवस्था में एकरूपता की स्थापना हुई। अंग्रेजों के आने के पहले के भारत में और अंग्रेजी राज्य कानूनी व्यवस्था में भारी अन्तर दिखलाई पड़ता है जबकि पूर्व ब्रिटिश कानून अधिकतर धार्मिक स्वव त्तियों पर आधारित था, ब्रिटिश कानून अधिनियम और जनतन्त्रीय मूल्यों पर आधारित था उसमें जाति वर्ग, प्रजाति वर्ग, लिंग के भेदभाव के बिना राज्य के प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार प्राप्त थे। इस प्रकार ब्रिटिश शासन काल में भारतीय इतिहास में पहली बार देश की जनता में जनतन्त्रीय आधार पर एकता स्थापित हुई।

कानूनी एकता के अतिरिक्त ब्रिटिश शासन में प्रशासनिक एकता की भी स्थापना हुई, नगरीय में जिसमें सूबे की प्रशासनिक व्यवस्था समस्त देश में एक प्रकार की थी। लगान की व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन होने से देश में भूमि सम्बन्धी कानून व्यवस्था की स्थापना हुई, जिसमें भूमि क्रय-विक्रय और रहन-सहन के सम्बन्ध में समस्त देश में एक से कानूनों का प्रसार हुआ। आर्थिक क्षेत्र में ब्रिटिश सरकार ने समस्त देश में एक से सिक्के का प्रसार किया जिसमें व्यापार और क्रय-विक्रय मे अभूतपूर्व व द्धि हुई।

नये वर्गों का उदय

अंग्रेजों के शासनकाल में नवीन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था तथा नवीन प्रशासनिक प्रणाली और नई शिक्षा के विस्तार से नए वर्गों का उदय हुआ। ये वर्ग प्राचीन भारतीय समाज में नहीं पाए जाते थे। ये अंग्रेजी शासनकाल में पूंजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न हुए। किन्तु देश के विभिन्न भागों में इन नए वर्गों का एक ही प्रकार से उदय नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि देश के विभिन्न भागों में एक ही साथ अंग्रेजी शासन की स्थापना नहीं हुई और न उनमें एक ही साथ सुधार लागू किए गए। सबसे पहले बंगाल मे अंग्रेजी शासन की स्थापना हुई और वहीं से पहले जमींदार वर्ग उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार बंगाल तथा बम्बई में सबसे पहले बड़े उद्योगों की स्थापना की गई और वहाँ पर उद्योगपतियों और श्रमिकों के वर्गों का निर्माण हुआ, अन्त में जब सम्पूर्ण देश मे अंग्रेजी शासन की स्थापना हुई तो सब जगह राष्ट्रीय स्तर पर नए सामाजिक वर्ग दिखलाई पड़ने लगे। इन नए वर्गों के निर्माण मे पूर्व ब्रिटिश सामाजिक व आर्थिक संरचना का महत्त्वपूर्ण योगदान था। उदाहरण के लिए अंग्रेजों के आने के पहले बनियों में व्यापार और उद्योग अधिक था और अंग्रेजी शासनकाल में भी इन्हीं लोगों ने सबसे पहले पूँजीपति वर्ग का निर्माण किया, हिन्दुओं की तुलना में मुस्लिम जनसंख्या मे शिक्षा का प्रसार कम होने के कारण उनमे बुद्धिजीवी, मध्यमवर्ग और बुर्जुआ वर्ग हिन्दू समुदायों की तुलना में बहुत बाद में दिखलाई दिया। इस प्रकार अंग्रेजी शासनकाल में जमींदार वर्ग, भूमि जोतने वाले, भूस्वामी वर्ग, कृषि श्रमिक, व्यापारी वर्ग, साहूकार वर्ग, पूँजीपति वर्ग, मध्यम वर्ग, छोटे व्यापारी और दुकानदार वर्ग, डाक्टर, वकील, प्रोफेसर, मैनेजर, क्लर्क, आदि व्यवसायी वर्ग और विभिन्न कारखानों और बगीचों में काम करनेवाले श्रमिक वर्ग का उदय हुआ। इनमें से अनेक वर्गों के हित परस्पर विरुद्ध थे और उन्होंने अपने-अपने हितों की रक्षा करने के लिए अनेक नवीन आन्दोलन छेड़े।

भारत में राष्ट्रवाद के उदय के कारण

भारत में राष्ट्रवादी विचारधारा का अंकुर सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से उगने लगा था किन्तु यह धीरे-धीरे विकसित होता रहा अन्त मे 1857 ई० में पूर्ण हो गया। अतः भारतीय राष्ट्रीय जाग ति का काल उन्नीसवीं शताब्दी का मध्य मानना उचित ही होगा। भारत में राष्ट्रवाद के जन्म के कारण जो राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ हुआ वह विश्व में अपने आप में एक अनूठा आन्दोलन था भारत में राजनीतिक जाग ति के साथ-साथ सामाजिक तथा धार्मिक जाग ति का भी सूत्रपात हुआ। वास्तव मे सामाजिक तथा धार्मिक जाग ति के परिणामस्वरूप राजनितिक जाग ति का उदय हुआ। डॉ० जकारिया का मत है कि "भारत का पुनर्जागरण मुख्यतः आध्यात्मिक था। इसने राष्ट्र के राजनीतिक उद्धार के आन्दोलन का रूप धारण करने से बहुत पहले अनेक धार्मिक और सामाजिक सुधारों का सूत्रपात किया।" इस रूप मे भारतीय राष्ट्रीय जाग ति यूरोपीय देशों में हुई राष्ट्रीय जाग ति से भिन्न है। भारत मे राष्ट्रवादी विचारों के उदय और विनाश के लिए निम्नलिखित कारण माने जाते हैः—

1. **समाजिक तथा धार्मिक आन्दोलनः**—भारत मे राष्ट्रीय जाग ति पैदा करने मे 19 वीं शताब्दी में हुए सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलनों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। देश की सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ दिन-प्रतिदिन बिगड़ती ही जा रही थी और धर्म के नाम पर समाज मे अन्धविश्वास और कुप्रथाएँ पैदा हो गई थी। इन आन्दोलनों ने एक और धर्म तथा समाज में व्याप्त बुराईयों को दूर करने का प्रयास किया तो दूसरी ओर भारत में राष्ट्रीयता की भाव भूमि तैयार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस प्रकार के आन्दोलनों मे ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामक ष्ण मिशन एवं थियोसोफिकल सोसायटी आदि विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं, जिसके प्रवर्तक क्रमशः राजा राम मोहन राय, स्वामी

दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, एवं श्रीमती एनी बेसेन्ट आदि थे। इन सुधारकों ने भारतीयों में आत्मविश्वास जाग त किया तथा उन्हें भारतीय संस्कृति की गौरव गरिमा का ज्ञान कराया, उन्हें अपनी संस्क ति की श्रेष्ठता के बारे में पता चला।

इन महान व्यक्तियों में राजा राम मोहन राय को भारतीय राष्ट्रीयता का अग्रदूत कहा जा सकता है। उन्होंने समाज तथा धर्म मे व्याप्त बुराईयों को दूर करने हेतु अगस्त 1828 ई० मे ब्रह्म समाज की स्थापना की। राजा राम मोहन राय ने सती प्रथा, छुआ-छूत जाति मे भेदभाव एवं मूर्ति पूजा आदि बुराईयों को दूर करने का प्रयास किया। उनके प्रयासो के कारण आधुनिक भारत का निर्माण सम्भव हो सका। इसलिए उन्हें आधुनिक भारत का निर्माता कहा जाता है। डा० आर० सी० मजुमदार ने लिखा है कि राजा राम मोहन राय को बेकन तथा मार्टिन लुकर जैसे प्रसिद्ध सुधारकों की श्रेणी में गिना जा सकता है। ए०सी० सरकार तथा के०के० दत्त का मानना है कि राजा राम मोहन राय के आधुनिक भारतवर्ष में राजनीति जाग ति एवं धर्म सुधार का आध्यात्मिक युग प्रारम्भ किया वे एक युग प्रवर्तक थे। इसलिए डा० जकारिया ने उन्हें सुधारकों का आध्यात्मिक पिता कहा है। बहुत से विद्वान उन्हें आधुनिक 'भारत का पिता' तथा 'नये युग का अग्रदूत' मानते हैं।

राजा राममोहन राय ने भारतीयों के लिए राजनीतिक अधिकारों की माँग की। 1823 ई० में प्रेस आर्डिनेन्स के द्वारा समाचार पत्रों पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। इस पर राजा राम मोहन राय ने इस आर्डिनेन्स का प्रबल विरोध किया और उसे रद्द करवाने का हर सम्भव किया इसके पश्चात् उन्होंने ज्यूरी एक्ट एक आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। डॉ० आर०सी० मजुमदार के शब्दों में "राजा राम मोहन राय" पहले भारतीय थे जिन्होंने अपने देशवासियों की कठिनाई तथा शिकायतों को ब्रिटिश सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया और भारतीयों को संगठित होकर राजनीतिक आन्दोलन चलाने का मार्ग दिखलाया उन्हें आधुनिक आन्दोलन का अग्रदूत होने का भी श्रेय दिया जा सकता है।"

राजा राममोहन राय के बाद स्वामी दयानन्द सरस्वती एक महान सुधारक हुए। जिन्होंने 1875 ई० में बम्बई में 'आर्य समाज' की नींव रखी। आर्य समाज एक साथ ही धार्मिक और राष्ट्रीय नवजागरण का आन्दोलन था इसने भारत और हिन्दू जाति को नवजीवन प्रदान किया। स्वामी दयानन्द ने न केवल हिन्दू धर्म तथा समाज मे व्याप्त बुराईयों का विरोध किया अपितु अपने देशवासियों में राष्ट्रीय चेतना का संचार भी किया। उन्होंने ईसाई धर्म कि कमियों पर प्रकाश डाला और हिन्दुत्त्व के महत्व का बखान कर भारतीयों का ध्यान अपनी सभ्यता व संस्कृति की ओर आकर्षित किया। उन्होंने वैदिक धर्म की श्रेष्ठता को फिर से स्थापित किया और यह बताया कि हमारी संस्कृति विश्व की प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण संस्कृति है। उनका मानना है कि वेद ज्ञान के भण्डार है और संसार मे सच्चा हिन्दू धर्म है, जिसके बल पर भारत विश्व में अपनी प्रतिष्ठा फिर से स्थापित कर गुरु बन सकता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में निर्भीकतापूर्वक लिखा है "विदेशी राज्य चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वदेशी राज्य की तुलना मे कभी भी अच्छा नहीं हो सकता।" एच० बी० शारदा ने लिखा है कि "राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति स्वामी दयानन्द का मुख्य उद्देश्य था। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 'स्वराज' शब्द का प्रयोग किया और अपने देशवासियों को विदेशी माल के प्रयोग के स्थान पर स्वदेशी माल स्वदेशी माल के प्रयोग की प्रेरणा दी। उन्होंने सबसे पहले हिन्दी में राष्ट्रीय भाषा स्वीकार किया।" श्रीमती एनी बेसेन्ट ने लिखा है "स्वामी दयानन्द सरस्वती पहले व्यक्ति

थे, जिन्होंने सबसे पहले यह नारा लगाया था, कि भारत भारतीयों के लिए है।"

स्वामी विवेकानन्द ने यूरोप और अमेरिका में भारतीय संस्कृति का प्रचार किया। उन्होंने अंग्रेजों को यह बता दिया कि भारतीय संस्कृति पश्चिमी संस्कृति से महान् है और वे बहुत कुछ भारतीय संस्कृति से सीख सकते हैं। इस प्रकार उन्होंने भारत में सांस्कृतिक चेतना जाग त की तथा यहाँ के लोगों को सांस्कृतिक विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भारत का स्वतन्त्र होना आवश्यक है। इस प्रकार उन्होंने भारतीयों की राजनीतिक स्वाधीनता का समर्थन किया जिससे राष्ट्रीय भावनाओं को असाधारण बल मिला। निवेदिता के अनुसार "स्वामी विवेकानन्द भारत का नाम लेकर जीते थे। वे मात भूमि के अनन्य भक्त थे और उन्होंने भारतीय युवकों को उसकी पूजा करना सिखाया।"

थियोसोफिकल सोसाइटी की नेता श्रीमती एनी बेसेन्ट ने भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। श्रीमती एनी बेसेन्ट एक विदेशी महिला थीं, जब उसके मुँह से भारतीयों ने हिन्दू धर्म की प्रशंसा सुनी तो वे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। जब उन्हें अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता का ज्ञान हुआ तो उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध स्वाधीनता की प्राप्ति हेतु आन्दोलन आरम्भ कर दिया।

सारांश यह है कि 19 वीं शताब्दी के सुधारकों ने भारतीय जनता में राष्ट्रीय जाग ति उत्पन्न की। उन्होंने ऐसा वातावरण तैयार किया जिसके कारण भारत स्वतन्त्रता के लक्ष्य को प्राप्त कर सका। ए.आर. देसाई ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि "ये आन्दोलन कम अधिक मात्रा मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक समानता के लिए संघर्ष थे और उनका चरम लक्ष्य राष्ट्रवाद था।"

2. **भारत की राजनीतिक एकताः**—1707 ई० के बाद भारत में राजनीतिक एकता का लोप हो चुका था किन्तु अंग्रेजों के समय लगभग सम्पूर्ण भारत का प्रशासन एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन आ गया था। समस्त साम्राज्य में एक जैसे कानून एवं नियम लागू किए गए। समस्त भारत पर ब्रिटिश सरकार का शासन होने से भारत एकता के सूत्र मे बँध गया। इस प्रकार देश में राजनीतिक एकता स्थापित हुई। यातायात के साधनों तथा अंग्रेजी शिक्षा ने इस एकता की नींव को और अधिक ठोस बना दिया जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन को बल मिला। इस प्रकार राजनीतिक द ष्टि से भारत का एक रूप हो गया। डॉ० के०वी० पुन्निया के शब्दों में "हिमालय से कन्याकुमारी तक सम्पूर्ण भारत एक सरकार के अधीन था और इसने जनता में राजनीतिक एकता को जन्म दिया।"

3. **ऐतिहासिक अनुसंधानः**—विदेशी विद्वानों की खोजों ने भी भारतीयों की राष्ट्रीय भावनाओं को बल प्रदान किया। सर विलियम जेम्स, मैक्समूलर, जैकोवी कोल ब्रुक, ए०वी० कीथ, बुनर्फ आदि विदेशी विद्वानों ने भारत की संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों का अध्ययन किया और उनका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। अंग्रेजों द्वारा संस्कृत साहित्य को प्रोत्साहन देने से संस्कृत भाषा का पुनरुद्धार हुआ। इसके अतिरिक्त, पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद करने के पाश्चात् यह बताया कि ये ग्रन्थ संसार की सभ्यता की अमुल्य निधियाँ हैं। पश्चिमी विद्वानों ने प्राचीन भातीय कलाक तियों की खोज करने के पश्चात् यह मत व्यक्त किया है कि भारत की सभ्यता और संस्कृति विश्व की प्राचीन और श्रेष्ठ संस्कृति है। इससे विश्व के सम्मुख प्राचीन भारतीय गौरव उपस्थित हुआ। जब भारतीयों को यह पता चला कि पश्चिम के विद्वान भारतीय संस्कृति को इतना

श्रेष्ठ बताते हैं, तो उनके मन में आत्महीनता के स्थान पर आत्मविश्वास की भावनाएँ जाग त हुई। और उन्होंने उसकी श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयत्न किया। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा स्वामी विवेकानन्द ने भी भारतीयों को उनकी संस्कृति की महानता के ज्ञान से अवगत कराया।

इन अनुसंधानों ने भारतीयों के मन में एक नया ज्ञान और उत्साह जाग त किया। इससे उनके मन मे यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि फिर हम पराधीन क्यों हैं? डा० आर०सी० मजूमदार के कथनानुसार "यह खोज भारतीयों के मन में चेतना उत्पन्न करने मे असफल नहीं हो सकती थी, जिसके परिणामस्वरूप उसके हृदय राष्ट्रीयता की भावना व देश भक्ति से भर गए।" श्री के० एम० पाणिक्कर लिखते है कि इन ऐतिहासिक अनुसंधान ने भारतीयों में आत्मविश्वास जाग त किया और उन्हें अपनी सभ्यता और संस्कृति पर गर्व करना सिखलाया। इन खोजों से अपने भविष्य के सम्बन्ध मे भारतीय आशावादी बन गए।

5. **पश्चिमी शिक्षा का प्रभावः**—भारतीय राष्ट्रीयधारा में पश्चिमी शिक्षा ने सराहनीय योगदान दिया। 1825 ई० मे लार्ड मैकाले के सुझाव पर भारत मे शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा को निश्चित किया। इसका मुख्य उद्देश्य भारत की राष्ट्रीय चेतना को जड़ से नष्ट करना था। रजनी पाम दत्त ने सही लिखा है, "भारत में ब्रिटिश शासन द्वारा पाश्चात्य शिक्षा प्रारम्भ किए जाने का उद्देश्य यह था कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति का पूर्णरूप से लोप हो जाए और एक ऐसे वर्ग का निर्माण हो जो रक्त और वर्ण से तो भारतीय हों, किन्तु रुचि विचार शब्द और बुद्धि से अंग्रेज हो जाए।" इस उद्देश्य में अंग्रेजों को काफी सीमा तक सफलता भी प्राप्त हुई, क्योकि शिक्षित भारतीय लोग अपनी संस्कृति को भुलकर पाश्चात्य संस्कृति का गुणगान करने लगे। परन्तु पाश्चात्य शिक्षा से भारत को हानि की अपेक्षा लाभ अधिक हुआ। इससे भारत में राष्ट्रीय चेतना जाग त हुई अतः द ष्टि से पाश्चात्य शिक्षा भारत के लिए एक वरदान सिद्ध हुई।

अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के कारण भारतीय विद्वानों ने पश्चिमी देशों के साहित्य का अध्ययन किया। जब उन्होंने मिल्टन, बर्क, हरबर्ट, स्पेन्सर, जॉन स्टुअर्ड मिल आदि विचारकों की कृतियों का ज्ञान प्राप्त हुआ, तो उनमे स्वतन्त्रता की भावना जाग त हुई। भारतीयों पर पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव का वर्णन करते हुए ए.आर. देसाई लिखते हैं कि "शिक्षित भारतीयों ने अमेरिका, इटली और आयरलैण्ड के स्वतन्त्रता संग्रामों के सम्बन्ध में पढ़ा। उन्होंने ऐसे लेखकों की रचनाओं का अनुशीलन किया, जिन्होंने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वाधीनता के सिद्धान्तों का प्रचार किया है। ये शिक्षित भारतीय भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के राजनीतिक और बौद्धिक नेता हो गए।" इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि राजा राम मोहन राय, दादा भाई नौरोजी, फिरोज शाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले, वोमेश चन्द्र बेनर्जी आदि नेता अंग्रेजी शिक्षा की ही देन हैं। अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारतीय नेताओं के द ष्टिकोण का विकास हुआ। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए अनेक भारतीय इग्लैण्ड गए और वहाँ के स्वतन्त्र वातावरण से बहुत प्रभावित हुए। भारत आने के पश्चात् उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया। क्योंकि वे यूरोपीय देशों की भाँति अपने देश में भी स्वतन्त्रता चाहते थे। श्री गुरमुख निहालसिंह लिखते है कि "इग्लैण्ड में रहने से उन्हें स्वतन्त्र राजनीतिक संस्थाओं की कार्यविधि का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त हो जाता था, वे स्वतन्त्रता और स्वाधीनता का मूल्य समझ जाते थे तथा उनके मन मे जमी हुई दासता की मनोव त्ति घर कर जाती थी।"

अंग्रेजी भाषा लागू होने से पूर्व भारत के विभिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोली जाती

थी। इसलिए वे एक-दूसरे के विचारों को नहीं समझ सकते थे। सम्पूर्ण भारत के लिए एक सम्पर्क भाषा की आवश्यकता थी, जिसे अंग्रेज सरकार ने अंग्रेजी भाषा लागूकर पूरा कर दिया। अब विभिन्न प्रान्तों के निवासी आपस में विचार विनियम करने लगे और इसने उन्हें राष्ट्र के लिए मिलकर कार्य करने की प्रेरणा दी। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन को बल मिला। सर हेनरी काटन के अनुसार "अंग्रेजी माध्यम से और पाश्चात्य सभ्यता के ढंग पर शिक्षा ने ही भारतीय लोगों की विभिन्नताओं के होते हुए भी एकता के सूत्र में आबद्ध करने का कार्य किया। एकता पैदा करनेवाला अन्य कोई तत्त्व सम्भव नहीं था, क्योंकि बोली का भ्रम एक अविछिन्न बाधा थी। श्री के.एम. पणिक्कर लिखते हैं, "सारे देश की शिक्षा पद्धति और शिक्षा का माध्यम एक होने से भारतीयों की मनोदशा पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनके विचारों, भावनाओं और अनुभूतियों की एक रसता होनी कठिन न रही। परिणामस्वरूप भारतीय राष्ट्रीयता की भावना दिन प्रतिदिन प्रबल होती गई।"

सारांश यह है कि पाश्चात्य शिक्षा भारत के लिए वरदान सिद्ध हुई। डॉ० जकारिया ने ठीक ही लिखा है, "अंग्रेजों ने 125 वर्ष पूर्व भारत में शिक्षा का जो कार्य आरम्भ किया था, उससे अधिक हितकर और कोई कार्य उन्होंने भारतवर्ष में नहीं किया है।" इसलिए प्रायः यह कहा जाता है कि भारतीय राष्ट्रीयता की भावना पश्चिमी शिक्षा का पोषण शिशु था।

इस प्रकार पश्चिमी शिक्षा ने भारतीय राष्ट्रीय चेतना में नवजीवन का संचार किया। लार्ड मैकाले ने 1833 ई० में कहा, "अंग्रेजी इतिहास मे वह गर्व का दिन हागा जब पाश्चात्य ज्ञान से शिक्षित भारतीय पाश्चात्य संस्थाओं की माँग करेंगे।" उसका यह स्वप्न इतनी जल्दी साकार हो जाएगा इसकी कल्पना भी उसने कभी न की थी।

6. **भारतीय समाचार पत्र तथा साहित्यः** मुनरो ने लिखा है, "एक स्वतन्त्र प्रेस और विदेशी राज एक दूसरे के विरुद्ध हैं और ये दोनों एक साथ नहीं चल सकते।" भारतीय समाचार पत्रों पर यह बात खरी उतरती है। राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति तथा विकास में भारतीय साहित्य तथा समाचार पत्रों का भी काफी हाथ था। इनके माध्यम से राष्ट्रवादी तत्त्वों को सत्त प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलता रहा। उन दिनों भारत में विभिन्न भाषाओं में समाचार पत्र प्रकाशित होते थे, जिनमें राजनीतिक अधिकारों की माँग की जाती थी। इसके अतिरिक्त उनमें ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीति की भी कड़ी आलोचना की जाती थी। उस समय प्रसिद्ध समाचार पत्रों में संवाद् कौमुद्, बाम्बे समाचार (1882), बंगदुत (1831), गस्तगुफ्तार (1851), अम तबजार पत्रिका (1868), ट्रिब्यून (1877), इण्डियन मिरर, हिन्दू, पौट्रियाट, बंगलौर, सोमप्रकाश, कामरेड, न्यु इण्डियन केसरी, आर्य दर्शन एवं बन्धवा आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। फिलिप्स के अनुसार, "1871 ई० मे देशी भाषा में बम्बई प्रेसीडेन्सी और उत्तर भारत मे 62 तथा बंगाल और दक्षिण भारत में क्रमशः 28 और 20 समाचार पत्र प्रकाशित होते थे, जिनके नियमित पाठकों की संख्या एक लाख थी।" 1877 ई० तक देश में प्रकाशित होनेवाले समाचार पत्रों की संख्या 644 तक जा पहुँची थी, जिनमें अधिकतर देशी भाषाओं के थे। इन समाचार पत्रों में ब्रिटिश सरकार की अन्याय पूर्ण नीति की कड़ी आलोचना की जाती थी, ताकि जन साधारण में ब्रिटिश शासन के प्रति घ णा एवं असन्तोष की भावना उत्पन्न हो। इससे राष्ट्रीय आन्दोलन को बल मिलता था। इन पत्रों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए ब्रिटिश सरकार ने 1878 ई० में 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' पास किया, जिसके द्वारा भारतीय समाचार पत्रों को बिल्कुल नष्ट कर दिया गया। इस एक्ट ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन की

लहर को तेज कर दिया।

भारतीय साहित्यकारों ने भी देश की भावना को जाग त करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी ने 'वन्देमातरम्' के रूप मे देशवासियों को राष्ट्रीय गान दिया। इनसे भारतीयों में देश-प्रेम की भावना जाग त हुई। मराठी साहित्य में शिवाजी का मुगलों के विरुद्ध संघर्ष विदेशी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष बताया गया। श्री हेमचन्द्र बैनर्जी ने अपने राष्ट्रीय गीतों द्वारा स्वाधीनता की भावना को प्रोत्साहन दिया। श्री बिपिन चन्द्र पाल लिखते है, "राष्ट्रीय प्रेम तथा जातीय स्वाभिमान को जाग त करने में श्री हेमचन्द्र द्वारा रचित कविताएँ अन्य कवियों की ऐसी कविताओं में कहीं अधिक प्रभावोत्पादक थी।" इसी प्रकार केशव चन्द्र सेन, रविन्द्र नाथ टैगोर, आर० सी दत्त, रानाडे, दादा भाई नौरोजी आदि ने अपने विद्वतापूर्ण साहित्य के माध्यम से भारत में राष्ट्रीय भावना को जाग त किया। इन्द्र विद्या वाचस्पति के अनुसार, "इसी समय माइकेल मधुसुदन दत्त ने बंगाल में, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी में, नर्मद ने गुजराती में, चिजलुणकर ने मराठी में, भारती ने तमिल में तथा अन्य अनेक साहित्यकारों ने विभिन्न भाषाओं में राष्ट्रीयता की भावना से परिपूर्ण उत्क ष्ट साहित्य का सज न किया। इन साहित्यिक कृतियों ने भारतवासियों के ह्रदयों में सुधार एवं जाग ति की अपूर्व उमंग उत्पन्न कर दी।"

7. **भारत का आर्थिक शोषणः**—मि० गैरेट के अनुसार, "राष्ट्रीयता में शिक्षित वर्ग का अनुराग हमेशा ही कुछ हद तक धार्मिक और कुछ हद तक आर्थिक कारणों से हुआ है।" भारतीय राष्ट्रीयता पर यह बात पूरी उतरती है। ब्रिटिश सरकार की आर्थिक शोषण की नीति ने भारतीय उद्योगों को बिल्कुल नष्ट कर दिया था। यहाँ के व्यापार पर अंग्रेजों का पूर्ण अधिकार हो गया था। भारतीय वस्तुओं पर जो बाहर जाती थी, भारी कर लगा दिया गया और भारत में आनेवाले माल पर ब्रिटिश सरकार ने आयात पर बहुत छूट दे दी। इसके अतिरिक्त अंग्रेज भारत से कच्चा माल ले जाते थे, इंग्लैण्ड से मशीनों द्वारा निर्मित माल भारत में भेजते थे, जो लघु एवं कुटीर उद्योग धन्धों के निर्मित माल से बहुत सस्ता होता था। परिणामस्वरूप भारतीय बाजार यूरोपियन माल से भर गए एवं कुटीर उद्योग धन्धों का पतन हो जाने से करोड़ों की संख्या में लोग बेरोजगार हो गए। भारत का धन विदेशों में जा रहा था अतः भारत दिन-प्रतिदिन निर्धन होता गया। इसलिए 1880 ई० में सर विलियम डिग्वी ने लिखा था कि करीब दस करोड़ मनुष्य ब्रिटिश भारत में ऐसे है, जिन्हें किसी समय भी भर पेट अन्न नही मिलता, इस अधःपतन की दूसरी मिसाल इस समय किसी और उन्नतिशील देश में कहीं पर भी दिखाई नहीं दे सकती है भारतीयों की आर्थिक दशा के बारे में आगलि के ड्यूक ने जो 1875-76 में भारत सचिव थे, लिखा है, "भारत की जनता में जितनी दरिद्रता है तथा उसके रहन-सहन का स्तर जिस तेजी से गिरता जा रहा है। इसका उदाहरण पश्चिमी जगत में कहीं नहीं मिलता है।"

उद्योगों एवं दस्तकारी के पतन के कारण इनमें कार्यरत व्यक्ति क षि की। जिससे भूमि पर दबाव बहुत अधिक बढ़ गया। परन्तु सरकार ने क षि के वैज्ञानिक ढंग की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जिसके कारण किसानों की दशा इतनी खराब हो गई कि 75% व्यक्तियों को पेटभर खाना भी नसीब नहीं होता था। अचानक फूट पड़नेवाले अकालों ने उनकी स्थिति को और अधिक दयनीय बना दिया। विलियम हण्टर ने लिखा है, "ब्रिटिश साम्राज्य में रैयत ही सबसे अधिक दयनीय है, क्योंकि उनके मालिक ही उनके प्रति अन्यायी है।" फिशर के शब्दों में "लाखों भारतीय आधा पेट भोजन पर जीवन बसर कर रहे हैं। भारतीयों के शोषण के बारे में डी०ई० वाचा ने लिखा है, "भारतीयों की आर्थिक स्थिति

ब्रिटिश शासन काल में अधिक बिगड़ी थी। चार करोड़ भारतीयों को केवल दिन में खाना खाकर सन्तुष्ट रहना पड़ता था। इसका एक मात्र कारण यह था कि इंग्लैण्ड भूखे किसानों से भी कर प्राप्त करता था तथा वहाँ पर अपना माल भेजकर लाभ कमाता था।

सारांश यह है कि अंग्रेजों के आर्थिक शोषण के विरुद्ध भारतीय जनता में असन्तोष था। वह इस शोषण से मुक्त होना चाहती थी। इसलिए भारतीयों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रियरूप से भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। गुरमुख निहाल सिंह के शब्दों मे "इस तथ्य को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि बिगड़ती आर्थिक दशा तथा सरकार की राष्ट्र विरोधी आर्थिक नीति का अंग्रेज विरोधी विचारधारा तथा राष्ट्रीय भावना को जगाने में काफी हाथ था।"

8. **जाति विभेद नीतिः**—1857 ई० के विद्रोह के बाद ब्रिटिश शासकों ने जाति विभेद की नीति अपनाई। इस नीति के अनुसार वे भारतीयों को घ णा की द ष्टि से देखने लगे। गुरुमुख निहाल सिंह के अनुसार, "विद्रोह के बाद भारत में आनेवाले अंग्रेजों के मस्तिष्क में भारतीयों के बारे में विभिन्न धारणाएँ होती थी। वे मंच के तत्कालीन दास्य चित्रों के अनुसार भारतीयों को ऐसा जन्तु समझते थे जो आधा वनमानुष और आधा नीग्रो था, जिसे केवल भय द्वारा ही समझाया जा सकता था और जिसके लिए नरनल नील तथा उसके साथियों का घ णा और आतंक का व्यवहार ही उपयुक्त था।" 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने सम्पर्क कम कर दिया। उनके निवास स्थान भारतीयों के निवास स्थान से बिल्कुल अलग थे। वे भारतीयों को काले लोग कहकर घ णा करते थे। होटल, क्लब, पार्क आदि स्थानों पर अंग्रेज भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार करते थे। इस कारण अंग्रेजों ने रंग भेद की नीति के आधार पर भारतीयों पर अनेक अत्याचार किए। गैरेट ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "यूरोपियनों की जाति विभेद नीति तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर आधारित थी।" प्रथम एक यूरोपियन का जीवन अनेक भारतीयों के बराबर है, द्वितीय, भारतीय केवल भय एवं दण्ड की भाषा को ही समझ सकते हैं एवं त तीय, युरोपीयन भारत में लोक हित के द ष्टिकोण से ही नहीं बल्कि निजी स्वार्थ सिद्धि हेतु आए थे।"

न्याय के मामले मे भी जाति विभेद को स्थान दिया जाता था एक ही अपराध के लिए भारतीयों व अंग्रेजों के लिए अलग-अलग दण्ड निर्धारित थे। अंग्रेजों ने अनेक भारतीयों की हत्याएँ कर डाली, किन्तु उन्हें कोई दण्ड नहीं दिया गया। इस सम्बन्ध में मॉरीसन ने लिखा है, "यह एक महासत्य है जिसे छिपाया नहीं जा सकता कि अंग्रेजों द्वारा भारतीयों की हत्या की जाने की घटना एक दो नहीं है। अम त बाजार पत्रिका के एक अंक (11 अगस्त 1882) में तीन घटनाओं का जिक्र है, जिनमें हत्यारों को पूरी कानूनी सजा नहीं मिली। यूरोपियनों के मुकद्मों में शहरों से ज्यूरी बुलाए जाते थे। उनमें विजेता जाति का होने का अहंकार सबसे ज्यादा है, उनकी नैतिक भावना इस बात की अनुमति नहीं देती कि एक अंग्रेज को किसी भारतीय की हत्या के अपराध में अपनी जान देनी पड़े।"

अंग्रेजों की इस जाति भेदभाव की नीति का भारतीयों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। अब उनके हृदय में ब्रिटिश शासन के प्रति विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी। इस तथ्य से राष्ट्रीयता की भावना का तीव्र गति से संचार हुआ। गैरेट ने सही लिखा है, "भारतीय राष्ट्रीयता की बढ़ोत्तरी में उपरोक्त कटुता की भावना एक बहुत बड़ा कारण थी।"

9. **सरकारी नौकरियों मे भारतीयों के साथ पक्षपातः**—1833 ई० के चार्टर अधिनियम और 1858 ई० की महारानी विक्टोरिया की घोषणा में कहा गया था कि सरकारी नौकरियों में नियुक्ति केवल योग्यता के आधार पर ही की जाएगी। भारतीय तथा यूरोपियनों के बीच किसी प्रकार का भेदभाव नहीं बरता जाएगा, लेकिन व्यवहार में इस नीति का पालन करने के स्थान पर इसे भंग ही कर दिया गया।

अंग्रेजी शिक्षा के कारण, वकील, डाक्टर और अध्यापक तथा नौकरी करनेवालों का एक वर्ग उत्पन्न हुआ। 1857 के विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार का भारतीयों पर से विश्वास समाप्त हो गया था। अतः वे पढ़े लिखे भारतीयों को सरकारी नौकरी नहीं देना चाहती थी, इसलिए उनमें असन्तोष बढा। भारतीयों को उच्च पदों विशेष तथा 'भारत नागरिक सेवा' (I.C.S.) से अलग रखने के लिए विधिवत् प्रयास किए गए। इस सेवा मे प्रवेश की आयु 21 वर्ष थी। इसकी परीक्षा इंग्लैण्ड में अंग्रेजी भाषा में होती थी। किसी भी भारतीय द्वारा ऐसी परीक्षा को पास करना अत्यन्त कठिन था। इसके बावजूद भी अगर कोई भारतीय सफल हो जाता था, तो उसे किसी-न-किसी बहाने से नौकरी में नहीं लिया जाता था। उदाहरणस्वरूप 1869 ई० में श्री सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी ने I.C.S. की परीक्षा पास कर ली परन्तु ब्रिटिश सरकार ने सेवा में प्रवेश करने के बाद भी मामूली-सी गलती पर उन्हें नौकरी से हटा दिया था। इसी प्रकार 1871 ई० मे अरविन्द घोष ने इस परीक्षा को पास कर लिया। परन्तु उनकी नियुक्ति नहीं की गई, क्योंकि वे घोड़े की सवारी में प्रवीण नहीं थे। ब्रिटिश अधिकारी भारतीयों को उच्च पदों से वंचित रखने के लिए नए-नए बहाने ढूंढ़ते थे।

सन् 1871 ई० मे I.C.S. में प्रवेश की आयु 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष कर दी गई, ताकि भारतीय इस प्रतियोगिता में भाग न ले सके। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने ब्रिटिश अन्याय का विरोध करने के लिए 1876 ई० मे 'इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना की, किसे कांग्रेस की पूर्ववर्ती संस्था कहा जा सकता है। बनर्जी ने इस कार्य का विरोध करने के लिए एवं राष्ट्रीय जनमत को जाग त करने हेतु सम्पूर्ण देश का भ्रमण किया। इससे अंग्रेज विरोधी आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला। श्री बनर्जी ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है कि "मेरे मामलों ने भारतीयों के ह्रदय मे भारी क्षोभ उत्पन्न कर दिया, उनमें यह विचार फैल गया कि यदि मै भारतीय न होता तो मुझे इतनी कठिनाइयाँ नहीं उठानी पड़ती।"

(10) **यातायात तथा संचार के साधनों का विकासः**—यातायात तथा संचार के साधनों के विकास में भी राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। ब्रिटिश सरकार ने देश में रेलों तथा सड़कों का जाल बिछा दिया। डाक, तार, टेलीफोन आदि की व्यवस्था हुई। इसके पीछे अंग्रेज सरकार का मुख्य उद्देश्य यह था कि विद्रोह को दबाने के लिए अंग्रेजी सेनाएँ शीघ्रता से भेजी जा सकेगी, एवं दूर-दूर के प्रान्तों की सूचना शीघ्र प्राप्त हो जाएगी। इस विकास से भारतीयों को काफी लाभ हुआ। अब उनके लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना सुलभ हो गया। देश के भिन्न-भिन्न भागों मे रहनेवाले लोगों के बीच दूरी कम हो गई, वे एक दूसरे के निकट आने लगे। उनका आगामी सम्पर्क बढा और द ष्टिकोण व्यापक हुआ। समाचार पत्र देश के दूर-दूर के भागों में पहुँचने लगे। राष्ट्रवादियों का मिलना तथा पत्र व्यवहार करना भी आसान हो गया। अब वे एक स्थान से दूसरे स्थान का भ्रमण कर आन्दोलन को और अधिक उग्र बनाने लगे, जिनसे जन साधारण में जाग ति आई। परिणामस्वरूप एकता की भावना अधिक प्रबल हो गई और राष्ट्रीय आन्दोलन को बल प्राप्त हो गया। गुरुमुख निहाल सिंह के शब्दों में "संचार के

इन साधनों ने सारे देश को एक कर दिया और भौगोलिक एकता एक मूर्तरूप वास्तविकता में बदल दिया।"

(11) **विदेशी आन्दोलन का प्रभावः**—डॉ० आर.सी. मजूमदार ने लिखा है कि 19 वीं शताब्दी मे यूरोप में जो स्वाधीनता संग्राम लड़े गए, उन्होंने भी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को काफी प्रभावित किया। फ्रांस की 1830 ई० एवं 1848 ई० की क्रान्ति ने भारतीयों में बलिदान की भावना जाग त की। इटली तथा यूनान की स्वाधीनता ने उनके उत्साह में असाधारण व द्वि की। आयरलैण्ड भी अंग्रेजों की पराधीनता से मुक्त होने का प्रयास कर रहा था, इससे भी भारतीय जनता काफी प्रभावित हुई। इटली, जर्मनी, रुमानिया और सर्किया के राजनीतिक आन्दोलन, इंग्लैण्ड मे सुधार कानूनों का पारित होना एवं अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम आदि ने भी भारतीयों को उत्साहित किया तथा उनमें साहस पैदा किया। परिणामस्वरूप वे स्वाधीनता प्राप्त करने के संघर्ष में जुट गए। सारांश यह है कि विदेशी आन्दोलनों ने भारतीयों मे देश भक्ति और देश प्रेम की भावना को विकसित करने मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

(12) **लार्ड लिटन की अन्याय पूर्ण नितिः**—लार्ड लिटन (1876-1880) की प्रतिक्रियावादी नीति के कारण राष्ट्रीय असन्तोष आरम्भ हुआ। परिणाामस्वरूप भारत में राष्ट्रीयता की भावना का जन्म हुआ। इस तथ्य की पुष्टि सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी के इस कथन से होती है, "कभी-कभी बुरे शासक की राजनीतिक प्रगति के विकास में सहायक सिद्ध होते हैं। लार्ड लिटन ने शिक्षित समुदाय में उस सीमा तक नए जीवन की लहर फूँक दी। जो कि कई वर्षों के आन्दोलन से सम्भव नहीं थी।" लार्ड लिटन ने भारत में निम्न अत्याचार किएः—

(i) **भारतीय लोक सेवा की आयु में कमीः**—1876 ई० में ब्रिटिश सरकार ने इण्डियन सिविल सर्विस मे सम्मिलित होने की आयु 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष कर दी, ताकि भारतीय इस परीक्षा में सम्मिलित नहीं हो सकें। इसके विरुद्ध भारतीयों में तीव्र गति से असन्तोष फैला। सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी ने 'इण्डियन एसोसिएशन' की स्थापना की, जिसने उसके विरुद्ध जोरदार आन्दोलन चलाया। अन्ततः सरकार को मजबूर होकर आयु सीमा पूर्ववत करनी पड़ी।

(ii) **दक्षिण में अकाल और शाही दरबार (1877):**—लार्ड लिटन ने जिस समय दिल्ली में एक विशाल दरबार का आयोजन किया, उस समय दक्षिण भारत में भयानक अकाल पड़ जाने से हजारों मनुष्य मौत के मुँह में जा रहे थे। किन्तु लिटन ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इसके विपरीत उसने महारानी विक्टोरिया के भारत साम्राजी की उपाधि धारण करने के उपलक्ष्य में दिल्ली में एक शानदार दरबार का आयोजन किया। इस शान-शौकत पर पानी की तरह पैसा बहाया गया। इस आयोजन में भारतीयों के असन्तोष को आग में घी का काम किया। भारत के समाचार पत्रों में इसकी कटु-आलोचना की गई। कलकत्ते के एक समाचार पत्र ने इस समारोह की आलोचना करते हुए यहाँ तक लिख दिया, "जब रोम जल रहा था नीरो अपनी बाँसुरी बजा रहा था।" सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी ने एक प्रतिनिधि की हैसियत से इस समारोह में भाग लिया था। उसी समय उसके मस्तिष्क में यह भावना जाग त हुई, "यदि एक स्वेच्छाचारी वायसराय की प्रशंसा के लिए देश के राजा तथा अमीर-उमराओं को एकत्र किया जा सकता है, तो देशवासियों को न्यायसंगत ढंग से, स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिए क्यों नहीं संगठित किया जा सकता।" इस समय भारतीय लोग अन्न के अभाव में म त्यु के ग्रास बन रहे थे और

ब्रिटिश सरकार ने भारत से 80 लाख पौण्ड गेहूँ इंग्लैण्ड को निर्यात किया। इससे अधिक भारतीयों की पीड़ा पहुँचाने के लिए और कर भी क्या सकते थे।

(iii) **अफगानिस्तान पर आक्रमण:** लॉर्ड लिटन ने साम्राज्यवादी नीति पर चलते हुए अफगानिस्तान पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में ब्रिटिश साम्राज्य को कोई फायदा नहीं हुआ। इस युद्ध में दो करोड़ स्टर्लिंग व्यय हुआ जो भारत की निर्धन जनता से वसूल किया गया। भारतीयों में लिटन की इस नीति के विरुद्ध काफी असन्तोष फैला।

(iv) **शास्त्र अधिनियम (1878):** लॉर्ड लिटन ने 1878 ई० में एक शस्त्र अधिनियम (Arms Act) पारित किया, जिसके अनुसार भारतीयों को हथियार रखने के लिए लाईसेन्स रखना पड़ता था। परन्तु अंग्रेजों के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं था। इस अधिनियम ने भारतीयों को अधिक उत्तेजित कर दिया।

(v) **वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट (1878 ई०):** लॉर्ड लिटन की अन्यायपूर्ण नीति का समाचार पत्रों ने कड़ा विरोध किया। इससे परेशान होकर उसने 1878 ई० में वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट पारित कर दिया, जिससे भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों पर कठोर नियन्त्रण स्थापित हो गया। दूसरे शब्दों में, इस अधिनियम से समाचार पत्रों की स्वाधीनता को नष्ट कर दिया गया। अब किसी भी समाचार को प्रकाशित करने से पूर्व ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति लेनी पड़ती थी। इस अधिनियम की इग्लैण्ड की संसद में भारी आलोचना हुई और भारत में भी सर्वत्र आलोचना हुई। बढ़ते हुए आन्दोलन से बाध्य होकर इस कानून को रद्द करना पड़ा।

(vi) **आर्थिक नीति -** लॉर्ड लिटन की आर्थिक नीति, असन्तोष उत्पन्न करनेवाली थी। उसने लंकाशायर के उद्योगपतियों को प्रसन्न एवं सन्तुष्ट करने के लिए विदेशी सूती कपड़े के आयात कर हटा दिया, जिससे भारतीय सूती वस्त्र उद्योग को बहुत हानि पहुँची। इससे भारत सरकार की आय के बहुत बड़े साधन का सफाया हो गया और भारत में बेरोजगारी की समस्या उठ खड़ी हुई।

लॉर्ड लिटन के इन कार्यों के परिणामस्वरूप भारतीय जनता में ब्रिटिश शासन के प्रति असन्तोष बहुत उग्र हो गया। सर विलियम बैडरबर्न ने ब्लंट से कहा था "लॉर्ड लिटन के शासनकाल के अन्त में स्थिति विद्रोह की सीमा तक पहुँच गई थी।"

(13) ईल्बर्ट बिल पर विवाद - 1880 ई० में लॉर्ड लिटन के स्थान पर लॉर्ड रिपन गवर्नर जनरल बनकर आए। उन्होंने प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक सुधार किए। इसके पश्चात् न्याय व्यवस्था में सुधार करने का निश्चय किया। इस समय न्याय के क्षेत्र में जाति विभेद विद्यमान था। भारतीय न्यायधीशों को यूरोपियन अपराधियों के अभियोग की सुनवाई का अधिकार प्राप्त नहीं था, जबकि अंग्रेज न्यायधीशों को यह अधिकार प्राप्त था। इसलिए रिपन ने अपनी कौंसिल के विधि सदस्य मि० सी०पी० इल्बर्ट को इस सम्बन्ध में एक विशेष विधेयक प्रस्तुत करने का कहा, इस पर 1883 ई० में इल्बर्ट ने एक बिल पेश किया, इसे ईलबर्ट बिल कहते हैं। इसमें भारतीय मजिस्ट्रेटों को युरोपियनों के विरुद्ध अभियोग की सुनवाई करने और दण्डित करने के अधिकार देने की व्यवस्था थी। लेकिन यह विधेयक एक भीषण विवाद का कारण बन गया।

भारत में रहनेवाले अंग्रेजों ने इल्बर्ट विधयेक को अपना जातीय अपमान समझा। परिणामस्वरूप सम्पूर्ण भारत और इंग्लैण्ड में अंग्रेजों ने संगठित होकर इसका विरोध किया तथा इसके विरुद्ध

आन्दोलन चलाया। उन्होंने कहा, "काले लोग गोरों को लम्बी-लम्बी सजाएँ देंगे तथा उनकी स्त्रियों को अपने घर में रखेंगे।" यूरोपियनों ने इस विधेयक के खिलाफ संगठित रूप से आन्दोलन चलाने के लिए 'यूरोपियन रक्षा संघ' की स्थापना की और लगभग एक लाख पचास हजार रुपये चन्दा इकट्ठा किया। विधेयक की निन्दा करने हेतु विविध स्थानों पर सभाएँ आयोजित की गई। विधेयक का विरोध चरम सीमा पर पहुंच गया। सर हेनरी वाटन ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "कलकत्ते के कुछ अंग्रेजों ने सरकारी भवन के सन्तरियों को वश में करके लॉर्ड रिपन को बाँध कर वापिस इंग्लैण्ड भेजने का षड्यन्त्र रचा और यह सब बंगाल के गवर्नर तथा पुलिस कमिश्नर की जानकारी में हुआ" अंग्रेजों के संगठित आन्दोलन के समक्ष रिपन को झुकना पड़ा और उसे इस विधेयक में संशोधन करना पड़ा। इसके अनुसार अब यह निश्चित किया गया कि भारतीय न्यायधीश तथा सेशन जज यूरोपियन अधिकारियों के मुकद्दमों पर अपना निर्णय दे सकेंगे। किन्तु ये यूरोपियन अधिकारी अपने मुकद्दमों में ज्यूरी बैठने की माँग कर सकेंगे। जिसमें कम-से-कम आधे सदस्य यूरोपियन होंगे। इस संशोधन से इस विधेयक की मूल भावना ही समाप्त हो गई।

इस घटना ने भारतीय जनता को बहुत अधिक प्रभावित किया। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के शब्दों में "कोई भी स्वाभिमानी भारतीय अब आँख मूँदकर सुस्त नहीं बैठा रह सकता था। जो ईल्बर्ट विवाद के महत्त्व को समझते थे, उनके लिए यह देश भक्ति की महान पुकार थी।" वास्तव में ईल्बर्ट बिल के विरोधी आन्दोलन ने भारत को संगठित करने के लिए प्रेरित किया। सर हेनरी काटन के शब्दों में "इस विधेयक के विरोध में किए गए यूरोपियन आन्दोलन ने भारत की राष्ट्रीय विचारधारा को जितनी एकता प्रदान की उतनी तो विधेयक पारित होकर भी नहीं कर सकता था।" यूरोपियनों के आन्दोलन से प्रभावित होकर भारतीयों ने भी राष्ट्रीय संस्था के गठन का निश्चय किया। परिणामस्वरूप कांग्रेस की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ। भारतीयों ने महसूस किया कि यदि हम भी अंग्रेजों की भाँति संगठित होकर ब्रिटिश सरकार का विरोध करे, तो हमे स्वाधीनता प्राप्त हो सकती है। इससे राष्ट्रीय आन्दोलन को बल मिला। श्री ए०सी० मजूमदार लिखते हैं, "इस आन्दोलन ने भारतीयों को यह भी अनुभव करा दिया कि यदि राजनीतिक प्रगति वांछनीय है, तो केवल एक राष्ट्रीय सभा द्वारा ही सम्भव है। इस सभा का सम्बन्ध विभिन्न प्रान्तों की स्वतन्त्र राजनीति से न होकर देश की एक व्यापक राजनीति से ही होना चाहिए।"

राष्ट्रवाद के जन्म के लिए कारणों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में इसका जन्म ब्रिटिश सरकार की नीतियों के परिणामस्वरूप हुआ। भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दो विरोधी द ष्टिकोण सामने आते हैं- विकासवादी और प्रतिक्रियावादी। लेकिन इन दोनों ही स्वरूपों ने राष्ट्रवाद के जन्म में सहायता प्रदान की। जैसा कि उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है ब्रिटिश शासन में ही भारत में राजनीतिक एकता स्थापित हुई, पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार हुआ और यातायात के साधनों का विकास हुआ। इनसे यदि एक ओर ब्रिटिश शासन को लाभ हुआ तो दूसरी ओर अप्रत्यक्षरूप से राष्ट्रवाद के जन्म में भी योगदान मिला।

ब्रिटिश शासन के विकासशील स्वरूप ने यदि राष्ट्रवाद के जन्म के लिए अप्रत्यक्षरूप से योगदान किया तो उसके प्रतिक्रियावादी स्वरूप ने इस प्रक्रिया को तेज किया। ब्रिटिश शासन द्वारा भारत का आर्थिक शोषण, भारतीयों के साथ भेद-भाव, उन्हें सरकारी नौकरियों में स्थान न मिलना, प्रेस का गला घोटना, हथियार रखने या लेकर चलने पर रोक लगाना। साम्राज्यवाद के विस्तार के लिए युद्ध लड़ना जैसे कामों ने यह स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटिश शासन भारत के हित में नहीं है। अधिकांश राष्ट्रीय नेताओं का मत था कि भारत की आर्थिक दुर्दशा का मूल कारण भारत में अंग्रेजी शासन है।

अध्याय-2
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उदय
(Geneses of Indian National Congress)

कांग्रेस की पूर्वगामी संस्थाएँ

भारत में राष्ट्रीय भावना के जागरण से उनमें राष्ट्रीय चेतना का संचार हुआ। उन्होंने राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक संगठन की आवश्यकता अनुभव की। परिणामस्वरूप थोड़े ही समय में "ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन, बाम्बे एसोसिएशन, पूना की सार्वजनिक सभा, इण्डियन लीग, इण्डियन एसोसिएशन आदि कई संस्थाएँ आस्तित्व में आईं। इन संस्थाओं ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसलिए हम इन्हें इण्डियन नेशनल कांग्रेस की अग्रगामी संस्थाओं के नाम से पुकारें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस सम्बन्ध में डॉ० आर.सी. मजूमदार लिखते हैं, "इण्डियन नेशनल कांग्रेस का उद्‌भव कोई आकस्मिक घटना न थी, न ही इसके तौर-तरीकों में कोई नयापन था। सन् 1883 और 1885 में होनेवाली नेशनल कान्फ्रेंस अपनी मौलिक रूपरेखा में काफी सीमा तक इसके अनुरूप थी।" 1885 ई० में अखिल भारतीय कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी। कांग्रेस की स्थापना तथा उसके कार्यों का अध्ययन करने से पूर्व कांग्रेस की पूर्ववर्ती संस्थाओं के बारे में जानना उपयोगी होगा।

1. **ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन** - ब्रिटिश इण्डियन एसोसिशन की स्थापना अक्टूबर 1851 ई० में कलकत्ता में की गई थी। इसके संस्थापक देश के अन्य भागों में भी इसकी शाखाएँ स्थापित करना चाहते थे, परन्तु उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली।

   इस संस्था के कर्णधार सर्व श्री राजेन्द्र लाल मित्र, राम गोपाल घोष, प्यारे चन्द्र मित्रा और हरिश्चन्द्र मुखर्जी थे, जिनके नेत त्व में यह संस्था अपना कार्य करती थी। भारतीयों के लिए राजनीतिक अधिकारों की माँग रखनेवाली यह प्रथम संस्था थी। 1852 ई० में इस एसोसिएशन ने ब्रिटिश संसद को स्म ति पत्र भेजा, जिसमें निम्नलिखित माँगें प्रस्तुत की गई - (i) विधायी परिषदों में भारतीयों को शामिल किया जाए। (ii) ब्रिटेन के साथ भारत में भी प्रतियोगिता परीक्षा की व्यवस्था की जाए। (iii) भारतीय सरकार को कुछ सीमा तक आन्तरिक स्वतन्त्रता दी जाए। ब्रिटिश संसद में इस एसोसिएशन की माँगों को 1853 ई० के चार्टर एक्ट में पूरा करने का प्रयास किया था। इस संस्था ने भारतीयों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किए।

2. **इण्डिया लीग** - बंगाल के कुछ प्रगतिशील व्यक्तियों ने 1875 ई० में 'इण्डिया लीग' की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ावा देना और इनमें राजनीतिक चेतना उत्पन्न करना था। कलकत्ता के एक अंग्रेजी दैनिक पत्र The Englishman ने इस सम्बन्ध में लिखा था कि "यह संस्था भारत में राजनीतिक चेतना

का प्रमुख चिह्न है।" लेकिन यह संस्था अधिक समय तक जीवित न रह सकी क्योंकि इसका स्थान 'इण्डियन एसोसिएशन' ने ले लिया था।

3. **इण्डियन एसोसिएशन** - इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना 26 जुलाई 1876 ई० को कलकत्ते के इल्वर्ट हाल की एक सार्वजनिक सभा में हुई। इस सभा में 700 से अधिक व्यक्तियों ने भाग लिया। इस संस्था के कर्णधार सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी थे। उन्होंने इस संगठन के निम्न उद्देश्य बताए थे-(i) देश में शक्तिशाली जनमत का निर्माण करना, (ii) जन साधारण के हितों तथा उनकी आकांक्षाओं के आधार पर बनाकर भारतीयों में एकता स्थापित करने का प्रयत्न करना, (iii) हिन्दु मुस्लिम मित्रता स्थापित करना एवं (iv) जन आन्दोलन में अधिक-से-अधिक लोगों को सम्मिलित करना।

   1876 ई० में ब्रिटिश सरकार ने नागरिक सेवा में प्रवेश हेतु आयु 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष कर दी थी। इस संघ ने सरकार की इस नीति का विरोध किया। उन्होंने भारतीयों को उनके विरुद्ध मिलकर आवाज उठाने की प्रेरणा दी। श्री बैनर्जी ने सम्पूर्ण देश का दौरा कर इस घोषणा के विरुद्ध जनमत जाग्रत किया। प्रो० हीरालाल सिंह लिखते हैं, "सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी का राजनीतिक जीवन 'इण्डियन सिविल सर्विस आन्दोलन' अधिक राजनीतिक आन्दोलन का अग्रसर बना इस एसोसिएशन ने वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट और शस्त्र अधिनियम के विरुद्ध संघर्ष किया। इस संस्था ने कांग्रेस की स्थापना की नींव रखी।

4. **बाम्बे प्रेसीडेंसी एसोसिएशन** - 19वीं सदी के आरम्भ में बाम्बे एसोसिएशन की स्थापना की गई लेकिन उसे विशेष सफलता प्राप्त न हुई। इसके पश्चात् फिरोजशाह मेहता और बदरुद्दीन तैय्यबजी इसके स्थान पर बाम्बे प्रेसीडेंसी एसोसिएशन की स्थापना की। इस संस्था के प्रस्तावों, जुलूसों तथा इसी प्रकार के अन्य साधनों द्वारा राजनीतिक जागरण की दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया।

5. **पूना सार्वजनिक सभा (1867)** - महादेव गोविन्द शनाडे ने 1867 ई० में पूना में एक सार्वजनिक सभा की स्थापना की। इस संस्था का प्रमुख कार्य महाराष्ट्र के समाज में सुधार करना एवं जनता में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करना था। इस संस्था ने 19वीं सदी के अन्त तक महाराष्ट्र के लोगों में राजनीतिक चेतना फैलाने का स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य किया।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म

लॉर्ड डफरिन के काल में 1885 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ए०ओ० ह्यूम के द्वारा की गई थी। वह एक सेवानिव त्त आई०सी०एस० अधिकारी था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के पीछे ह्यूम का उद्देश्य भारतीयों में अंग्रेजों के विरुद्ध बढ़ते असन्तोष को रोकना तथा इसकी सहायता से ब्रिटिश राज्य को सुद ढ़ तथा सुरक्षित करना था। लाला लाजपत राय ने लिखा है, "इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना का मुख्य कारण यह था कि ह्यूम ब्रिटिश साम्राज्य की इन संकटों से रक्षा करना तथा उसको छिन्न-भिन्न होने से बचाना चाहते थे।" ह्यूम ने इसी उद्देश्य से 1 मार्च 1883 को कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों के नाम एक अत्यन्त हृदयस्पर्शी पत्र लिखा। इसमें उन्होंने 50 नवयुवकों की माँग की, जो कि निःस्वार्थ स्वतन्त्रता प्रेमी और नैतिक साहस रखनेवाले हों। पत्र में ह्यूम ने लिखा है, "यदि आप लोग, देश की आशाओं के केन्द्र है, तथा उच्च शिक्षा प्राप्त किए है, अपने सुख-चैन तथा स्वार्थ को त्याग कर स्वाधीनता प्राप्त करने के काम में नहीं लग सकते .... तब कहना होगा कि उन्नति की सब आशाएँ व्यर्थ हैं, तथा भारत उसी प्रकार

के शासन के योग्य है, जो उसे मिला हुआ है।" पत्र के अन्त में ह्यूम ने लिखा था, "आपके कन्धों पर रखा हुआ जूड़ा तब तक विद्यमान रहेगा, जब तक आप ध्रुव सत्य को समझकर उसके अनुसार कार्य करने को उद्यत न होंगे, कि आत्म बलिदान तथा निःस्वार्थ कर्म ही स्थाई सुख तथा स्वतंत्रता के अचूक पथ प्रदर्शक है।"

ह्यूम ने अपनी योजना के सम्बन्ध में लॉर्ड डफरिन से भी बातचीत की। डफरिन ने ह्यूम द्वारा प्रस्तावित संगठन पर अपनी सहमति देते हुए कहा, "भारत में ऐसी कोई संस्था नहीं है, जो इंग्लैण्ड के विरोधी दल की भाँति यहाँ भी कार्य कर सके और सरकार को यह बता सके कि शासन में क्या त्रुटियाँ हैं और उनको कैसे दूर किया जा सकता है।" लॉर्ड डफरिन ने यह भी कहा था, "गवर्नर को ऐसी संस्थाओं की अध्यक्षता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि गवर्नर की उपस्थिति में लोग अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट नहीं कर सकेंगे।" ह्यूम भारत में समाज सुधर करना चाहते थे इसलिए उन्होंने कहा था कि "यह बहुत अच्छा होगा कि यदि भारत के मुख्य राजनीतिज्ञ एक स्थान पर इकट्ठे हों। सामाजिक मामलों पर विचार करें और एक-दूसरे के मित्र बनें। वह नहीं चाहता था कि ये लोग इकट्ठे होकर राजनीतिक मामलों पर बहस करे।" नये संगठन की स्थापना से पूर्व ह्यूम इंग्लैण्ड गए और वहाँ उन्होंने लॉर्ड रिपन, डलहौजी, जॉन ब्राईट और स्लेग आदि राजनीतिज्ञों से भावी संगठन के बारे में विचार-विमर्श किया। भारत लौटने से पूर्व उन्होंने इंग्लैण्ड में "भारत संसदीय समिति" का संगठन किया। इस संगठन का प्रमुख कार्य भारतीय मामलों में ब्रिटिश संसद सदस्यों की रुचि उत्पन्न करना था।

कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन

ह्यूम ने इंग्लैण्ड से वापस आने पर कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन पूना में बुलाने का निश्चय किया। यह सम्मेलन 25 से 28 दिसम्बर 1885 ई० में बुलाया गया था। परन्तु पूना में हैजा फैल जाने के कारण सम्मेलन का स्थान बदलकर बम्बई कर दिया गया। 28 दिसम्बर 1885 ई० को दिन को 12 बजे बम्बई के गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कॉलेज के विशाल भवन में कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन आरम्भ हुआ। इसमें देश के विभिन्न भागों से 72 प्रतिनिधियों ने भाग लिया जिनमें दादा भाई नौरोजी, फिरोज शाह मेहता, दिनशा इदुलजी वाचा, काशीनाथ तैलग, एन०जी० चन्दावरकर, वी० राघवाचार्य, एस. सुब्रह्मण्यम आदि प्रमुख थे। इस सम्मेलन की उध्यक्षता कलकत्ते के प्रमुख बैरिस्टर उमेशचन्द्र बैनर्जी ने की। इसमे ह्यूम तथा अन्य कई सरकारी अधिकारियों ने भाग लिया, अधिवेशन में कई प्रस्ताव पारित किए गए, अधिवेशन की समाप्ति पर ह्यूम के कहने पर कांग्रेस के सदस्यों ने 'महारानी विक्टोरिया की जय' के नारे लगाए। इस प्रकार कांग्रेस की स्थापना सरकार की शुभ कामनाओं से हुई। कुपलैण्ड ने लिखा है, "भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश राज की शिशु थी और ब्रिटिश अधिकारियों ने उसके पालने को आशीर्वाद दिया।" भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म पर टिप्पणी करते हुए डॉ० ताराचन्द ने लिखा है, "कांग्रेस का जन्म भारत के राजनीतिक इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना थी। इसने एक नवयुग के आगमन की घोषणा की। राष्ट्रीय एकता के युग की घोषणा जो ऊपर से लादी गई थी। बल्कि जनता के संकल्प की अभिव्यक्ति थी। कांग्रेस उस नए समाज की प्रवक्ता थी, जो पलासी के बाद 100 साल के दौरान हुए, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप विकसित हुआ था। यह उस प्रक्रिया की पूर्णता थी, जिससे सभी भारतीयों का व्यक्तिगत रूप से और साथ ही सामूहिक रूप से सम्बन्ध था। परन्तु 1885 ई० में यह बताना कठिन था कि कांग्रेस का क्या भविष्य होगा। इस तरह की सभी संस्थाओं की तरह इसे भी बहुत बुरे समय से यानी जनता की उदासीनता और सरकार की नाराजगी के युगों से गुजरना पड़ा। उन मंजिलों से गुजर कर ही वह ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति को चुनौती देने का एक शक्तिशाली औजार बन सकी।"

कांग्रेस के उद्देश्य

कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में सभापति उमेशचन्द्र बैनर्जी ने इस संस्था के उद्देश्य निम्न प्रकार बतलाए थे-

1. साम्राज्य के विभिन्न भागों में रहनेवाले कार्यकर्त्ताओं में - जो भारतीय हितों के लिए प्रयत्नशील है-आपसी सम्पर्क और मित्रता को प्रोत्साहन देना।
2. समस्त देशवासियों में वंश, धर्म तथा प्रान्त सम्बन्धित दूषित संस्कारों को मिटाकर राष्ट्रीय एकता की भावना को विकसित करना।
3. महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में भारत के शिक्षित लोगों में अच्छी तरह चर्चा करने के बाद प्राप्त परिपक्व सम्मतियों का संग्रह करना।
4. उस नीति को निर्धारित करना, जिसके अनुसार भारत के राजनीतिज्ञ देश हित के लिए कठोर कार्य कर सकें।

कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में कई प्रस्ताव पारित किए गए, जिनके द्वारा प्रशासनिक सुधारों की माँग की गई। प्रथम प्रस्ताव के अनुसार, भारतीय प्रशासन की जाँच के लिए एक शाही आयोग नियुक्त किए जाने की माँग की गई। दूसरे प्रस्ताव के अनुसार इंग्लैण्ड में स्थित इण्डिया कौंसिल को समाप्त करने के लिए निवेदन किया गया। तीसरे प्रस्ताव के अनुसार, परिषद् के मनोनीत सदस्यों के स्थान पर चुने गए प्रतिनिधि सम्मिलित किए जाएँ और उन्हें प्रश्न पूछने का अधिकार दिया जाए।

कांग्रेस की स्थापना के उद्देश्य सम्बन्धी विवाद

कांग्रेस की स्थापना के उद्देश्य के प्रश्न पर इतिहासकार एक मत नहीं है। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती हैं। पहली धारणा के अनुसार कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए की गई थी, जबकि दूसरी धारणा यह है कि कांग्रेस की स्थापना भारतीयों के हित के लिए राष्ट्रीय संस्था के रूप में की गई थी।

पहली धारणा के पक्ष में तर्क दिया जाता है कि कांग्रेस का जन्मदाता ए०ओ० ह्यूम एक अंग्रेज सेवानिव त्त आई०सी०एस० अधिकारी था। ह्यूम जानता था कि भारतीय जनता में ब्रिटिश शासन के विरूद्ध असन्तोष व्याप्त है। कहीं वह असन्तोष भयंकर विद्रोह का रूप धारण न कर ले, इस बात से वह चिन्तित था। ए०ओ० ह्यूम के जीवनी लेखक श्री वेडर बर्न ने लिखा है, “भारत के विभिन्न भागों से ब्रिटिश साम्राज्य के हितैषियों से ह्यूम को ब्रिटिश सरकार तथा भारत के भविष्य के लिए खतरे की चेतावनी मिल गई थी, क्योंकि जनता के कष्ट बढ़ गए थे और बुद्धिजीवी सरकार के विरुद्ध हो गए थे।“ श्री वेडरबर्न ने यहाँ तक लिखा है कि ”दक्षिण भारत के दंगे कुछ गिरोह की छिटपुट डकैतियों से आरम्भ हुए .... यहाँ तक कि बाद में डाकुओं के जत्थे इकट्ठे मिल गए और पुलिस के लिए अत्यन्त शक्तिशाली सिद्ध हुए और पूना की सारी सेना को उनके विरुद्ध लगाना पड़ा .... उनमें से एक वर्ग के नेता ने अपने आपको शिवाजी द्वितीय कहना प्रारम्भ कर दिया। उसने सरकार की शक्ति को ललकारा तथा चुनौती दी बम्बई के राज्यपाल मि० रिचर्ड टेम्पल के सिर को काटकर लाने के लिए 500 रु० का पुरस्कार घोषित किया गया और इस प्रकार राष्ट्रीय आधार पर विद्रोह करने का दावा किया जिस तरह की मूलरूप में छत्रपति शिवाजी के समय मराठा शक्ति की नींव रखी गई थी।“

एनी बेसेन्ट ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि ”ह्यूम यह पक्की तरह जानता था कि लाखों भारतीय अत्यन्त दुखी होकर भूखे मर रहे थे और इतना होने पर भी वे थोड़े से शासन वर्ग के लिए सब

प्रकार का भोग साधन और विलास की सामग्री उत्पन्न कर रहे थे। उसको पुलिस की गुप्त रिपोर्ट पढ़ने का अवसर मिला था और वह अन्दरूनी असन्तोष की कहानी को जानता था तथा उसे भूमिगत षड्यन्त्र गतिविधियों और सार्वजनिक असन्तोष की लहर का आभास था, जो कि 1877 के अकाल के पश्चात् एक बहुत बड़ा खतरा बन गया था।"

लॉर्ड लिटन के अत्याचारी शासन और इल्बर्ट बिल विवाद के कारण भारत क्रान्ति के कगार पर पहुंच चुका था। ह्यूम ने यह अनुभव किया की यदि इस राष्ट्रीयता की लहर को नहीं रोका गया तो इसके भयंकर परिणाम हो सकते हैं। अतः ह्यूम ने कहा, "जिन्होंने इस आन्दोलन (कांग्रेस की स्थापना) को प्रारम्भिक वेग (गतिशक्ति) प्रदान किया, उनके सामने कोई विकल्प नहीं रह गया था। पश्चिमी विचारों, शिक्षा आविष्कार तथा यन्त्रों से उत्पन्न हुई, उत्तेजना बहुत तेजी से अपना काम कर रही थी और यह परम महत्त्व की बात की गई उस असन्तोष तथा उत्तेजना को अन्दर ही अन्दर फैलने देने की बजाए संवैधानिक ढंग से प्रकट करने के लिए कोई मार्ग ढूँढ़ा जाए।"

इस प्रकार ह्यूम ने जनता के असन्तोष को क्रान्ति का रूप ग्रहण करने से रोकने के लिए 'सुरक्षा वाल्व' का निर्माण किया, जो कि कांग्रेस थी। ह्यूम की जीवनी लेखक सर विलियम वेडरबर्न के अनुसार ह्यूम ने एक बार कहा था, "भारत में असन्तोष की बढ़ती हुई शक्तियों से बचने के लिए एक 'सुरक्षा वाल्व' की आवश्यकता है और कांग्रेस आन्दोलन से बढ़कर 'सुरक्षा वाल्व' दूसरी कोई चीज नहीं हो सकती" लॉर्ड डफरिन भी ह्यूम की इस बात से सहमत थे।

लाला लाजपतराय और नन्दलाल चटर्जी ने भी इस मत की पुष्टि की है कि ह्यूम ने भारत में बढ़ते हुए असन्तोष को रोकने तथा ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा हेतु भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की थी। लाला लाजपत राय ने 'यंग इण्डिया' में 1916 में प्रकाशित अपने लेख में 'सुरक्षा वाल्व' की परिकल्पना पर लम्बी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था, "कांग्रेस लॉर्ड डफरिन के दिमाग की उपज है।" इसके बाद अपनी बात आगे बढ़ाते हुए उन्होंने लिखा था, "कांग्रेस की स्थापना का उद्देश्य राजनीतिक आजादी हासिल करने से कहीं ज्यादा यह था कि उस समय ब्रिटिश साम्राज्य पर आसन्न खतरों से उसे बचाया जा सके। कांग्रेस के लिए ब्रिटिश साम्राज्य के हित पहले स्थान पर थे और भारत का हित दूसरे स्थान पर। कोई यह नहीं कह सकता कि कांग्रेस अपने उस आदर्श (अंग्रेजी राज्य के प्रति निष्ठा) के प्रति ईमानदार नहीं रही है।" लेख के उपसंहार में उन्होंने कहा था, "इसलिए यह है कांग्रेस की उत्पत्ति-ग्रन्थि और प्रगतिशील राष्ट्रवादियों द ष्टि में इसको निर्दोष ठहराने के लिए इतना काफी है।" कुछ समय पश्चात् ह्यूम ने स्वयं कहा था, "हमारे कार्यों के परिणामस्वरूप उत्पन्न असन्तोष की बढ़ती हुई शक्तियों से बचाव के लिए सुरक्षा साधन की आवश्यकता थी, जिसकी रचना हमने इण्डियन नेशनल कांग्रेस के रूप में की। इस अधिक प्रभावशाली सुरक्षा का आयोजन असम्भव था।" ह्यूम के जीवनी लेखक मि० बेडरबर्न ने लिखा है कि "ह्यूम साहब की यह योजना क्रान्ति का भय दूर करने तथा भारतीयों में उमड़ती राष्ट्रीयता की भावना को रोकने के उद्देश्य से बनाई गई थी।"

डॉ० नन्दलाल चटर्जी के अनुसार "मि० ह्यूम ने कांग्रेस की स्थापना का विचार उस समय देश के सम्मुख प्रस्तुत किया, जबकि भारत पर रूसी आक्रमण का विशेष भय था। अतः यह स्पष्ट है कि उनका उद्देश्य भारतीय आन्दोलन को ठीक दिशा में परिवर्तित कर देना तथा उस देश में रूसियों के हथकण्डे तथा शरारतें रोक देना था। जब रूस के आक्रमण का भय समाप्त हो गया, तो भारत सरकार का व्यवहार कांग्रेस के प्रति एक दम बदल गया।" रजनी पामदत्त ने भी अपनी पुस्तक 'इण्डिया टुडे' में लिखा है, "कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश सरकार की एक पूर्व निश्चित गुप्त योजना के अनुसार की गई।"

यह स्पष्ट है कि कांग्रेस ने ब्रिटिश अधिकारियों की आशाओं को पूर्ण किया। अब शिक्षित भारतीयों का असन्तोष इसके माध्यम से वैधानिक रूप से व्यक्त होने लगा। इस प्रकार कांग्रेस राष्ट्रीय असन्तोष को व्यक्त करने का शान्तिमय साधन बन गई। सन् 1889 ई० की कांग्रेस की रिपोर्ट में कहा गया था, "कांग्रेस आन्दोलन की यह महत्ता है कि उसने भारत में फैली हुई छोटी-छोटी क्रान्तिकारी संस्थाओं को दबा दिया और राजनीतिक असन्तोष को वैधानिक उपायों द्वारा व्यक्त करने का साधन उपस्थित किया।"

कांग्रेस की स्थापना के सम्बन्ध में दूसरा मत यह है कि कांग्रेस की स्थापना भारतीयों के हित के लिए राष्ट्रीय संस्था के रूप में की गई थी। ह्यूम के अतिरिक्त भारतीय नेताओं ने भी कांग्रेस ने भी कांग्रेस की स्थापना में सहयोग दिया था। एनी बेसेण्ट लिखती है, "राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म मात भूमि की रक्षा के हित प्रमुख भारतीयों तथा ह्यूम के द्वारा हुआ था।" इस सम्बन्ध में श्री गुरुमुख निहाल सिंह ने लिखा है, "यह सम्भव है कि ब्रिटिश साम्राज्य को बचाने तथा कांग्रेस का प्रयोग एक सुरक्षा वाल्व की तरह करने का विचार ह्यूम तथा वेडरबर्न के ह्रदयों में हो, किन्तु इस बात पर विश्वास करना असम्भव है कि दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, फिरोजशाह मेहता और रानाडे जैसे भारतीय नेता उनके हाथों में साधन मात्र थे, या वे ब्रिटिश साम्राज्य को क्रान्ति के खतरे से बचाने का विचार रखते थे।" प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना भारतीयों के हित की द ष्टि से की गई थी।"

इसके अतिरिक्त ह्यूम एक उदारवादी और स्वतन्त्रता प्रेमी व्यक्ति थे वे अंग्रेजों की शोषण नीति और अमानवीय व्यवहार से दुःखी थे। उनका ह्रदय भारत की निर्धनता और दुर्दशा पर रोता था। उन्होंने अपने जीवन का काफी बड़ा भाग भारतीय जनता के कल्याण में ही लगाया था। वे ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत को ऊँचा उठाना चाहते थे। स्वयं लाला लाजपत राय ने ह्यूम के उच्च आदर्श को स्वीकारते हुए अपनी पुस्तक 'यंग इण्डिया' में लिखा है, "ह्यूम स्वतन्त्रता के पुजारी थे और उनका ह्रदय भारत की निर्धनता तथा दुर्दशा पर रोता था।" वे इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि कोई भी शासन चाहे देशी हो या विदेशी, बिना किसी दबाव के जनता की माँगों को पूरा नहीं करता। इसलिए वे यह चाहते थे कि भारतीयों के द्वारा स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न किए जाने चाहिए। इस दिशा में प्रथम समान संगठित होना था, इसलिए उनके द्वारा संगठन का परामर्श दिया गया। अतः यह कहना पूर्ण रूप से सत्य नहीं है कि ह्यूम ने 'पूर्व निश्चित गुप्त योजना' या ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा के लिए ही कांग्रेस की स्थापना की थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों के नाम लिखे गए पत्र में उन्होंने भारतीयों को देश हित के लिए अपने कन्धे पर रखे हुए जुड़े को उतारने का स्पष्ट आह्वान किया था। ह्यूम ब्रिटिश शासन के विरूद्ध भारतीयों को वैधानिक रूप से संगठित करना चाहते थे। इसका प्रमाण यह है कि 1888 ई० के कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने भारतीयों को ब्रिटिश शासन के विरूद्ध आन्दोलन करने के लिए उद्बोधित करते हुए कहा था कि "हमारे शिक्षित भारतीयों ने प थक्-प थक् रूप से तथा हमारे अखबारों ने व्यापक रूप से हमारी राष्ट्रीय महासभा के समस्त प्रतिनिधियों ने एक स्वर से सरकार को समझाने की चेष्टा की है। किन्तु सरकार ने जैसा कि प्रत्येक स्वेच्छाचारी का रवैया होता है, समझने से इन्कार कर दिया है। अब हमारा काम यह है कि देश में अलख जगाए, ताकि हर भारतीय जिसने भारत माता की छाती का दूध पिया है, हमारा साथी, सहयोगी तथा सहायक बन जाए और यदि आवश्यकता पड़े तो कामाडेन्ट और उसके बहादुर साथियों की तरह आजादी न्याय तथा अपने अधिकारों के लिए जो एक महासंग्राम हम छेड़ने जा रहे हैं उसका सैनिक बन जाए।"

कांग्रेस की स्थापना के उद्देश्य के सम्बन्ध में डॉ० जकारिया के ये शब्द अधिक निर्णयात्मक प्रतीत होते है, "भारतीय और ब्रिटिश समर्थकों के सयुक्त प्रयत्नों के परिणामस्वरूप इस महान राष्ट्रीय

संस्था का जन्म हुआ। इस कार्य में उन्हें प्रमुख प्रेरणा सकीर्ण राष्ट्रीय भावों से नहीं, अपितु सत्य और न्याय के उदात्त विचारों, के प्रति सच्ची लगन और भक्ति से मिली, जिनके समर्थकों को वे अपने देश के लिए गौरव की बात मानते थे और जो पिछली शताब्दी के दोनों देशों के पारस्परिक सहयोग से किए गए कार्यों का सुखद परिणाम थी।"

कांग्रेस की स्थापना के उद्देश्य के सम्बन्ध में ऊपर दिए गये दोनों मत आँशिक रूप से सत्य हैं। वस्तुतः कांग्रेस की स्थापना भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए की गई थी। किन्तु उसके साथ ही कांग्रेस की स्थापना के मूल में भारतीयों के हित का विचार और भारतीयता की भावना विधमान थी। भारतीय राजनीति में उस समय दो प्रकार की विचारधाराओं में विश्वास करनेवाले लोग थे। पहले मत के लोग हिस्सों के माध्यम से ब्रिटिश शासन को समाप्त करना चाहते थे। दूसरे मत के लोग ब्रिटिश राज्य का अन्त धीरे-धीरे करना चाहते थे। वे भारतीय प्रशासन में भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व चाहते थे, ताकि स्वशासन प्राप्त कर सकें। मि० ह्यूम तथा उनके अन्य सहयोगी भारतीय राजनीति की दूसरी विचारधारा से सम्बद्ध थे। कांग्रेस की स्थापना इसलिए की गई थी, ताकि देश वैधानिक प्रगति के मार्ग पर बढ़ सके।

कांग्रेस के लक्ष्य

प्रो० बिपिन चन्द्र ने अपनी पुस्तक 'भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष' में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कांग्रेस की स्थापना 1885 ई० के पहले के कुछ वर्षों से देश में चल रहे राजनीतिक कार्य-कलापों और गतिविधियों की स्वाभाविक परिणति थी। उस समय तक देश की राजनीतिक परिणति ऐसी बन गई थी कि यह जरूरी हो गया था कि कुछ बुनियादी काम और लक्ष्य तय किए जाए और उनके लिए संघर्ष शुरू किया जाए। इन लक्ष्यों को हासिल करने के लिए यह जरूरी था कि देश के राजनीतिक कार्यकर्त्ता एक मंच पर आएँ। अखिल भारतीय आधार पर गठित कोई एक संगठन ही ऐसा मंच प्रदान कर सकता था। ये सभी लक्ष्य एक दूसरे से जुड़े थे और एक-दूसरे पर आधारित थे और उन्हें तभी हासिल किया जा सकता था जब राष्ट्रीय स्तर पर कोई कोशिश शुरू की जाती। 28 दिसम्बर 1885 ई० को बम्बई में हुए सम्मेलन में जिन लोगों ने हिस्सा लिया था, उनके लिए ये बुनियादी लक्ष्य ही सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण थे और वे यह आशा लेकर ही वहाँ आए थे कि इन लक्ष्यों को हाासिल करने की प्रक्रिया की शुरुआत बम्बई से हो सकेगी। कांग्रेस की सफलता और विफलता और बाद के वर्षों में उसके चरित्र का निर्धारण बजाए इसके कि उसकी स्थापना किन लोगों ने की बल्कि इससे किया जाना चाहिए कि अपनी स्थापना के बाद के वर्षों में कांग्रेस के लक्ष्य क्या रहे और इन लक्ष्यों को हासिल करने में यह कहाँ तक सफल रही। प्रो० विपिन चन्द्र के अनुसार ये लक्ष्य इस प्रकार थे-

1. **राष्ट्र का निर्माण** - उस समय भारत ने राष्ट्र बनने की प्रक्रिया के रास्ते पर कदम बढ़ाया ही था। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रणेताओं के सामने पहला लक्ष्य यही था कि भारतीयों को एक राष्ट्र के रूप में जोड़ने और भारतीय जनता के रूप में उसकी पहचान बनाने की यह प्रक्रिया आगे बढ़ाई जाए। उपनिवेशवादी प्रशासक और उनके अनुयायी तब अक्सर यह कहा करते थे कि भारत एक नहीं हो सकता या आजाद नहीं हो सकता क्योंकि यह एक राष्ट्र नहीं है, बल्कि यह महज एक भौगोलिक शब्दावली है और सैकड़ों अलग-अलग धर्मों व जातियों के लोगों का समूह है। भारतीयों ने इसका खण्डन नहीं किया, बल्कि यह कहा कि वे एक राष्ट्र बनाने की दिशा में अग्रसर हैं। तिलक, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा कई अन्य लोग अक्सर यह कहा करते थे कि भारत एक "बनता हुआ राष्ट्र" है। कांग्रेस के नेताओं को इसका अहसास था कि देश की आर्थिक, राजनीतिक,

सामाजिक परिस्थितियाँ देश के लोगों को एक दूसरे के करीब ला रही है, लेकिन वे यह भी जानते थे कि लोगों को इस प्रक्रिया के बारे में जागरूक करना होगा और उनमें राजनीतिक चेतना पैदा करनी पड़ेगी तभी भारतीय राष्ट्र का लक्ष्य पाया जा सकेगा और इसलिए यह जरूरी था कि लोगों में राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रवाद की भावना को बढ़ावा दिया जाए।

भारत का राष्ट्र बनना एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया थी। इसका अन्दाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि 1885 में कांग्रेस की स्थापना के बीस साल बाद 1905 ई० में भी गोपाल कृष्ण गोखले ने इस बात पर फिर जोर दिया, "जहाँ तक हो सके, हमें ज्यादा-से-ज्यादा लोगों में राष्ट्रीय चेतना पैदा करनी चाहिए और इसे बढ़ाना चाहिए ताकि धर्म, जाति और वर्ग की विभिन्नताओं को परे रखकर वे एक जुट हो सकें।" कांग्रेस के नेताओं को इस बात का भी अहसास था कि भारत में जिस तरह की विभिन्नताएँ हैं, वैसी स्थिति दुनिया में कहीं नहीं है इसलिए उन्हें एक अलग किस्म की कोशिश करनी होगी और बड़ी सावधानी के साथ राष्ट्रीय एकता को पोषित करना होगा। सभी क्षेत्रों में राष्ट्रीय भावना को पहुँचाने के उद्देश्य से यह तय किया गया कि कांग्रेस के अधिवेशन बारी-बारी से देश के विभिन्न हिस्सों में आयोजित किए जाएँ और अध्यक्ष उस क्षेत्र का हो, जहाँ अधिवेशन हो रहा है।

सभी धर्मों के लोगों के बीच पहुँचने और अल्पसंख्यकों के मन में छाए डर को दूर करने के लिए 1888 में अधिवेशन में यह तय किया गया कि अगर किसी प्रस्ताव पर हिन्दू या मुस्लिम प्रतिनिधियों के बहुत बड़े हिस्से को आपत्ति हो, तो वह प्रस्ताव पारित नहीं होगा। 1899 ई० में अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित एक प्रस्ताव पारित किया गया। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि जहाँ-जहाँ पारसी, ईसाई, मुसलमान या हिन्दू अल्पसंख्यक हों वहाँ काउंसिल में उनको निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या, आबादी में उनके अनुपात से कम नहीं होनी चाहिए। इस प्रस्ताव की आवश्यकता का कारण यह बताया गया कि भारत अभी तक एक समरूप राष्ट्र नहीं था और इसलिए यहाँ के राजनीतिक ढंग यूरोप जैसे नहीं हो सकते थे। शुरुआती दौर में राष्ट्रीय नेता एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र का निर्माण करने पर द ढ़ प्रतिज्ञ थे और कांग्रेस स्वयं एक धर्म-निरपेक्ष संस्था थी।

2. **राष्ट्रीय कार्यक्रम** - शुरुआती दौर में कांग्रेस का दूसरा महत्त्वपूर्ण लक्ष्य यह था कि ऐसा राजनीतिक मंच या राष्ट्रीय कार्यक्रम बनाया जाए जिसके तहत देश के विभिन्न भागों में काम कर रहे राजनीतिक कार्यकर्त्ता इकट्ठे होकर अखिल भारतीय स्तर पर अपनी राजनीतिक गतिविधियाँ चला सकें और लोगों को शिक्षित व संगठित कर सकें। इसके लिए उन अधिकारों की लड़ाई और उन समस्याओं को हाथ में लेना जरूरी था जो सभी भारतीय की अपनी लड़ाई और उसकी अपनी समस्या थी।

   इसी कारण कांग्रेस ने सामाजिक सुधार का सवाल नहीं उठाया। इसके दूसरे ही अधिवेशन में कांग्रेसाध्यक्ष दादाभाई नौरोजी ने कहा था, "राष्ट्रीय कांग्रेस को अपने आपको सिर्फ उन सवालों तक ही सीमित रखना चाहिए जो सवाल पूरे राष्ट्र से जुड़े हों और जिन सवालों पर सीधी भागीदारी की गुंजाइश हो।" इसलिए सामाजिक सुधारों पर चर्चा करने के लिए कांग्रेस उचित मंच नहीं थी। दादाभाई नौरोजी ने इसे स्पष्ट किया था, "हम यहाँ एक राजनीतिक संगठन के रूप में इकट्ठे हुए हैं, ताकि हम अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं से अपने शासकों को अवगत करा सकें।"

आधुनिक राजनीति यानि सामूहिक भागीदारी की राजनीति, आन्दोलन, लामबन्दी, भारत के लिए नई चीजें थी। यह धारणा की राजनीति कुछ लोगों की बपौती नहीं, बल्कि सबके अधिकार क्षेत्र की चीज है, भारतीय जनता के दिमाग में अभी तक बनी नहीं थी। जब तक जनता को यह सब कुछ मालूम न पड़ जाए तब तक आधुनिक राजनीतिक आन्दोलन चलाना नामुमकिन है और जब जनता में प्रारम्भिक राजनीति चेतना आती है, तो इसके बाद उसमें एक निश्चित द ढ़ राजनीतिक विचारधारा उत्पन्न की जा सकती है।

कांग्रेसी नेताओं के सामने सबसे बड़ा और पहला काम जनता को राजनीतिक रूप से शिक्षित करना, प्रशिक्षित करना, संगठित करना और जनमत तैयार करना, पूर्ववर्ती राष्ट्रवादियों के शुरू के प्रयास इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए थे।"

राजनीतिक चेतना जगाने और जनमत तैयार करने का काम सबसे पहले शिक्षित वर्ग से शुरू किया गया, इसके बाद बाकी वर्गों में। इसका तात्कालिक उद्देश्य, जनता को लगातार राजनीतिक गतिविधियों में शरीक करना था। वे जनता की तत्कालिक कठिनाईयों को दूर करने के लिए किसी संघर्ष में फँसना नहीं चाहते थे। अपने समय की सबसे सशक्त सत्ता के खिलाफ एक संगठित राजनीतिक विरोध को जन्म देने के लिए अपने अन्दर आत्म-विश्वास और द ढ़ता पैदा करनी थी।

3. **सशक्त नेत त्व की तलाश** - राष्ट्रीय आन्दोलन चलाने के लिए पहली जरूरत थी एक सशक्त राष्ट्रीय राजनीतिक की। इटली के सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी चिन्तक अंतोनियो ग्रामशी ने इसे "आन्दोलन के मुख्यालय" की संज्ञा दी है। लेकिन किसी भी देश में कोई राजनीतिक आन्दोलन तभी सफल हो सकता है, जब वहां की जनता संगठित हो, पूरा देश एक हो। राष्ट्रवादी आन्दोलन का प्रथम चरण तब शुरू होता है, जब राष्ट्रीय भावनाओं और राष्ट्रीय अस्मिता के कारण जनता को संगठित करने का काम शुरू करते हैं।

लेकिन इसके लिए जरूरी है कि पहले राष्ट्रीय भावनाओं के वाहक भावी नेता खुद एक मंच पर आए, एकबद्धता हो एक दूसरे को अच्छी तरह समझे, सर्वमान्य द ष्टिकोण अपनाएँ और एक निश्चित लक्ष्य के लिए निश्चित कार्यक्रम तय करें। 1885 में कांग्रेस सम्मेलन से पहले मार्च महीने में सम्मेलन में भाग लेनेवाले राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की सूचना के लिए जो पर्चा जारी किया गया था, उसमें लिखा था, "कांग्रेस की स्थापना का लक्ष्य यह है कि राष्ट्रीय उत्थान में लगे तमाम उत्साही कार्यकर्त्ता एक दूसरे को अच्छी तरह जान लें।"

कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष वोमेशचन्द्र बैनर्जी ने यही बात फिर दोहराई। उन्होंने कहा, "कांग्रेस का उद्देश्य, भाईचारे के माध्यम से भारतीय जनता के बीच सभी जाति, वर्ण व क्षेत्रीय पूर्वाग्रहों को समाप्त करना और देश के लिए काम करनेवालों के बीच भाईचारे और दोस्ती को मजबूत बनाना है।" दूसरे शब्दों में, कांग्रेस के संस्थापक समझ गये थे कि राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू करने के लिए राष्ट्रीय नेत त्व को जन्म देने की जरूरत है। राष्ट्रीय नेत त्व और आन्दोलन की सामाजिक विचारधारा का सवाल उस समय गोण था।

शुरू में राष्ट्रीय नेताओं का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक लोकतन्त्र का अन्तर्राष्ट्रीयकरण व स्वदेशीकरण था। यह 'जनता की प्रभुसत्ता' पर आधारित था। दादाभाई नौरोजी ने इसी सिद्धान्त को इन शब्दों में कहा "राजा जनता के लिए बने हैं, जनता राजा के लिए नहीं।"

कांग्रेस का गठन संसद की तरह हुआ था। वास्तव में कांग्रेस शब्द उत्तरी अमेरिका के इतिहास से लिया गया शब्द है जिसका अर्थ है 'लोगों का समूह', कांग्रेस सत्र की कार्यवाही बड़े ही लोकतांत्रिक ढंग से चली। मुद्दों पर निर्णय से पहले पूरी बहस होती और कमी जरूरत पड़ती तो वोट भी डाले जाते। इस तरह यह कांग्रेस ही थी, जिसने लोकतंत्र को लोकप्रिय बनाया और स्वदेशीकरण की प्रक्रिया की नींव डाली। कुछ लेखक गलत तर्क देते है कि यह काम एकाधिकारवादी, उपनिवेशवादी अंग्रेजी हुकूमत ने किया।

उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवादी विचारधारा का निर्माण

उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष के लिए यह जरूरी था कि पहले तो उपनिवेशवाद को ठीक तरह से समझा जाए और फिर इस समझ के आधार पर एक राष्ट्रवादी विचारधारा विकसित की जाए। शुरुआती दौर में राष्ट्रवादी नेता इस मामले में छात्र भी थे और शिक्षक भी। 1870 और 1880 के दशकों में उपनिवेशवाद विरोधी कोई बनी बनाई विचारधारा पहले से मौजूद नहीं थी। अपने अनुभवों और अपने समय के यथार्थ। को ठीक-ठीक परखते हुए इन नेताओं को खुद ही ऐसी एक विचारधारा विकसित करनी थी।

जाहिर है कि किसी वैचारिक संघर्ष के बिना कोई राष्ट्रीय संघर्ष छेड़ा ही नहीं जा सकता था। इन नेताओं को लोगों को यह समझाना था कि हम एक राष्ट्र है और उपनिवेशवाद हमारा दुश्मन और इसी दुश्मन के खिलाफ हमारा संघर्ष है। उन्हें बहुत से सवालों के जवाब तलासने थे। मिसाल के तौर पर कुछ सवाल ये थे कि क्या ब्रिटेन भारत के हित के लिए भारत पर शासन कर रहा है? क्या शासकों और शासितों के हित एक दूसरे से मेल खाते है या इन दोनों के हितों में एक बुनियादी अंतर्विरोध है? फिर क्या भारतीय जनता के यह अंतर्विरोध भारत में सरकार चला रहे ब्रिटिश अफरशाहों के साथ है। ब्रिटानी सरकार के साथ है या उपनिवेशवादी तन्त्र के साथ? क्या भारतीय जनता का लड़ाई विशाल ब्रिटिश साम्राज्य के मुकाबले टिक सकेगी? और यह लड़ाई कैसे चलाई जाएगी?

इन और इन जैसे ही दूसरे कई सवालों के जवाब तलाशने के दौर में कई गलतियाँ भी हुई। जैसे कि उस दौर के राष्ट्रवादी नेता कम-से-कम बीसवीं सदी की शुरुआत तक तो उपनिवेशवादी राज्य का स्वरूप ही समझने में विफल रहे। लेकिन तब इस तरह की कुछ गलतियों को किसी तरह टाला भी नहीं जा सकता था।

यह ठीक है कि उस समय भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ कोई जन-आन्दोलन नहीं चलाया। लेकिन उन्होंने उसके खिलाफ वैचारिक संघर्ष जरूर शुरू किया और चलाया। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि राष्ट्रवादी या साम्राज्यवाद विरोधी कोई संघर्ष उपनिवेशवाद -विरोधी कोई आयाम ग्रहण करने से पहले उपनिवेशवाद के बारे में संघर्ष होता है और कांग्रेस के संस्थापक नेताओं के उपनिवेशवाद के बारे में यह संघर्ष वाकई बहुत अक्लमंदी से चलाया।

शुरू से कांग्रेस ने अपने आपको एक पारी के रूप में नहीं, बल्कि एक आन्दोलन के रूप में लिया। केवल उन बुनियादों और व्यापक लक्ष्यों पर सहमति के अलावा कांग्रेस में शामिल होने के लिए किसी और विशेष प्रकार की राजनीतिक या सैद्धांतिक प्रतिबद्धता जरूरी नहीं थी। एक आन्दोलन के रूप में उसने लोकतन्त्र और धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रवाद के प्रतिबद्ध अपने समय की सभी राजनीतिक प्रव त्तियों, विचारधाराओं और सामाजिक वर्गों व समूहों के साथ अपने को जोड़कर रखा।

सारांश यह है कि उस दौर के राष्ट्रवादी नेताओं के बुनियादी लक्ष्य ये थे कि सबसे पहले एक धर्मनिरपेक्ष और लोकतान्त्रिक राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव रखी जाए, जनता में राजनीतिक चेतना

पैदा की जाए और उपनिवेशवाद के खिलाफ एक राष्ट्रवादी विचारधारा का विकास किया जाए और उसका प्रचार किया जाए।

कांग्रेस का स्वरूप

कांग्रेस आरम्भ से ही एक राष्ट्रीय संस्था थी। इसके द्वारा सभी जातियों तथा वर्गों के लिए खुले थे। इसकी प्रगति तथा विकास में देश की लगभग सभी प्रमुख जातियों के प्रतिनिधियों का हाथ था। इसके प्रथम अध्यक्ष उमेश चन्द्र बैनर्जी भारतीय ईसाई थे। दूसरे दादाभाई नौरोजी पारसी थे। तीसरे अध्यक्ष बदरूद्दीन तैय्यबजी थे जो जाति से मुसलमान थे। चौथे व पाँचवें अध्यक्ष जॉर्ज यूला तथा सर विलियम वेडरबर्न अंग्रेज थे। इस संस्था का जन्मदाता ह्यूम एक अंग्रेज अधिकारी था। प्रो० हीरालाल सिंह लिखते है, ”कांग्रेस के कार्यक्रम में एक भी ऐसी बात न थी जिसके विरुद्ध कोई उँगली उठा सकता।“ कांग्रेस के राष्ट्रीय स्वरूप की चर्चा करते हुए महात्मा गांधी ने द्वितीय गोलमेज कान्फ्रेंस में कहा था, ”कांग्रेस सच्चे अर्थों मे राष्ट्रीय है। यह किसी विशेष जाति वर्ग या हित की प्रतिनिधि नहीं है। यह समस्त भारतीय हितों और सब वर्गों की प्रतिनिधि होने का दावा करती है। मेरे लिए यह सबसे अधिक प्रसन्नता की बात है उसकी उपज आरम्भ में एक अंग्रेज के मस्तिष्क में हुई। ए०ओ० ह्यूम को कांग्रेस के पिता के रूप में हम जानते है। दो महान पारसियों दादाभाई नौरोजी और फिरोजशाह मेहता ने इसका पोषण किया। प्रारम्भ में ही कांग्रेस में मुसलमान, ईसाई, एग्लो इण्डियन आदि शामिल थे बल्कि मुझे यह कहना चाहिए कि इसमें सब धर्मों, सम्प्रदायों और हितों का पूर्णता के साथ प्रतिनिधित्व होता था।“

कुछ इतिहासकार कांग्रेस को एक राष्ट्रीय संस्था इसलिए भी नहीं मानते कि इसके अधिकांश सदस्य और पदाधिकारी हिन्दू थे। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत की अधिकांश जनता हिन्दू है। कांग्रेस में मुसलमानों की संख्या इसलिए कम रही कि सैयद अहमद खाँ और कई अन्य मुसलमान नेता अपने सहधर्मियों को कांग्रेस के बाहर रखने का पूरा प्रयत्न कर रहे थे। लेकिन कांग्रेस ने सदैव मुसलमानों सहित सभी वर्गों के हितों की रक्षा का पूरा प्रयास किया। उसकी गतिविधियों और कार्यों से इस बात की पुष्टि होती है कि वह सदैव एक राष्ट्रीय संगठन के रूप में कार्य करती रही।

अध्याय-3
उदारवादी और उनकी कार्यविधि
(Moderates and their Programmes)

1885 ई० में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई, जोकि एक राष्ट्रीय संस्था थी। इस सम्बन्ध में पं० मदनमोहन मालवीय ने कहा था, "भारत ने अपनी आवाज इस महान संस्था में पाई।" कांग्रेस की स्थापना के समय उदारवादी राष्ट्रीय नेताओ ने इसकी बागडोर अपने हाथ में ले ली। आरम्भिक 20 वर्षों तक कांग्रेस की नीति अत्यन्त उदार रही। इसलिए इस युग को इतिहास में उदारवादी राष्ट्रीयता का युग (1885-1905 ई०) के नाम से पुकारा जाता है। इस युद्ध में उदारवादी नेता इण्डियन नेशनल कांग्रेस द्वारा संचालित राष्ट्रीय आन्दोलन का नेत त्व कर रहे थे। उनका मानना था कि संवैधानिक तरीकों से भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है। वे अंगेजों की न्यायप्रियता में विश्वास करते थे। ब्रिटिश सरकार भी इन्हें भारत के प्रभावशाली नेता मानती थी। उदारवादी नेताओं में दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे, फिरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले, पं० मदन मोहन मालवीय एवं उमेश चन्द्र बैनर्जी आदि प्रमुख थे।

उदारवादी नेताओं पर ब्रिटिश विचारधारा, साहित्य एवं सभ्यता का बहुत अधिक प्रभाव था। वे इंग्लैण्ड की संस्थाओं के प्रशासक थे और अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास रखते थे। उनका यह मानना था कि ब्रिटिश शासन भारतवर्ष के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ है। उसने भारत में शिक्षा एंव संचार के साधनों को विकसित किया है। न्याय व्यवस्था को कुशल बनाया है। वे ब्रिटिश शासन को भारत के लिए वरदान मानते थे। इस प्रकार वे अंग्रेज सरकार के अन्धे भक्त थे उनका विश्वास था कि यदि वे प्रार्थना पत्रों के माध्यम से ब्रिटिश सरकार के समक्ष अपनी माँगे प्रस्तुत करेंगे, तो वह उन्हें स्वीकार कर लेगी, क्योंकि उसे भारत तथा उसमें रहनेवाले लोगों के प्रति विशेष सहानुभूति है। अतः इस युग में कांग्रेस ने सुधारवादी कार्यक्रमों को अपनाया। उसने जनता की माँगों की प्रार्थना पत्रों, स्म ति पत्रों तथा प्रतिनिधि मण्डलों के द्वारा सरकार तक पहुँचाया तथा प्रशासन में सुधार सम्बन्धी अनेक प्रस्ताव पास किए। जी०आर० प्रधान के अनुसार, "कांग्रेस के प्रारम्भिक दिनों के प्रस्तावों में हम अत्यन्त उदार माँगें पाते है। कांग्रेस के संस्थापक आकाश में उड़ने वाले आदर्शवादी नहीं थे, बल्कि के व्यावहारिक सुधारक थे तथा उदारवाद की भावनाओं और सिद्धान्तों से ओत-प्रोत थे। वे स्वतन्त्रता की ओर धीरे-धीरे कदम बढ़ाना चाहते थे। इसलिए उनकी माँगें बहुत ऊँची थी। उन्होंने सुधार के ऐसे उदार प्रस्तावों को रखा, जिसका कम-से-कम विरोध हो।" कांग्रेस के नेताओं ने इस उदारवादी काल में नरम नीति अपनाई थी। वे प्रार्थनापत्रों, प्रतिवेदनों, स्मरण पत्रों, एवं शिष्ट मण्डलों के माध्यम से सरकार के समक्ष अपनी माँगें रखते थे। उनकी भाषा बड़ी नरम और संयत होती थी। इसलिए उग्रवादियों ने इसे 'राजनीतिक भिक्षाव त्ति' की संज्ञा दी है।

कांग्रेस की लोकप्रियता

1885 ई० में कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन हुआ, जिसमें 72 प्रतिनिधि शामिल हुए थे, क्योंकि उस समय वह केवल बुद्धिजीवियों की संस्था थी। परन्तु धीरे-धीरे उसकी लोकप्रियता बढ़ी और देश की सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था का रूप ग्रहण कर लिया। परिणामस्वरूप उसकी शक्ति में निरन्तर व द्धि होती गई। यही कारण था उसके अधिवेशन में भाग लेनेवालों की संख्या 1886 में 406, 1887 में 600 तथा 1888 में 1228 हो गई। यह प्रगति निरन्तर जारी रही, क्योंकि इसने एक अखिल भारतीय रूप धारण कर लिया था। 1906 में यह कहा जा सकता था कि कांग्रेस भारत के भारी बहुमत का प्रतिनिधित्व करनेवाली संस्था है। कांग्रेस की प्रगति के सम्बन्ध में बी० पट्टाभि सीतारमैया का मत है, "जिस प्रकार एक बड़ी नदी का मूल एक छोटे से होता है, उसी प्रकार महान संस्थाओं का आरम्भ भी बहुत साधारण होता है। जीवन के प्रारम्भ में वे अत्यन्त वेग के साथ दौड़ती है, परन्तु ज्यों-ज्यों व्यापक होती है। त्यों-त्यों उनकी गति मन्द किन्तु स्थिर होती जाती है। ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ती है त्यों-त्यों उनमें सहायक नदियाँ मिलती जाती हैं तथा वे उसको अधिकाधिक सम्पन्न बनाती जाती है। यही उदाहरण हमारी कांग्रेस पर भी लागू होता है।"

कांग्रेस के प्रति सरकार का द ष्टिकोण

1885 ई० में जब कांग्रेस की स्थापना हुई उस समय उसे भारतीय गवर्नर लॉर्ड डफरिन का आशीर्वाद प्राप्त था। इसका जन्मदाता भी एक अंग्रेज अधिकारी ए०ओ० ह्यूम था। इसलिए इसके प्रथम अधिवेशन में कई सरकारी अधिकारियों ने भाग लिया। दूसरा अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। इस अवसर पर भारत के गवर्नर जनरल लॉर्ड डफरिन ने इसमें सम्मिलित होनेवाले प्रतिनिधियों को राजकीय भवन में एक भोज दिया। इसका तीसरा अधिवेशन 1887 ई० में मद्रास में हुआ। इस अवसर पर मद्रास के गवर्नर ने कांग्रेस के प्रतिनिधियों को राजकीय भवन में एक प्रीतिभोज पर आमन्त्रित किया। इस प्रकार आरम्भ के तीन वर्षों में अंग्रेज सरकार की नीति कांग्रेस के प्रति उदारता एवं सहानुभूति की रही। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

परन्तु जैसे-जैसे कांग्रेस की शक्ति में व द्धि होती गई और कांग्रेस के द्वारा प्रशासनिक सुधारों की मांग प्रबल की जाने लगी। अब कांग्रेस ने सरकार के कार्यों की आलोचना करनी आरम्भ कर दी थी। इसका परिणाम यह हुआ की सरकार ने अपना समर्थन वापस ले लिया और कांग्रेस के प्रति शत्रुतापूर्ण व्यवहार करना आरम्भ कर दिया। लॉर्ड डफरिन भी कांग्रेस का कटु आलोचक बन गया। क्योंकि वह भारतीयों की समानता की मांग स्वीकार नहीं करना चाहता था। अब अंग्रेज सरकार कांग्रेस को भारत में अपना शत्रु मानती थी और उसको किसी प्रकार का प्रोत्साहन देने के पक्ष में नहीं थी।

लॉर्ड डफरिन ने कांग्रेस को राजनीतिक स्वरूप प्रदान किया था, इसे कार्यों को शंका की द ष्टि से देखने लगा। उसने कांग्रेस की निन्दा करते हुए कहा, "मुझे उसका भारतीय जनता के प्रतिनिधित्व का दावा बेबुनियाद लगता है। कांग्रेस तो एक ऐसे नगण्य अल्पमत का प्रतिनिधित्व करती है। जिसको एक शानदार और विभिन्न रूपोंवाले साम्राज्य के शासन की बागडोर हर्गिज नहीं दी जा सकती।" इस सम्बन्ध में आंग्ल भारतीय समाचार पत्र ने यहाँ तक लिखा है, "यह तो छिपे वेश में एक ऐसी राजद्रोही संस्था है जिसे न तो जनता का प्रतिनिधित्व प्राप्त है और न ही उसका कोई मूल्य है।"

कांग्रेस के प्रथम तीन अधिवेशनों में ब्रिटिश सरकार ने पूर्ण रूप से सहयोग दिया था। 1888 ई०

में सरकार ने कांग्रेस के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित करना आरम्भ कर दिया। 1888 ई० में इलाहाबाद में कांग्रेस के अधिवेशन के लिए उत्तर प्रदेश की सरकार ने उचित स्थान देने से इन्कार कर दिया; लेकिन दरभंगा नरेश ने 'लाहौर कौंसिल हाउस' खरीदकर अधिवेशन के लिए कांग्रेस को दे दिया। उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त के गवर्नर सर आकलैंड ने एक आदेश पत्र द्वारा अंग्रेजों और सरकारी कर्मचारियों का कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लेना निषिद्ध कर दिया। ब्रिटिश सरकार ने देशी नरेशों और सुल्तानों से भी कांग्रेस से दूर रहने को कहा। 1890 ई० में बंगाल सरकार ने एक आदेश में कहा गया था, ''भारत सरकार के आदेशों के अधीन कांग्रेस की बैठकों में, दर्शक के रूप में भी सरकारी अधिकारियों की उपस्थिति वांछनीय नहीं है और इस प्रकार की बैठकों में उनके भाग लेने को निषेध किया जाता है।"

ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस को निर्बल बनाने के लिए मुसलमानों को उसके विरोध में संगठित होने की प्रेरणा दी। 1888 ई० में कांग्रेस के अधिवेशन में शेख राजा हुसैन खाँ ने इस सम्बन्ध में कहा था, ''ये मुसलमान नहीं, वरन् उनके सरकारी आका हैं, जो कांग्रेस का विरोध करते हैं।'' 1895 ई० के बाद अंग्रेज सरकार का कांग्रेस के प्रति रुख निरन्तर कठोर होता गया। कांग्रेस ब्रिटिश सरकार के कार्यों की आलोचना करती थी। इसलिए सरकार ने इस संस्था का दमन करने का हर सम्भव प्रयास किया। भारत मंत्री लार्ड हेमिल्टन के निर्देशन में लार्ड कर्जन की सरकार ने धनी भारतीयों पर कांग्रेस से दूर रहने के लिए दबाव डाला और कांग्रेस विरोधी तत्त्वों को उपहार तथा उपाधियॉ दी। इतना ही नहीं अंग्रेजों ने कांग्रेस की शक्ति को क्षीण करने के लिए हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिकता के विकास को प्रोत्साहन देना शुरू कर दिया। अंग्रेजों ने 1888 ई० में सर सैयद अहमद खाँ से ''एंग्लो मुस्लिम डिफेंस ऐसोसिएशन'' की स्थापना इसलिए करवाई, ताकि कांग्रेस को निर्बल बनाया जा सके। अंग्रेजों ने कांग्रेस को हिन्दुओं की संस्था कहकर मुसलमानों की अपने हितों की रक्षा के लिए प्रथम संगठन बनाने की आवश्यकता पर जोर देकर उक्त संस्था बनवाई। इस प्रकार, अंग्रेजों ने भारत में 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाई। फिर भी कांग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था बनी रही। अनेक राष्ट्रवादी मुसलमानों ने कांग्रेस का ही साथ दिया।

इस प्रकार कांग्रेस के प्रति ब्रिटिश सरकार का द ष्टिकोण आरम्भ में सहानुभूतिपूर्ण था परंतु कुछ समय बाद ही उसने शत्रुता का रूप ग्रहण कर लिया। रैम्जे मेकडोनल्ड के शब्दों में, ''प्रारम्भ में यह मित्रतापूर्ण थी लेकिन बाद में इसने कटु विरोध का रूप धारण कर लिया।'' ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस का दमन करने का हर सम्भव प्रयास किया, परन्तु उसकी शक्ति में कमी होने की बजाय व द्धि होती गई। इसका प्रमुख कारण यह था कि कांग्रेस को मध्यम वर्ग का सहयोग प्राप्त हो चुका था। इसलिए ब्रिटिश सरकार को अपने उद्देश्य में असफलता हाथ लगी। डा० आर.सी. मजूमदार कहते हैं, ''ब्रिटिश सरकार तथा नौकरशाही के कांग्रेस विरोधी षड्यंत्र अपने उद्देश्य की पूर्ति में इसलिए सफल न हुए, क्योंकि यह यह बात जानने में असमर्थ रहे कि कांग्रेस की शक्ति का मूल आधार मध्यम वर्ग है, धनी दानी लोग नहीं।'' कूपलैण्ड ने इस सम्बन्ध में लिखा है, ''कांग्रेस का जन्म भारत में ब्रिटिश शासन के शत्रु के रूप में नहीं अपितु मित्र के रूप में हुआ था। यह तो बाद के कटु अनुभवों का फल था कि राष्ट्रीय शक्तियों ने अहिंसात्मक आंदोलन का संगठन करके ब्रिटिश शासकों को भारत छोड़ने के लिए विवश कर दिया।''

उदारवादियों की माँगे: उदारवादी नेताओं ने 1885 ई० से लेकर 1905 ई० तक कांग्रेस के माध्यम से ब्रिटिश सरकार के समक्ष निम्नलिखित माँगे प्रस्तुत की-

(1) भारतीय शासन की जाँच करने के लिए एक रॉयल कमीशन की नियुक्ति की जाए।

(2) इण्डिया कौंसिल को समाप्त किया जाए।

(3) धारा सभाओं का विस्तार हो, जिनमें आम जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि सम्मिलित किए जाएं और उन्हें प्रश्न पूछने का अधिकार दिया जाए।

(4) प्रेस पर लगाए गए प्रतिबन्धों को हटाया जाए।

(5) स्थानीय संस्थाओं को अधिक शक्तियां देना तथा उन पर सरकारी नियंत्रण कम करना।

(6) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारा सभाओं में भारतीय सदस्यों की संख्या में व द्धि की जाए, ताकि प्रतिनिधि शासन स्थापित हो सके।

(7) राजकीय सेवाओं में उच्च सार्वजनिक पदों पर भारतीयों को अंग्रेजों के समान अवसर दिए जाएं।

(8) औद्योगिक शिक्षा 'कुटीर उद्योग' का प्रचार करने के लिए देश में टेक्नीकल स्कूल तथा कॉलेज खोले जाएं।

(9) भारत में सैनिक शिक्षा देने के लिए कॉलेज खोले जाएं।

(10) पुराने उद्योग पुनर्जीवित करना तथा कुछ नये उद्योग स्थापित करना, ताकि क षि पर दबाव कम हो एवं बेरोजगारी दूर हो।

(11) कार्यपालिका को न्यायपालिका से अलग किया जाए।

(12) न्याय व्यवस्था पर 'ज्यूरी' का अधिकार हो तथा उसके निर्णयों को मान्यता दी जाए।

(13) शस्त्र कानून (आर्म्स एक्ट) में परिवर्तन किया जाए।

(14) शासन तथा सेना सम्बन्धी खर्च कम किया जाए।

(15) विदेशी वस्तुओं पर अधिक कर लगाया जाए।

(16) भारत सचिव की कौंसिल में तथा प्रिवी कौंसिल में भारतीयों को स्थान दिए जाएं।

(17) भारत मंत्री के वेतन का भुगतान ब्रिटिश कोष से किया जाए।

(18) भारत की निर्धनता के कारणों का पता लगाकर उन्हें दूर किया जाए।

इन माँगों के अतिरिक्त सामान्य जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए निम्न माँगे और प्रस्तुत की गयी थी।

(1) नमक कर में कटौती की जाए।

(2) ऐसे कानून बनाना, ताकि जमींदार किसानों का शोषण नहीं कर सकें।

(3) किसानों के बोझ को हल्का करने के लिए भूमि कर में कमी की जाए।

(4) जनता पर लगे हुए करों में कमी की जाए।

(5) क षि के विकास के लिए सिंचाई की व्यवस्था की जाए।

(6) क षि बैंक खोले जाएं, जहाँ से किसानों को कम ब्याज पर ऋण प्राप्त हो सके।

(7) तीसरे दर्जे के रेल यात्रियों को अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान की जाएँ।

(8) पुलिस व्यवस्था में सुधार किया जाए।

(9) विदेश में रहनेवाले भारतीयों की रक्षा की व्यवस्था की जाए।

(10) विदेशों में अनाज के निर्यात पर प्रतिबंध लगाया जाए आदि।

उदारवादियों की कार्यविधिः उदारवादी नेता प्रतिवर्ष कांग्रेस का अधिवेशन बुलाते थे और उसमें प्रस्ताव पारित करते थे। इन प्रस्तावों को समाचार पत्रों तथा भाषणों के माध्यम से जन-साधारण तक पहुँचाते थे। वे समय-समय पर सरकार को प्रार्थना-पत्र तथा प्रस्ताव भी पेश करते थे। वे अपनी मांगे सरकार के समक्ष अत्यन्त नम्रतापूर्वक पेश करके उनको पूरी करने का निवेदन करते थे। इन स्मरण पत्रों तथा याचिकाओं में कहा जाता था, ''हम हमारी लोकप्रिय सरकार से प्रार्थना करते हैं कि .... उपर्युक्त सुधारों को लागू करने की क पा कर हमें अनुग्रहित करें।'' यहां तक कि कांग्रेस अपने शिष्टमण्डल इंग्लैण्ड भेजती थी, ताकि वे ब्रिटिश अधिकारियों को भारतीयों की मांगों के बारे में अवगत करा सकें। कांग्रेस का इस समय यही तरीका ठीक था, क्योंकि इसका शैशव काल था। इसलिए इस युग में इससे अधिक की आशा कांग्रेस से नहीं की जा सकती थी।

उदारवादियों का इंग्लैण्ड में प्रचारः दादा भाई नौरोजी, ए०ओ० ह्यूम तथा मि० बेडरबर्न जैसे उदारवादी नेताओं का यह विश्वास था कि कांग्रेस का इंग्लैण्ड में अधिक से अधिक प्रचार करना चाहिए। ऐसा करने से इंग्लैण्ड के लोगों को भारत की वास्तविक स्थिति के बारे में ज्ञान होगा और कांग्रेस की सफलता बढ़ेगी। उदारवादियों ने अपनी माँगें मनवाने के लिए इंग्लैण्ड में अपनी संस्थाएँ स्थापित की। 1887 ई० में दादा भाई नौरोजी ने लंदन में 'भारतीय सुधार समिति' की स्थापना की। इस समिति के उद्देश्यों के बारे में नौरोजी ने कहा, ''क्योंकि शासन सत्ता का प्रमुख स्त्रोत इंग्लैण्ड में है, इसलिए इंग्लैण्ड में कांग्रेस द्वारा किए गए कोई भी वैधानिक प्रयत्न अधिक प्रभावशाली और लाभदायक होंगे।'' दादा भाई नौरोजी ने विलियम डिग्वी की अध्यक्षता में इंग्लैण्ड में 1888 ई० में 'इण्डियन एजेन्सी' की स्थापना की जो 1889 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ब्रिटिश समिति बन गयी। अनेकों प्रतिष्ठित अंग्रेज इस समिति के सदस्य बन गए। इस समिति ने 'इण्डिया' नामक मासिक समाचार पत्र जारी किया, जो राष्ट्रीय आंदोलन की गतिविधियों के सम्बन्ध में विश्वसनीय सूचना देता था। इसके माध्यम से इंग्लैण्ड के लोगों को भारतीयों की परिस्थितियों से अवगत कराया जाता था। इस समाचार पत्र को इंग्लैण्ड में काफी लोकप्रियता प्राप्त हुई।

इस काल में कांग्रेस समय-समय पर अपने प्रतिनिधिमण्डल भी इंग्लैण्ड भेजती रही, जिसका उद्देश्य ब्रिटिश अधिकारियों से भारतीयों की तकलीफें दूर करवाना था। 1890 ई० में कांग्रेस की ओर से एक प्रतिनिधिमण्डल भेजा गया, जिसमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, डब्ल्यू.सी. बनर्जी, ए.ओ. ह्यूम आदि थे। इन महान व्यक्तियों ने इंग्लैण्ड के विभिन्न नगरों में भाषण दिए और भारतीय समस्याओं से इंग्लैण्ड को अवगत कराया। इसी प्रकार बिपिन चन्द्र पाल ने 1899 ई० में इंग्लैण्ड की यात्रा की और भारत के पक्ष में बहुमूल्य प्रचार किया। कांग्रेस द्वारा इंग्लैण्ड में प्रचार का यह परिणाम निकला कि इंग्लैण्ड में भारतीय हितों से सहानुभूति रखनेवाले एक प्रभावशाली वर्ग का निर्माण हो गया।

उदारवादियों के विचारः आरम्भिक 20 वर्षों में यानि 1885 से 1905 तक कांग्रेस पूर्णतया उदारवादी नेताओं के नियंत्रण में रही। इस युग के नेताओं के प्रमुख विचारों का अध्ययन निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है-

(1) **ब्रिटिश शासन के प्रति भक्तिभावः** कांग्रेस के अधिकतर आरम्भिक नेता पाश्चात्य सभ्यता की उपज थे। अतः वे पाश्चात्य सभ्यता तथा विचारों से पूर्ण रूप से प्रभावित थे। वे ब्रिटिश शासन के प्रशंसक तथा राजभक्त थे। उनका यह मानना था कि ब्रिटिश शासन ने शिक्षा, यातायात व संचार आदि साधनों का विकास किया है, जिसके कारण भारत आधुनिक युग में प्रवेश कर सका है। यही कारण था कि ये उदारवादी नेता ब्रिटिश शासन को भारत के लिए वरदान मानते थे। ब्रिटिश राज के उपकारों के प्रति उदारवादी नेताओं के हृदय में क तज्ञता

का भाव था। इस प्रकार वे अपने देश के प्रति भक्ति के साथ-साथ ब्रिटिश सरकार के प्रति भी राजभक्ति रखते थे। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के अवसर पर वोमेश चन्द्र बनर्जी ने ब्रिटिश शासन के प्रति भक्ति भाव करते हुए कहा था कि, ''मैं सब उपस्थित सज्जनों के मत को व्यक्त कर रहा हूँ। मैं कहता हूँ कि अंग्रेजी सरकार को मेरे और यहाँ बैठे हुए मेरे मित्रों की अपेक्षा अधिक गहरे और पक्के राजभक्त व्यक्ति मिलना असम्भव है।''

कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में दादा भाई नौरोजी ने अपने सहयोगियों की भावना को व्यक्त करते हुए कहा था, ''आओ, हम पुरुषों की तरह बोलें और घोषणा कर दें कि हम पूर्णरूपेण राजभक्त हैं।'' ब्रिटिश सरकार भी उदारवादियों की राजभक्ति से भलीभाँति परिचित थी। अतः उसने समय-समय पर उनको पदवियों और उपाधियों से सम्मानित किया। ब्रिटिश सरकार इन नेताओं का सम्मान करती थी।

(2) **अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वासः** उदारवादी युग के अधिकाँश कांग्रेसी नेताओं का अंग्रेजी की सत्यता एवं न्यायप्रियता में अटूट विश्वास था। उनके विचार में अंग्रेज लोग स्वतंत्रता प्रेमी हैं और जब उन्हें यह विश्वास हो जाएगा कि भारतीय स्वशासन के योग्य बन गए हैं, तब उससे निश्चय ही वंचित नहीं रखेंगे। वस्तुतः इस विश्वास ने ही उनमें राजभक्ति की भावना को जन्म दिया था। यही कारण था कि कांग्रेस शुरू से ही अंग्रेजी सरकार की सहानुभूति तथा ब्रिटिश जनमत के समर्थन को जीतने के लिए प्रयास करती रही।

डा० पटाभि सीतारमैया के अनुसार ''उदारवादी नेता इस बात पर विश्वास करते थे कि अंग्रेज स्वभाव से न्यायप्रिय होते हैं। अतः यदि उन्हें भारतीय द ष्टिकोण का सही ज्ञान करा दिया गया तो वे भारतीय द ष्टिकोण को स्वीकार कर लेंगे।'' उदारवादी नेता गोपालकृष्ण गोखले ने कहा था, "अंग्रेज जाति की न्यायप्रियता तथा उदारता में हमारी अबाध निष्ठा है।" फिरोजशाह मेहता ने भी 1890 ई० में कहा था, ''मुझे इस बात में तनिक संदेह नहीं है कि ब्रिटिश अन्त में जाकर हमारी पुकार पर अवश्य ध्यान देंगे।'' सर टी माधवराज ने कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन के अवसर पर कहा था, ''कांग्रेस ब्रिटिश शासन का सर्वोच्च शिखर और ब्रिटिश जाति का कीर्तिमुकुट है।''

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का कहना था कि ''अंग्रेजों के न्याय, बुद्धि तथा दया की भावना में हमारा द ढ़ विश्वास है। संसार की महानतम प्रतिनिधि सभा, संसदों की जननी, ब्रिटिश कामन्स सभा के प्रति हमारे ह्रदय में श्रद्धा है। अंग्रेजों के सर्वत्र प्रतिनिध्यात्मक आदेश पर ही शासन की रचना की।'' कांग्रेस के बारहवें अधिवेशन में अध्यक्ष पद से बोलते हुए रहीम तुल्ला सयानी ने कहा था कि ''अंग्रेजों से बढ़कर सच्चरित्र व सच्ची जाति इस सूर्य के प्रकाश के नीचे नहीं बसती।'' दादा भाई नौरोजी ने अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास करते हुए कहा था कि ''यद्यपि जान बुल (ब्रिटिश राष्ट्र) तनिक बुद्धि के हैं, परन्तु उसे एक बार कोई बात सुझा दी जाए कि वह अच्छी और उचित है तो आप उसे कार्यरूप में परिणत किए जाने के प्रति विश्वस्त हो सकते हैं। दादा भाई नौरोजी यह कहा करते थे, ''मैं आशा करता हूँ कि वह दिन दूर नहीं है जब अंग्रेज स्वेच्छा से भारत से चले जाएंगे।'' उदारवादी नेताओं के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट होता है कि उन्हें किस हद तक अंग्रेजों की स्वतंत्रता और न्यायप्रियता में विश्वास था।

(3) **ब्रिटेन से स्थायी सम्बन्ध की स्थापना भारत के हित में:** उदारवादी नेता पाश्चात्य तथा विचारों के पोषक थे। अतः उनकी धारणा थी कि ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध बनाए रखना भारत के हित में है। ब्रिटेन के परिणामस्वरूप ही भारत में प्रगतिशील सभ्यता का उदय हुआ। अंग्रेजी साहित्य, शिक्षा पद्धति, यातायात एवं संचार के साधनों की व्यवस्था, न्याय प्रणाली और

स्थानीय स्वशासन आदि को भारत के लिए ब्रिटिश राज का वरदान समझते थे। उनका मानना था कि भारत में राष्ट्रीय एकता को सुद ढ़ करने, देश की रक्षा करने और उसे प्रगति की ओर ले जाने में ब्रिटिश शासन ही समर्थ है। उनका यह भी मानना था कि आग्ल विचार और दर्शन लोगों में स्वतंत्रता और लोकतंत्र के प्रति आदर उत्पन्न करता है। अतः यह भारत के हित में है कि ब्रिटेन से उसका अटूट सम्बन्ध बना रहे।

गोपाल क ष्ण गोखले ने 1905 ई० में कांग्रेस के अध्यक्ष पद से बोलते हुए कहा था, ''हमें यह मानना पड़ेगा कि ब्रिटिश शासन विदेशी होने के कारण अपनी कमियों के होते हुए भी देशवासियों की प्रगति में एक बड़ा साधन रहा है उसके जारी रहने का अर्थ उस शांति तथा व्यवस्था के जारी रहने से है, जिन्हें केवल यही कायम रख सकता है, और जिसके साथ हमारे श्रेष्ठ हित बंधे हैं।'' फिरोजशाह मेहता ने कांग्रेज के छठे अधिवेशन में अध्यक्ष पद पर भाषण देते हुए कहा था, ''इंग्लैण्ड और सारे भारत का सम्बन्ध इन दोनों देशों और समस्त विश्व की आनेवाली पीढ़ियों के लिए वरदान होगा।'' दादा भाई नौरोजी ने भी कहा था, ''कांग्रेस ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विद्रोह करनेवाली संस्था नहीं है, यह तो ब्रिटिश सरकार की नींव को द ढ़ करना चाहती है।'' यही कारण है कि श्रीमती एनी बेसेन्ट ने कहा था, ''इस युग के नेता अपने को ब्रिटिश प्रजा मानने में गौरव अनुभव करते हैं।''

(4) **क्रमिक सुधार में विश्वासः** उदारवादी नेता राजनीतिक क्षेत्र में क्रमबद्ध विकास की धारणा में विश्वास रखते थे। वे इस बात से भलीभांति परिचित थे कि एकदम प्रतिनिध्यात्मक शासन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। उनका मानना था कि यदि भारतीयों को शासन में भाग लेने के अवसर मिलते रहे तो उनको स्वशासन का अच्छा प्रशिक्षण मिल जाएगा, जिससे स्वायत्त शासन या स्वतंत्रता की माँग सफल हो सकेगी। अतः वे प्रशासन में आवश्यक सुधारों, विधायी परिषदों, सेवाओं, स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं और रक्षा सेवाओं में सुधार से ही संतुष्ट थे। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के अनुसार ''भारतीयों को तत्कालीन रूप में केवल यह आशंका है कि सरकार के आधार को अधिक विस्त त किया जाए और जनता का उसमें समुचित भाग हो।''

1906 ई० के कांग्रेस के अधिवेशन में स्वराज्य अथवा स्वशासन की माँग की थी, लेकिन वह स्वशासन भी ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया में प्राप्त किया जाना था। यह भी स्वीकार किया गया है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लम्बी अवधि तक भारतीयों को प्रशिक्षण की आवश्यकता है। इस प्रकार उदारवादी नेता क्रमिक, वैधानिक और प्रशासनिक सुधार चाहते थे। वे किसी भी प्रकार के क्रान्तिधारी परिवर्तन के विरुद्ध थे। आर.जी. प्रधान ने उदारवादियों के विचारों और कार्य पद्धति पर टीका करते हुए लिखा है कि यदि हम कांग्रेस की प्रारम्भिक कार्यवाहियों को देखें तो पाते हैं कि उनकी माँगें अत्यधिक नरम थी। कांग्रेस के प्रारम्भिक संगठन और समर्थक आदर्शवादी नहीं, वरन व्यवहारिक सुधारवादी थे और वे क्रमबद्ध सुधार के मार्ग में विश्वास करते थे।

(5) **उदारवादियों का राजनीतिक लक्ष्यः** उदारवादी नेता केवल कतिपय प्रशासनिक सुधार ही नहीं चाहते थे बल्कि उनका अन्तिम लक्ष्य भारतीयों के लिए स्वशासन की प्राप्ति था। उन्हें ब्रिटेन के राजनीतिक विचारों और संस्थाओं की पूर्ण जानकारी थी। अतः वे प्रजातंत्र, स्वशासन और संसदीय शासन की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते थे। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारतीयों को स्वशासन का पर्याप्त प्रशिक्षण प्राप्त हो चुका था। अब भारत स्वशासन के लिए पूर्ण रूप से तैयार था। इस सम्बन्ध में श्रीमती एनी बेसेन्ट ने कहा था कि स्वतंत्र संस्थाएँ मानसिक और नैतिक अनुशासन की सर्वोत्तम शिक्षण संस्थाएँ हैं। श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने कांग्रेस के दूसरे

अधिवेशन में कहा था, ''स्वशासन एक प्राक तिक देन है, ईश्वरीय शक्ति की कामना है। प्रत्येक राष्ट्र को स्वयं ही अपने भाग्य का निर्णय करना चाहिए। यही प्रक ति का नियम है।'' उनका यह भी मानना था कि ''स्वशासन भारतीयों के लिए कोई नई व्यवस्था नहीं तथा स्वतंत्र संस्थाएँ देश के बौद्धिक और नैतिक संयम की सबसे अच्छी पाठशालाएँ होती हैं। इनके बिना स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन सम्भव नहीं है।''

(6) **संवैधानिक साधनों में विश्वासः** उदारवादियों का संवैधानिक साधनों में पूर्ण विश्वास था। वे सरकार से किसी भी कीमत पर लड़ने को तैयार नहीं थे। वे हिंसा के उग्र विरोधी थे और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए क्रांतिकारी मार्ग नहीं अपनाना चाहते थे। वे अपनी माँगों को अत्यन्त नरम और शिष्ट भाषा में प्रार्थना पत्रों, स्म ति पत्रों एवं प्रतिनिधि मण्डलों के माध्यम से सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करते थे और उनको मानने का आग्रह करते थे। आलोचक इसे 'राजनीतिक भिक्षाव ति' कहकर पुकारते हैं। पट्टाभि सीतारमैया ने उदारवादियों की वैधानिक पद्धति का उल्लेख करते हुए कहा है, ''उदारवादी अधिकारियों के समक्ष देश और जनता के दुखों और कष्टों को ठोस तथ्य के रूप में रखते थे और उनके पक्ष में अकाट्य तर्क पेश करते थे तथा वे शासन से इस बात की प्रार्थना करते थे कि वह उनकी माँगों को शीघ्र से शीघ्र पूरा करने का आश्वासन दे। इस प्रकार स्पष्ट है कि उदारवादी सरकार से संघर्ष करने के पक्ष में नहीं थे। पं० मदनमोहन मालवीय ने इसी भावना को व्यक्त करते हुए कांग्रेस के त तीय अधिवेशन में कहा था, ''हमें सरकार से बार-बार निवेदन करना चाहिए कि वह हमारी माँगों पर शीघ्रता से विचार करे तथा फिर हम अपनी इन सुधार सम्बन्धी माँगों को स्वीकार करने पर जोर दें।'' उदारवादी नेता अपनी माँगे मनवाने के लिए याचना करने में किसी प्रकार की लज्जा का अनुभव नहीं करते थे। दादाभाई नौरोजी ने 1906 ई० में कांग्रेस अध्यक्ष पद से बोलते हुए कहा था, ''शान्तिप्रिय विधि ही इंग्लैण्ड के राजनीतिक, सामाजिक और औद्योगिक इतिहास की जीवन और आत्मा है। इसलिए हमें भी उस सभ्य, शान्तिप्रिय, और नैतिक शक्ति रूपी अस्त्र को प्रयोग में लाना चाहिए।

उदारवादियों की दुर्बलताएँ

अनेक इतिहासकारों की मान्यता है कि उदारवादी युग का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में कोई विशेष स्थान नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह था कि इस युग में कांग्रेस को जन साधारण का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ था और उसके नेताओं द्वारा अपनाए गए साधन भी प्रभावशाली नहीं थे। इसलिए वे अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल रहे। उदारवादी नेताओं के ह्रदय में देशभक्ति की भावना विद्यमान थी, दूसरी ओर ब्रिटिश शासन के प्रति राजभक्ति प्रदर्शित करने में वे गौरव का अनुभव करते थे। वस्तुतः उनकी देशभक्ति का राजभक्ति से मेलजोल हो जाने के कारण देशभक्ति आँशिक रह गई थी। उदारवादियों का ब्रिटिश जाति की न्यायप्रियता एवं उदारता में अगाध विश्वास था। उनका यह सोचना गलत था कि ब्रिटिश राज स्वयं भारत के हित में है। उदारवादी यह समझने में असफल रहे कि अंग्रेज अपने राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता देंगे। अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण करना था न कि भारत का विकास करना। अंग्रेजों ने भारत में शिक्षा, यातायात व संचार के साधनों का विकास इसलिए किया था ताकि उनके साम्राज्य की सुरक्षा हो सके। उन्होंने कुछ शिक्षित भारतीयों को प्रशासन में नियुक्त किया तो उसका उद्देश्य बुद्धिजीवी और चेतनशील भारतीयों को राष्ट्रीय आंदोलन से प थक रखना था।

इसके अतिरिक्त उदारवादी नेता अपनी माँगों के लिए सरकार से याचना करते थे परंतु सरकार की उनकी माँगों के प्रति कोई रुचि नहीं थी। अधिकतर उदारवादी नेता धनी थे किंतु वे कोई प्रत्यक्ष कार्यवाही नहीं कर सकते थे। इस युग के नेता किसी प्रकार का बलिदान करने को तैयार नहीं

थे। इसके अतिरिक्त वे सरकार से संघर्ष करने के पक्ष में नहीं थे। गुरमुख निहालसिंह ने लिखा है कि, ''सम्भवतः गोखले को छोड़कर कांग्रेस के नरम नेताओं में स्वतंत्रता के लिए व्यक्तिगत बलिदान करने और आपत्तियाँ सहने को कोई तैयार नहीं था।'' परिणामस्वरूप उदारवादियों की मांगों पर ब्रिटिश प्रशासन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि अंग्रेज सत्य और न्याय के स्थान पर शक्ति और दबाव की भाषा ही समझते थे।

उदारवादियों की सफलता या देन

उदारवादियों के विचार और कार्य पद्धति की आलोचना करते हुए अधिकाँश इतिहासकारों ने कहा है कि उदारवादी युग का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। कारण यह है कि उदारवादी अपने लक्ष्य की प्राप्ति में असफल रहे। लेकिन उदारवादी युग को इस तरह महत्त्वहीन कहकर टाल देना अनुचित होगा। वस्तुतः जिन परिस्थितियों में उदारवादियों ने कांग्रेस का पोषण किया, वह व्यवहारिक द ष्टि से सर्वथा उपयुक्त था। यदि कांग्रेस की जड़े जन साधारण में जमने से पूर्व ही ब्रिटिश राज के अन्त या भारत की स्वतंत्रता की बात कहनी प्रारम्भ कर दी जाती तो इसका कांग्रेस के अस्तित्व पर विपरीत प्रभाव पड़ता। अतः उदारवादियों ने जो मार्ग अपनाया, वह नितान्त स्वाभाविक तथा विवेकपूर्ण था। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उदारवादी समय की गति के अनुसार आगे बढ़ने से पीछे नहीं रहे। प्रशासन में क्रमिक सुधारों की मांग को उन्होंने धीरे-धीरे स्वशासन की मांग के रूप में बदल दिया। उदारवादियों की भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की निम्नलिखित महत्वपूर्ण देन हैं-

(1) **ब्रिटिश शासन के दोष स्पष्ट करना:** कांग्रेस के आरम्भिक अधिवेशनों में ब्रिटिश सरकार की खुली आलोचना की जाती थी। जैसे-जैसे वे दोष स्पष्ट होते गए, वैसे-वैसे कांग्रेस में उग्रवादी तत्त्वों को प्रोत्साहन मिलता रहा। सारांश यह है कि आगे चलकर उग्रवादी तत्त्व विदेशी शासन के विरुद्ध लड़ने के लिए खुलकर सामने आ गए। इस प्रकार कांग्रेस अपने आरम्भिक दिनों में सरकार का एक प्रतिपक्ष बन गई, किन्तु यह कोई मित्रतापूर्ण परामर्शदाता प्रतिपक्ष न बनी, अपितु वह एक ऐसा प्रतिपक्ष बनी जिसने सरकार की हैसियत और अधिकार को चुनौती दी।

(2) **भारतीय राष्ट्रीयता के प्रेरणता:** उदारवादियों ने ही सर्वप्रथम भारत में राष्ट्रीय एकता के विकास की आधारशिला रखी थी। सर्वप्रथम उन्होंने ही देशवासियों को शिक्षा दी कि साम्प्रदायिकता तथा प्रान्तीयता जैसी संकीर्ण भावनाओं से ऊपर उठकर राष्ट्रीयता की भावना को अपने हृदय में विकसित करे। परिणामस्वरूप भारत में राष्ट्रीयता की लहर दौड़ पड़ी और स्वशासन तथा प्रशासनिक सुधारों की माँग की जाने लगी। इस द ष्टि से उदारवादियों को भारतीय राष्ट्रीयता का जनक कहना सर्वथा उचित है। श्री गुरुमुख निहालसिंह के शब्दों में ''प्रारम्भिक कांग्रेस ने राज्यभक्ति की प्रतिज्ञाओं, नरम नीति, आवेदन ही नहीं अपितु भिक्षाव ति के बावजूद भी उन दिनों राष्ट्रीय जागरण, राजनीतिक शिक्षा, भारतीयों को एकता के सूत्र में आबद्ध करने तथा उनमें सामान्य राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण करने में कठिन परिश्रम किया था।

(3) **राजनीतिक शिक्षा:** इस युग की तीसरी महत्त्वपूर्ण देन यह है कि भारतीयों को राजनीतिक शिक्षा ग्रहण करने का अवसर मिला। इस आन्दोलन के कारण भारत के भिन्न-भिन्न कोने के लोगों में पारस्परिक सम्पर्क हुआ और उनके महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार का आदान-प्रदान होने लगा। परिणामस्वरूप से संयुक्त रूप से सुधार और स्वशासन के लिए माँग करने लगे। उन्होंने भारतीयों का ध्यान व्यक्तिगत स्वतंत्रता, प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना की ओर आकर्षित किया। इसके परिणास्वरूप लोगों में प्रजातंत्र की भावना का

विकास हुआ। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनको जनमत को प्रभावित करने के क्षेत्र में भी पर्याप्त सफलता हाथ न लगी। डा० ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में, ''उदारवादियों की कार्य पद्धति का उपहास उड़ाए जाने के बावजूद भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने राष्ट्रीय जीवन के उत्थान के लिए आवश्यक मानवीय शक्ति और अन्य साधनों की व्यवस्था की है।'' डा० रासबिहारी घोष ने लिखा है कि हमें उनके कार्यों और कर्त्तव्य भावना की प्रशंसा करनी चाहिए।

(4) **स्वतंत्रता संग्राम के आधार का निर्माणः** भारतीय स्वतंत्रता की नींव डाल देने का श्रेय उदारवादी युग के नेताओं को ही है। उन्होंने अपने कार्य-कलापों से एक ऐसी प ष्ठभूमि तैयार की, जिसके आधार पर ही भविष्य में स्वतंत्रता हेतु विभिन्न आन्दोलन किए जा सके। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने लिखा है कि उदारवादियों ने ही हमको इस योग्य बनाया है कि हम स्वतंत्रता की माँग सरकार के समक्ष रख सकें। के.एम. मुन्शी लिखते हैं, ''यदि पिछले तीस वर्षों में कांग्रेस के रूप में एक अखिल भारतीय संस्था देश के राजनीतिक क्षेत्र में कार्यरत न होती तो ऐसी अवस्था में गाँधीजी का कोई भी महान आन्दोलन सफल नहीं होता।'' उदारवादियों की भीरूता और भिक्षाव त्ति की प्रव ति के बारे में डा० पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है, ''जिस समय भारत के राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने पदार्पण किया, उस समय वे अकेले थे। उन्होंने जो नीतियाँ अपनाई उनके लिए हम उन्हें कोई दोष नहीं दे सकते। किसी भी आधुनिक इमारत की नींव में छः फुट नीचे जो ईंट, चूना और पत्थर गड़े हैं, क्या उन पर दोष लगाया जा सकता है? क्योंकि वही तो आधार है, जिसके ऊपर सारी इमारत खड़ी हो सकी है। सर्वप्रथम उपनिवेशिक स्वशासन, फिर साम्राज्य के अन्तर्गत होमरूल, उसके बाद स्वराज तथा सबसे शीर्ष पर पूर्ण स्वाधीनता की मंजिले एक के बाद एक बन सकी हैं।''

(5) **भारतीय परिषद अधिनियम (1892):** भारत प्रशासन में सुधारों के लिए उदारवादियों द्वारा अनेक माँगे रखी गयीं, उन माँगों को आँशिक रूप से पूरा करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने 1892 ई० में 'भारतीय परिषद अधिनियम' पारित किया। उसके अनुसार भारतीयों को पहले की तुलना में अधिक राजनीतिक अधिकार प्रदान किए गए। गुरूमुख निहाल सिंह ने लिखा है कि, ''1892 का अधिनियम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रयत्नों का परिणाम था।''

डा० कश्यप ने इस अधिनियम के आधार पर कांग्रेस की सफलता का मूल्यांकन किया है। उन्होंने लिखा है, ''यद्यपि 1892 के अधिनियम द्वारा विधान परिषदों के सदस्यों को दिए गए अधिकार अत्यन्त सीमित थे तथा अब भी उन्हें मतदान करने, प्रस्ताव अथवा विधेयक उपस्थित करने तथा पूरक प्रश्न आदि के आवश्यक अधिकार नहीं मिले थे, किंतु इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि 1892 के अधिनियम में यह स्वीकार कर लिया गया था कि विधान परिषदों का कार्य केवल मात्र विधायी अथवा परामर्श देने का नहीं था और इस द ष्टि से यह अधिनियम प्रतिनिधिक सरकार की ओर प्रमुख कदम था। पहली बार इस अधिनियम ने शासन में कुछ प्रतिनिधित्व अंक का समावेश किया तथा भारतीय सदस्यों को भी सरकारी विधेयकों तथा बजट जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार प्रकट करने तथा सरकार के क त्यों के बारे में प्रश्न पूछने के कुछ न कुछ अधिकार प्रदान किए। निसंदेह यह अधिनियम संवैधानिक सुधारों की दिशा में प्रगति का चरण था। किन्तु आज जब हम देखते हैं तो यह लगता है कि जो कुछ किया गया वह सारहीन तथा खोखला था। विधान परिषदों के गैर सरकारी सदस्यों के भाषणों में तत्कालीन समाचार पत्रों में छपे लेखों तथा भारतीय कांग्रेस की बैठकों में व्याख्यानों और प्रस्तावों आदि सभी में 1892 के सुधारों के प्रति अपर्याप्तता और असन्तोष का भाव साथ-साथ अभिव्यक्त किया गया था।'' यद्यपि यह अधिनियम भारतीयों को संतुष्ट न कर सका, फिर भी

देश के वैधानिक विकास की दिशा में यह पहला कदम था। इसे उदारवादियों की तत्कालीन सफलता कहा जा सकता है।

यद्यपि यह सत्य है कि उदार राष्ट्रवादी आन्दोलन में कई कमियाँ थीं, तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसने भारत में राष्ट्रीय जाग ति की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अतः साधारण सफलताओं के बावजूद भी इस युग का भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में विशेष महत्त्व है।

अध्याय-4
उग्रवादी और उनकी कार्यविधि
Extrimists and their Programmes

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में पूर्णरूप से उदारवादी नेताओं के प्रभाव में थी, जिनका अंग्रेजी की न्यायप्रियता तथा वैधानिक आन्दोलन मे द ढ़ विश्वास था। उदारवादियों का मुख्य उद्देश्य भारतीय प्रशासन में क्रमिक सुधारों, सरकार के समक्ष माँगे प्रस्तुत करना और संवैधानिक साधनों से उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करना था। लेकिन 1885 से 1905 के बीच के काल में भारत और विदेशों में कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हुई, जिससे कांग्रेस की युवा पीढ़ी में एक नया जोश उत्पन्न हुआ। अब उनका अंग्रेजों की न्यायप्रियता से विश्वास उठ गया और वे वैधानिक साधनों तथा कांग्रेस की भिक्षाव त्ति की नीति से ऊब गए। अब वे यह महसूस करने लगे कि स्वराज माँगने से नही, बल्कि संघर्ष करने से प्राप्त होगा। संघर्ष द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करनेवाले मार्ग को अपनानेवाली इस धारा को ही 'उग्र राष्ट्रीयता' के नाम से से जाना जाता है। उग्रवादी नेताओं ने 1906 से लेकर 1919 तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नेत त्व किया।

इस युग मे एक ओर उग्रवादी आन्दोलन चला, तो दूसरी ओर क्रान्तिकारी आन्दोलन, दोनों का उद्देश्य एक था—अंग्रेजी राज्य से छुटकारा तथा पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति। उग्रवादी ब्रिटिश वस्तुओं तथा संस्थाओं के बहिष्कार द्वारा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में विश्वास रखते थे। क्रान्तिकारी बमों व बन्दूकों आदि का प्रयोग करने में विश्वास रखते थे। किन्तु दोनों के साधनों मे बड़ा अन्तर था उग्रवादी शान्तिपूर्ण लेकिन सक्रिय राजनीतिक आन्दोलनों में विश्वास रखते थे। जबकि क्रान्तिकारी अंग्रेजों को भारत के बाहर खदेड़ने के लिए शान्ति और हिंसा का मार्ग अपनाने के पक्ष में थे। गुरुमुख निहाल सिंह ने दोनों विचारधाराओं की तुलना करते हुए लिखा है, "इन दोनों में धार्मिक भावना समाई हुई थी। किन्तु दोनों का मार्ग अलग था। दोनों ही विचाराधाराओं के नेतागण साहसी व्यक्ति थे। उनमें आत्मबलिदान एवं स्वतन्त्रता की भावना थी, प्रबल देश प्रेम और विदेशी राज्य के प्रति घ णा थी। पुराने कांग्रेसियों की भाँति उन्हें अंग्रेजों की उदारता और सच्चाई में विश्वास नहीं था और न उनकी राजनितिक भिक्षाव त्ति में ही कोई निष्ठा थी। उन्हें तो आत्मनिर्भर एवं स्वतन्त्र कार्यों में विश्वास था। इन नेतागणों की प्रेरक भावनाएँ एक ही थी, वे भारत और उसकी जनता के पश्चिमीकर के विरुद्ध थे, वे प्रबल ही नहीं, उग्रराष्ट्रवादी थे, उनका उद्देश्य-स्वतन्त्र भारत जो फिर प्राचीन वैभव, सम द्धि एवं पवित्रता से परिपूर्ण है। दोनों में भेद केवल मार्ग का था।"

उग्रवाद के उदय के कारण

भारतीय राजनीति में उग्रवाद का उदय एक आकस्मिक तथा निराधार घटना न थी। यह अनेक, कारणों, परिस्थितियों और घटनाओं का एक स्वाभाविक परिणाम था। उग्रवाद के उदय के कारणों की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है:—

1. **सरकार द्वारा कांग्रेस की माँगों की उपेक्षाः**—उदारवादी युग के नेता अंग्रेजों की उदारता एवं न्यायप्रियता में विश्वास रखते थे। वे अंग्रेजों के प्रति राजभक्ति रखते थे और प्रशासन में क्रमिक सुधारों के लिए प्रार्थना पत्रों, स्म ति पत्रों और प्रतिनिधि मण्डलों के माध्यम से अंग्रेजी सरकार के प्रति अपनी माँगे रखते थे। परन्तु कई वर्षों तक तो ब्रिटिश सरकार ने उनकी माँगों की ओर ध्यान ही नहीं दिया। इसके प्रति सरकार ने कांग्रेस के कार्यों में विघ्न डालना प्रारम्भ कर दिया। फिर भी उदारवादी नेता कांग्रेस की माँगे मनवाने के लिए निरन्तर प्रयास करते रहे। परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने 1892 ई० में भारतीय परिषद् अधिनियम पारित किया। इसके द्वारा भारतीयों की सदस्य संख्या में व द्धि की गई। परन्तु प्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करने से भारतीयों को इस अधिनियम से कोई लाभ प्राप्त नहीं हुआ। यह अधिनियम भारतीयों को सन्तुष्ट नहीं कर सका। यहाँ तक कि उदारवादी नेता भी इससे सन्तुष्ट नहीं थे। फिर भी वे अपने प्रयत्न जारी रखने के पक्ष में थे। इन प्रयोगों के बारे में लाला लाजपतराय ने कहा, "शिकायतें दूर करने और रियायतें प्राप्त करने के बीच वर्षों के अथक प्रयत्नों के परिणामस्वरूप उन्हें रोटी के स्थान पर पत्थर ही प्राप्त हुए थे।"

   ब्रिटिश सरकार द्वारा कांग्रेस की अनेक मांगों के प्रति उपेक्षापूर्ण नीति अपनाने के कारण लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय तथा विपिनचन्द्र पाल आदि कांग्रेस के युवा नेताओं को अन्दर से आन्दोलित कर दिया। इन युवा नेताओं का राजनीतिक भिक्षाव त्ति और संवैधानिक साधनों में कोई विश्वास नहीं था। उनको यह विश्वास हो गया कि संवैधानिक साधनों से उनकी माँगे स्वीकृत नहीं हो सकती है। अतः उन्होंने सरकार के विरुद्ध कठोर कदम उठाना आवश्यक समझा, ताकि सरकार उनकी माँगे मानने के लिए विवश हो जाए। बाल गंगाधर तिलक का विचार, "कांग्रेस की नरमी और राजभक्ति स्वतन्त्रता प्राप्त करने योग्य नहीं है। केवल प्रस्ताव पास करने और अंग्रेजों के सामने हाथ पसारने से राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होगें, बल्कि उनके विरुद्ध युद्ध करना कठिन होगा।" लाला लाजपतराय ने भी कहा, "भारतीयों को अब भिखारी बने रहने में ही सन्तोष नहीं करना चाहिए और न ही उन्हें अंग्रेजों की कृपा पाने में गिड़गिडाना चाहिए।" युवा नेताओं का यह मानना था कि त्याग और बलिदान से ही हमारी माँगें स्वीकृत होंगी।

2. **हिन्दु धर्म का पुनरुत्थानः**—कांग्रेस के प्रायः सभी प्रारम्भिक नेता पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित थे। उनका मानना था कि पाश्चात्य धर्म, साहित्य, राजनीतिक संस्थाएँ, भाषा और संस्कृति भारतीयों की तुलना में श्रेष्ठ है। इन नेताओं का यह मानना है कि ब्रिटिश राज्य के कारण ही भारत की अनेक क्षेत्रों से उन्नति हुई है। अतः वे यह सोचते थे कि ब्रिटिश शासन भारत के हित में है और ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग किया जाना चाहिए, ताकि भारत इंग्लैण्ड के पथ प्रर्दशन में निरन्तर प्रगति की ओर बढ़ता रहे। दूसरी ओर भारत में ऐसे भी लोग थे जिन्होंने भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति से श्रेष्ठ बतलाया। उनका विचार था कि विदेशी शासन किसी भी रूप मे भारत के हित में नहीं हो सकता। ऐसे लोगों में स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय, एवं अरविन्द घोष आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

   स्वामी विवेकानन्द ने 1893 ई० में शिकागों के सर्व धर्म सम्मेलन में हिन्दू धर्म की महानता सिद्धकर विश्व भर के प्रतिनिधियों को आश्चर्यचकित कर दिया था। इससे हिन्दुओं का अपने धर्म तथा संस्कृति में फिर से विश्वास जाग त हुआ, और वे उस पर गौरव करने लगे

उन्होंने भारतवासियों से कहा कि अब हमें दासता से मुक्त होकर खुद अपना मालिक बनना है। इस प्रकार उन्होंने भारतीयो में राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय चेतना जाग त करने का प्रयास किया। यही अवस्था अरविन्द घोष की थी उन्होंने कहा, "स्वतन्त्रता हमारे जीवन का उद्देश्य है और हिन्दू धर्म ही हमारे इस उद्देश्य की पूर्ति करेगा......... राष्ट्रीयता एक धर्म है और वह ईश्वर की देन है।" श्रीमती ऐनी बिसेन्ट ने कहा, "सारी हिन्दू प्रणाली पश्चिमी सभ्यता से बढ़कर है।"

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना कर हिन्दुओं को संगठित होने की एक नई प्रेरणा दी। तिलक ने पश्चिमी चीजों का बहिष्कार किया। उन्होंने भारत की स्वाधीनता के लिए हिन्दू उत्सवों और हिन्दू संगठनों पर बल दिया था। तिलक ने 1907 में अपने कलकत्ता भाषण में कहा, "विदेशी शासन भारत के लिए एक अभिशाप है और नौकरशाही को दबाने के लिए एक प्रभावशाली आन्दोलन करना होगा।" तिलक ने गीता रहस्य में कर्मयोग की महत्ता प्रतिपादित की। लाल लाजपतराय ने पश्चिमी सभ्यता से ओत-प्रोत भारतीयों की घोर निन्दा की और उन्हें अपने देश के अतीत गौरव को अपनाने का सन्देश दिया। विपिन चन्द्रपाल ने बंगाल में काली और दुर्गा के नाम से जन साधारण में शक्ति और साहस का संचार किया। बंकिम चन्द्र चटर्जी ने अपनी पुस्तक 'आनन्द मठ' द्वारा लोगों को 'वन्दे मातरम्' का राष्ट्रीयगान दिया। इन नेताओं ने इस बात पर बल दिया कि भारत स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् ही सांस्कृतिक धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में उन्नति कर सकेगा। इससे जनता में राष्ट्रीय चेतना का संचार हुआ।

3. **अकाल प्लेग एवं प्रकोपः**—1876 से 1900 ई० तक देश के विभिन्न भागों में 18 बार अकाल पड़े। इसमें सबसे अधिक भीषण 1896-97 ई० का अकाल था जो बम्बई में पड़ा। यह अकाल 10,000 वर्ग मील में फैला हुआ था और इसमें लगभग दो करोड़ लोग म त्यु का ग्रास बने। इतने भयंकर अकाल को दूर करने के लिए सरकार ने धन के अभाव का बहाना बनाकर बड़ी धीमी कारवाई की। इसके विपरीत दूसरी ओर भारत सरकार रानी विक्टोरियॉ की जयन्ती उत्सव पर पानी की तरह पैसा खर्चा कर रही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय जनता में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध बहुत अधिक असन्तोष उत्पन्न हो गया।

अभी अकाल का घास भरा भी नहीं था कि 1897-98 में बम्बई प्रेसीडेन्सी में प्लेग फैल गया। पूना के आस-पास इस महामारी से सरकारी आकड़ों के अनुसार एक लाख 73 हजार व्यक्तियों की म त्यु हो गई। सरकार ने प्लेग को रोकने और जनता को राहत पहुँचाने के लिए कई विशेष कदम नहीं उठाए। सरकार ने जो भी कदम उठाए थे, उनके प्रति भी जनता में गहरा क्षोभ तथा असन्तोष व्याप्त था। पूना में प्लेग की जाँच के बहाने ब्रिटिश सैनिक भारतीयों के घरों में घुस जाते थे और स्त्रियों की जाँच के बहाने उनके साथ अत्यन्त ही अशिष्ट एवं अमानवीय व्यवहार करते थे। रायगोपाल ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "प्लेग कमिश्नर रैण्ड के पीछे सेना और पुलिस चलती थी और वे बीमारी वाले मकानों को जबरदस्ती गिरा देते थे और मकानों के निवासियों को जबरदस्ती कैम्पों में भेज दिया जाता था। उनके स्थान पर प्लेग के किटाणुओं को नष्ट करने के लिए बिस्तर और कपड़े जला दिए गए। लेकिन उन्हें किटाणु रहित वस्त्र नहीं दिए गये। रैण्ड और उनके सैनिक मकान के हर हिस्से मे यहाँ तक कि रसोई घर के अन्दर और स्त्रियों के कमरो में भी घुस जाते थे और मनमाना व्यवहार किया जाता था। सारा काम इस ढंग का था, जो जैसे दुश्मन द्वारा जीते गए किसी शहर को फूँका जा रहा है।"

ऐसे में तिलक ने अपने समाचार पत्र 'केसरी' में सरकार की कटु आलोचना करते हुए अंग्रेजों द्वारा किए जानेवाले अत्याचारों का विवरण दिया। इससे प्रभावित होकर दो नवयुवकों (दामोदर तथा बालक ष्ण चपेलकर) ने 1897 ई० में दो प्लेग अधिकारियों रैण्ड तथा उनके सहयोगी लेफ्टिनेन्ट आमर्स्ट को गोली से उड़ा दिया। सरकार इस घटना से तिलमिला उठी। तिलक को 'केसरी' से सरकार विरोधी टिप्पणियाँ करने के आरोप में 18 माह की सख्त कैद की सजा दी गई। कई अन्य राष्ट्रवादियों को प्राण दण्ड तथा देश से निर्वासित कर दिया गया। इसके अतिरिक्त पूना में दण्ड देनेवाली पुलिस ठहरा दी गई। इससे जनता में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध लहर दौड़ पड़ीं। इस सम्बन्ध में सुरेन्द्र नाथ ने कहा, "हम पूना में दण्ड देनेवाली पुलिस को ठहराना गलत समझते हैं। तिलक की कैद पर सारा राष्ट्र रो रहा है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त करना हमारा बहुमूल्य अधिकार है और इसके लिए हम सब संवैधानिक उपायों से यत्न करेगें।"

इन घटनाओं के प्रति उत्पन्न घ णा की अभिव्यक्त करते हुए 'हिन्दू' ने लिखा, "40 वर्षों से ऐसी कोई घटना नहीं घटी थी, जिसने जनता में उसकी असमर्थता तथा राजनीतिक गुलामी के प्रति इतनी अधिक चेतना पैदा की हो, जितनी कि बम्बई सरकार की करतूतों ने।" श्रीमती एनीबेसेण्ट के अनुसार इस घटनाओं से भारत में उग्र राष्ट्रवाद का विकास हुआ। डा० ईश्वरी प्रसाद के अनुसार, "दामोदर के हाथों इन दो अधिकारियों का वध इस तथ्य का सूचक था कि राष्ट्रीय आन्दोलन में उग्रवाद का उदय हो गया है।"

4. **भारत का तीव्रगति के आर्थिक शोषणः**—लार्ड बेकन का यह कथन 'अधिक दरिद्रता और आर्थिक असंतोष क्रान्ति को जन्म देता है,' भारत में उग्रवाद के उदय पर पूर्णरूप से लागू होता है अंग्रेज आरम्भ से ही भारत का तीव्र गति से आर्थिक शोषण कर रहे थे। वे भारत से कच्चा माल ले जाकर अपने कारखानों में उनसे अनेक वस्तुएँ बनाते थे और उनको लाकर भारत में बेच देते थे। इंग्लैण्ड का मशीनों द्वारा निर्मित माल कुटीर उद्योग धन्धों के निर्मित्त माल से सस्ता होता था। परिणामस्वरूप भारतीय बाजार यूरोपियन माल से भर गए और कुटीर उद्योग धन्धों का पतन हो जाने से उनमें कार्यरत व्यक्ति बेरोजगार हो गए। इससे देश में बेरोजगारी की समस्या उठ खड़ी हुई। अंग्रेजों की इस नीति के कारण भारतीय जनता दिन प्रतिदिन निर्धन होती गई। सरकार की इस नीति के विरुद्ध भारतीयों में घोर असन्तोष फैला। परिणामस्वरूप विदेशी माल का बहिष्कार होना शुरू हो गया। इस समय दादाभाई नौरोजी रमेशचन्द्र दत्त, और विलियम डिग्वी आदि नेताओं ने अपने भाषणों तथा पुस्तकों में ब्रिटिश सरकार की इस नीति की आलोचना करते हुए कहा था कि भारत की निर्धनता का मूल कारण विदेशी शासन है। पं० जवाहर लाल नेहरू ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "उदारवादी विचारों के होते हुए भी उन्होंने हमारे राजनीतिक और आर्थिक राष्ट्रीय विचारों को ठोस आधार प्रदान किया।"

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शिक्षण संस्थाओं की संख्या में व द्वि हुई। परन्तु सरकार द्वारा शिक्षित भारतीयों को उच्च पदों से वंचित रखने की नीति का अनुसरण किया गया। इसके शिक्षित बेरोजगारों की संख्या में व द्वि होती रही। परिणामस्वरूप उनमें असाधारण निराशा तथा असन्तोष फैला, जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत अधिक प्रभावित किया। ए०आर० देसाई लिखते है, "भारत में उग्रवाद के उदय का एक प्रमुख कारण शिक्षित भारतीयों में बेकारी से उत्पन्न राजनीतिक असन्तोष था।"

5. **उपनिवेशों में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहारः**—ब्रिटिश उपनिवेशों में रहनेवाले भारतीयों के साथ बड़ा ही अन्यायपूर्ण, अभद्र एवं असभ्य व्यवहार किया जाता था। रंगभेद की नीति

के कारण अंग्रेज भारतीयों को 'काला आदमी' कहते थे। और उन्हें घ णा की द ष्टि से देखते थे। इसके अतिरिक्त उनसे दुर्व्यवहार भी करते थे। विशेषरूप से दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों को एक नीच जाति समझा जाता था। उन पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगे हुए थे। उन्हे पगडण्डी पर चलने की आज्ञा नहीं थी और न ही उनहें प्रथम श्रेणी में यात्रा करने का अधिकार प्राप्त था। वे अपने नाम पर भूमि नहीं खरीद सकते थे। उन्हें यूरोपियनों के मकानों से दूर मकान बनाकर रहना पड़ता था। भारतीय बच्चों को कुछ विशेष स्कूलों में प्रवेश नहीं दिया जाता था। वे रात्रि के 9 बजे के बाद घर से बाहर नहीं निकल सकते थे। इन सबके अतिरिक्त 1907 ई० में ट्रासंवाल की सरकार ने 'राजिस्ट्रेशन एक्ट' पारित किया, जिसके अनुसार भारतीयों को अपराधियों की तरह उँगलियों की छाप देकर अपना पंजीयन कराना आवश्यक कर दिया गया था। इस समय महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका में वकालत करने गए, वहाँ उन्होंने सरकार की रंग भेद नीति के विरुद्ध सत्याग्रह शुरू कर दिया। 1903 ई० में दक्षिण अफ्रीका से लौटकर डा० बी० एस० मुन्जे के दुखपूर्वक कहा, "हमारे शासक इस बात पर विश्वास नही करते कि हम भी मनुष्य हैं।" अपने देशवासियों की इस दुर्दशा के कारण भारतीयों में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध घ णा बढ़ीं और उन्होंने यह सोचा कि भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार भारत की पराधीनता के कारण किया जा रहा है उन अत्याचारों से मुक्ति का एकमात्र उपाय भारत को स्वतन्त्र कराना है। इस भावना ने उग्रवाद की उत्पत्ति तथा विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

6. **जातीय कटुता का चरमोत्कर्षः**—अंग्रेजों की भारतीयों के प्रति जातीय कटुता की भावना भी उग्र राष्ट्रीयता के जन्म का एक अन्य कारण था। इस समय भारतीयों को अपमानित करना अंग्रेजों के जीवन का एक अंग बन गया था। फिर भी उन्हें ब्रिटिश सरकार द्वारा कोई दण्ड नहीं दिया जाता। यहाँ तक कि कोई अंग्रेज किसी भारतीय की हत्या भी कर देता, तो उसे नाम मात्र का दण्ड दिया जाता था। लार्ड रोनाल्डशे उस समय की दो घटनाओं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रथम, ब्रिटिश सैनिकों ने एक भारतीय स्त्री से बलात्कार किया, जिसके कारण उसकी म त्यु हो गई। परन्तु उस सैनिक को कोई दण्ड नहीं दिया गया। द्वितीय, 1902 में सियालकोट में स्थित घुड़सवार दल के सैनिकों ने एक भारतीय रसोईये को उनके लिए एक देशी स्त्री का प्रबन्ध करने को कहा। जब उसने इस कार्य को करने से इन्कार कर दिया तो सैनिकों ने उसे मार डाला। लार्ड कर्जन ने जातीय कटुता की नीति को और भी प्रोत्साहन दिया। उसने अपने भाषण में कहा था कि पश्चिमी लोगों में सभ्यता और पूर्वी लोगों में मक्कारी पाई जाती है।

इन अपराधों और हत्याओं से दुर्भाग्यपूर्ण बात यह भी थी कि आंग्ल भारतीय समाचार पत्र खुले रूप से अंग्रेजों को भारतीयों से दुर्व्यवहार करने की भावना को प्रोत्साहन देते थे। सरकार भी उन्हें दण्ड देने के स्थान पर प्रोत्साहन देती थी। लाहोर से प्रकाशित आंग्ल भारतीय दैनिक 'दी सिविल एण्ड मिलिटरी गजट' तो भारतीयों को जी भरकर गालियाँ देता था और शिक्षित भारतीयों के लिए बी०ए० वर्ण संकर, बी०ए० गुलाम, घुडसवार, भिखारी, दास जाति एवं कलंकी जाति आदि अपमानजनक शब्दों का प्रयोग किया जाता था। अंग्रेजों की जातीय कटुता की नीति ने स्वाभिमानी भारतीयों में प्रतिशोध ा की भावना उत्पन्न की और वे उग्रवादी बन गए।

7. **विदेशी घटनाओं का प्रभावः**—इस काल में विदेशों में कुछ ऐसी घटनाएँ घटी जिन्होंने भारतीयों को बहुत अधिक प्रभावित किया। इन घटनाओं के परिणामस्वरूप भारतीयों में उत्साह और साहस की भावना का संचार हुआ। इससे भारतीयों में राष्ट्रीयता की उग्र

भावनाएँ उत्पन्न हुई। कारण, भारतीय अपनी मात भूमि को स्वतन्त्र करवाने के लिए बेचैन हो उठे। सर हेनरी काटन ने इन घटनाओं के प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखा है, "आयरलैण्ड के प्रश्न को क्रमिक निराकरण में आशा की किरणें दिखलाई पड़ी। इन सबसे बढ़कर जापान था, उसकी जनता के चरित्र ने बहुत प्रेरणा दी और इस बात का आदर्श प्रस्तुत किया की किसी देश की जनता की देशभक्ति पूर्ण भावना क्या कर सकती है।" भारत पर निम्नलिखित विदेशी घटनाओं का विशेष प्रभाव पड़ाः—

(i) मिस्त्र, फारस व तुर्की की जनता को स्वतन्त्रता संग्राम में सफलता प्राप्त हुई थी। इससे भारतीयों को काफी प्रोत्साहन मिला।

(ii) 1896 में अफ्रीका के एक छोटे से राष्ट्र अबीसीनिया ने इटली को। पराजित कर दिया। गैरेट के शब्दों में, "इटली की हार ने 1897 में तिलक के आन्दोलन को बड़ा बल प्रदान किया।"

(iii) 1905 में एशिया के एक छोटे से देश जापान ने एक विशाल देश रूस को पराजित कर दिया। इस घटना से भारतीयों में यह भावना उत्पन्न हुई कि देश भक्ति, बलिदान तथा राष्ट्रीयता की भावना को अपने जीवन में उतार कर ही वे ब्रिटिश साम्राज्य के अन्याय से छुटकारा पा सकते है।

(iv) इसी समय मैजिनी, गैरीबाल्डी तथा ठाकुर जैसे राष्ट्रवादियों के प्रयासों से इटली का एकीकरण हुआ। इसका भी भारतीयों पर विशेष प्रभाव पड़ा। श्री गुरमुख निहाल सिंह के शब्दों में, "मैजिनी के जीवन और कृतियों पर भारतीय भाषाओं में पुस्तके लिखी गई, अनुवाद किए गए और भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने अपने देश वासियों से स्वदेश प्रेम जाग्रत करने के लिए इटली के उदाहरण से काम लिया।"

विदेशों में घटित इन घटनाओं ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत अधिक प्रभावित किया। इसके बाद भारतीयों को यह विश्वास हो गया कि यूरोपीय शक्तियाँ अजेय नहीं है और उनको भी पराजित किया जा सकता है। इससे भारतीयों में राष्ट्रीयता की लहर दौड़ पड़ी। अब भारतीयों ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उग्र नीति का निश्चय कर लिया।

8. **पश्चिम के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का प्रभावः**—पश्चिम के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों ने उग्रवादी आन्दोलन की उत्पत्ति तथा विकास में बहुमूल्य सहायता दी। अमेरीका, फ्रांस, जर्मनी तथा इटली आदि देशों में स्वतन्त्रता संग्रामों से यह स्पष्ट हो गया कि वैधानिक साधनों द्वारा स्वाधीनता प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है। शक्ति, विद्रोह और क्रान्ति का मार्ग स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए अवश्य मेव है। आयरलैण्ड का आदर्श भारतीयों के समक्ष था, जहाँ के देशवासियों ने अपने को स्वतन्त्र कराने के लिए रक्तपात का आश्रय लिया था। सारांश यह है कि भारतीयों को यह विश्वास हो गया था कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए शक्ति और क्रान्तिकारी मार्ग अपनाना ही होगा। इससे उग्रवादी विचारधारा को विशेष बल मिला।

9. **बाल, लाल और पाल का योग्य नेत त्वः**—भारत में उग्र राष्ट्रीयता के उदय का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय एवं विपिन चन्द्रपाल का योग्य नेत त्व था। मात भूमि के अनन्य भक्त बाल गंगाधर तिलक विदेशी नौकर शाही के कट्टर शत्रु थे। वे कहा करते थे, "अच्छी विदेशी सरकार की अपेक्षा हीन स्वदेशी सरकार श्रेष्ठ है एवं स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और इसे मैं प्राप्त करके रहूँगा।"

तिलक उदारवादियों की भाँति ब्रिटिश शासन को भारत के लिए उपयोगी नहीं मानते थे और न ही राजनीतिक भिक्षाव त्ति की नीति में उनका विश्वास था। इसके विपरीत वे विदेशी शासन को भारत की समस्त कठिनाईयों का मूल कारण मानते थे और स्वेदशी राज्य को उसकी अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ मानते थे। वे विदेशी राज्य को घ णा की द ष्टि से देखते थे। इसकी पुष्टि उनके 15 जून 1897 ई० के उस लेख से होती है जिसमें उन्होंने लिखा था, "यदि हमारे घर में चोर आए और हमारे में उन्हें बाहर निकालने का सामर्थ्य नहीं, तो हमें बिना किसी झिझक के उन्हें घर के अन्दर बन्द करके जला देना चाहिए।" तिलक का मानना था कि राजनीतिक भिक्षाव त्ति से स्वाधीनता का लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता। अतः हमें उसके स्थान पर जन जाग ति तथा जन आन्दोलन के मार्ग को अपनाना चाहिए। उनका यह भी विश्वास था कि भारतीयों को सरकार के अत्याचारों का सामना शक्ति तथा उत्साह से करना चाहिए और मात भूमि के लिए दण्ड भुगतने में भी गौरव का अनुभव करना चाहिए। इस प्रकार तिलक ने अपने सशक्त भाषणों एवं लोक-प्रिय नारों से भारतीयों में निडरता, वीरता, देशभक्ति तथा आत्मत्याग की भावनाओं को जाग त किया अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सरकार से संघर्ष करना सिखाया इसके अतिरिक्त उन्होंने शिवाजी उत्सव व गणपति उत्सव आदि के माध्यम से देश वासियों में राष्ट्रीय चेतना का संचार किया। डॉ० ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं, "उनके उपदेश, संगठन, पद्धति, विदेशी विरोधी प्रचार और व्यायामशालाओं ने विद्रोह के ऐसे बीज बोए, जिनके अत्यधिक व्यापक परिणाम हुए।" वे आगे लिखते है, "लोकमान्य तिलक ने अपनी शिक्षाओं, कार्य विधि तथा प्रचार के द्वारा भारतीय जनता की सरकार के प्रति विरोध भावना को जाग त किया और उन्हें विदेशी राज्य का शत्रु बना दिया।" तिलक ने भारतीयों को अपनी मात भूमि के लिए मर मिटने की प्रेरणा दी।

इस दिशा में लाला लाजपतराय, विपिन चन्द्र पाल और अरविन्द घोष ने तिलक के योग्य सहयोगियों के रूप में उग्रवादी आन्दोलन की महान सेवाएँ की। उन्होंने कांग्रेस की पुरानी भिक्षाव त्ति की नीति का विरोध किया और भारतीयों को उसके स्थान पर आत्मनिर्भरता की नीति का उपदेश दिया, ताकि वे द ढ़ता से सरकार का विरोध कर सके। लाला लाजपतराय ने कहा, "अंग्रेज भिखारी से अधिक घ णा करते है और मैं सोचता हूँ भिखारी घ णा के पात्र हैं भी। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम यह सिद्ध कर दें कि हम भिखारी नहीं है।" बिपिन चन्द्रपाल ने बंगाल की जनता में जाग ति उत्पन्न करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्हें बंगाल में 'तिलक का सेनापति' कहा जाता था। इन प्रयासों के कारण पंजाब और बंगाल राष्ट्रीय आन्दोलन की इस नई धारा के केन्द्र बन गए और प्रान्तों के नवयुवकों ने इस आन्दोलन में बढ़-चढ़ कर भाग लिया। परिणाम-स्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन जन आन्दोलन में परिवर्तित हो गया।

10. **कर्जन के पूर्वगामी शासकों की अदूरदर्शिताः**—उग्रवाद के विचार में राजनीतिक कारणों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। ब्रिटिश सरकार तथा भारत स्थित उनके वायसरायों की प्रतिक्रियावादी नीतियों ने भारतीयों में विद्रोह की भावना को जगाया। सन् 1892 से 1904 ई० तक इंग्लैण्ड के राजनीति तथा शासन पर उग्र साम्राज्यवादी अनुदार दलों का अधिकार था। यह दल भारतीयों को राजनीतिक अधिकार देने के पक्ष में नहीं था। इस काल में भारत में तीन वायसराय आए—(i) लार्ड लैन्सडाउन (1888-1894) (ii) लार्ड एल्गिन द्वितीय (1894-99) (iii) लार्ड कर्जन (1899-1905) ये तीनों प्रतिक्रियावादी नीति के समर्थक थे। उनकी भारतीयों की माँगों के प्रति जरा भी सहानुभूति नहीं थी इसलिए उन्होंने कठोर प्रतिक्रियावादी नीति अपनाई। लार्ड लैन्सडाउन की नीति का विरोध करते

हुए गोखले जैसे उदारवादी नेता ने 1892 ई० में कहा था, "सरकार शिक्षा, स्थानीय स्वशासन तथा राजकीय सेवाओं में जिस प्रतिगामी नीति का अनुसरण कर रही है, उसके परिणाम सरकार के लिए भयानक सिद्ध हो सकते हैं।"

लार्ड एल्गिन के समय सरकार में भयंकर अकाल पड़ा। तब उसने जनता को राहत पहुँचाने के लिए कोई विशेष कदम नहीं उठाए तथा दूसरी ओर दिल्ली में एक शानदार समारोह आयोजित किया गया, जिसमें लाखों रुपये खर्च किए गए। इसलिए लाला मोहन घोष ने 1903 ई० में मद्रास कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में सरकार की तीव्र आलोचना करते हुए कहा था, "जितने लाख रुपया दिल्ली दरबार में खर्च किया गया, यदि उससे आधा भी अकाल को दूर करने के लिए खर्च किया जाता, तो लाखों नर-नारियों की जान बच जाती। क्या इंग्लैण्ड फ्रांस अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका ये सरकार इतना पैसा ऐसे दरबारों पर नष्ट करती, जबकि देश में लाखों व्यक्ति भूख से मर रहे हों।" एल्गिन की नीति से भारतीयों में असन्तोष की भावना का तीव्र गति से विकास हुआ। लार्ड एल्गिन के शासन के अन्तर्गत 1897 में बाल गंगाधर तिलक पर राजद्रोह का अपराध लगाकर 18 महीने के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। इसी प्रकार नाटूबन्धू जो दक्षिण के प्रभावशाली जमींदार थे, पर एल्गिन को यह सन्देह हो गया था कि वे क्रान्तिकारी संस्थाओं को सक्रिय सहयोग देते हैं। इसी आधार पर उसकी सम्पत्ति जब्त करके उसको देश निकाला दे दिया गया। लार्ड एल्गिन ने रिटायर होते समय शिमला युनाईटेड सर्विसेज क्लब में भाषण देते हुए मूर्खतापूर्ण बात कही, " भारत को तलवार के बल पर विजित किया गया और तलवार के बल पर ही इसकी रक्षा की जाएगी।" इन वायसरायों की प्रतिक्रियावादी निति के परिणामस्वरूप जनता का अंग्रेजों की न्यायप्रियता से विश्वास उठ गया और उनके मन में अंग्रेजों के प्रति सहानुभूति समाप्त हो गई। रमेशचन्द्र दत्त के अनुसार, "अंग्रेजों की न्याय भावना से जनता का विश्वास ऐसा हिल गया था, जैसाकि पहले कभी नही।"

(11) लार्ड कर्जन की दमनकारी नीतिः (1899-1905):—जिन दिनों भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति असन्तोष बढ़ रहा था उन्हीं दिनों 1899 में लार्ड कर्जन भारत के वायसराय बनकर आए। यह बड़ा स्वेच्छाचारी व्यक्ति था। यद्यपि वह कुशल प्रशासक था, तथापि वह भारतीय से घ णा करता था। उसने अपने भाषणों में भारतीयों की प्रति अपमानजनक शब्द कहे। 1904 में उसने भाषण देते हुए यह घोषणा की, "सिविल सर्विस के उच्च पद केवल यूरोपियनों के पास ही रहने चाहिए, क्योंकि शासक जाति के सदस्य होने के नाते वे अधिक योग्य और श्रेष्ठ है।" इस कथन से स्पष्ट है कि अन्य यूरोपिय लोगों को भारतीयों से हर द ष्टि में उच्च मानता था। फरवरी 1905 में कर्जन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में कहा था, "सत्य का उच्च आदर्श अधिकतर पश्चिमी विचार है। इस आदर्श ने पहले पश्चिमी नैतिक परम्परा में उच्च स्थान लिया। बाद में यह आदर्श पूर्व में आया, जहाँ पहले चलाकी तथा कुटिलता आदर पाती रहती थी।"

लार्ड कर्जन साम्राज्यवादी नीति में विश्वास करता था। वह भारतीय एकता को दुर्बल करके भारतीयों की राष्ट्रीय भावना का गला घोटना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने अपने शासनकाल में कार्यक्षमता के नाम पर अपनी भारत विरोधी नीति को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। गोखले ने उनके बारे में सत्य ही कहा था, "कर्जन ने ब्रिटिश साम्राज्य के लिए वही कार्य किया, जो मुगल साम्राज्य के लिए औरंगजेब ने किया।" लार्ड कर्जन यह समझता था, "भारत में न केवल उच्च कोटि की राजनीतिक समस्याएँ वरन्

मनोवैज्ञानिक समस्याएँ भी उतनी ही महत्त्व रखती हैं और लार्ड कर्जन में बुद्धिमानी तथा योग्यता होते हुए भी उसमें आत्मिक भावना या द ष्टि का अभाव था, जो एक सफल राजनीतिज्ञ में होना अनिवार्य है।"

लार्ड कर्जन ने अपने शासन काल में अनेक भारत विरोधी कार्य किए, उनका उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है।

(i) **केन्द्रीयकरण की नितिः**—लार्ड कर्जन ने प्रारम्भ से ही केन्द्रीयकरण की नीति अपनाई वह स्वीकृत तथा केन्द्रीय शासन में विश्वास रखता था। वह भारतीयों को उच्च पदों के लिए अयोग्य समझता था और उन्हें शासन कार्य का भार देने के पक्ष में नहीं था। उसके कार्यों से भारतीयों को यह विश्वास हो गया कि वह साम्राज्यवाद को और अधिक सुद ढ़ कर रहा है।

(ii) **कलकत्ता कार्पोरेशन एक्ट (1900):**—लार्ड कर्जन ने सर्वप्रथम भारतीय स्वशासन संस्थाओं पर प्रहार किया। उसने 1900 ई० में 'कलकत्ता कार्पोरेशन एक्ट' पारित किया जिसके द्वारा कलकत्ता कार्पोरेशन के सदस्यों की संख्या 75 से कम कर 50 कर दी गई। इस अधिनियम का उद्देश्य यह था कि निगम तथा उसकी समितियों में निर्वाचित भारतीय सदस्य अल्पमत में रह सकें। और सरकारी सदस्यों का बहुमत हो जाए ताकि निगम पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण हो जाए और सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य मनमाने ढंग से सरकार के आदेशों का पालन करे एवं भारतीयों को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करने से वंचित रखा जा सके। सरकार के इस कार्य से जनता में तीव्र गति से असन्तोष फैला। अतः इसके विरोध में निगम के 28 भारतीय सदस्यों ने त्याग पत्र दे दिया, किन्तु सरकार पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

(iii) **भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम (1904):**—लार्ड कर्जन भारतीय विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियन्त्रण स्थापित करने की द ष्टि से 1904 में 'भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम' पारित किया। रोनाल्डसे के अनुसार, "इस अधिनियम द्वारा लार्ड कर्जन विश्वविद्यालय की सीनेट का यूरोपीयकरण करना चाहता था और उसका वह सरकारी विश्वविद्यालयों में परिणत करना चाहता था।" इस अधिनियम के द्वारा विश्वविद्यालयों की सिंडिकेट तथा सीनेट के सदस्यों की संख्या में कमी कर दी गई। इस प्रकार इस अधिनियम ने विश्वविद्यालयों की आन्तरिक स्वतन्त्रता को नष्ट कर दिया और उन पर सरकारी अधिकारियों का नियन्त्रण स्थापित कर दिया गया। रोनाल्डशे इस सम्बन्ध में लिखा है, "इस अधिनियम से शिक्षित भारतीयों में बड़ा असन्तोष फैला और उन्होंने यह ठीक ही अनुभव किया कि शासन विश्वविद्यालय प्रणाली पर प्रहार करना चाहता था।"

(iv) **शासकीय गोपनीयता अधिनियमः**—1904 ई० में 'शासकीय गोपनीयता अधिनियम' पारित किया गया, जिसके अनुसार सरकारी कार्यकलापों का भेद देना दण्डनीय बना दिया गया और समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता को सीमित कर दिया गया। अब समाचार पत्रों में सरकार की कोई आलोचना नहीं की जा सकती थी। प्रेस की स्वतन्त्रता पर आघात भारतीयों के लिए असहनीय घटना थी।

(v) **वैदेशिक क्रान्तिः**—लार्ड कर्जन साम्राज्यवादी नीति का प्रबल समर्थक था। उसने भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा के द ष्टिकोण से पड़ोसी देशों को अपनी ओर मिलाने

का प्रयास किया। कर्जन की सीमान्त नीति, तिब्बत, फारस की खाड़ी तथा चीन में सैनिक दस्ते भेजने की घटनाओं से भारतीयों में काफी असन्तोष फैला और उन्होंने इन कार्यों का विरोध किया। कर्जन ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को द ढ़ बनाने हेतु ऐसी सैनिक कार्यवाही की जिससे सैनिक व्यय में व द्धि हो रही थी, जबकी दूसरी ओर जनता भूखों मर रही थी।

(vi) **शान-शौकतः**—लार्ड कर्जन शान-शौकत में विश्वास रखता था। अतः जनवरी 1903 में एक भव्य दरबार का आयोजन कर एडवर्ड सप्तम के भारत का सम्राट होने की घोषणा की। इस दरबार पर टिप्पणी करते हुए 1903 के मद्रास में कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए लाल मोहन घोष ने कहा था कि, "जहाँ तक जनता का सम्बन्ध है, इससे ज्यादा निर्दय व कठोर कार्य और क्या हो सकता है कि एक श्रेष्ठ सरकार संसार के सबसे गरीब लोगों पर सबसे ज्यादा कर लगाए और इस तरह से एकत्रित धन को व्यर्थ के नाच तमाशों और अतिशबाजी में फूँक दे, जबकि जनता भूखों मर रही हो।"

(vii) **भारतीयों के प्रति अभद्र व्यवहारः**—इन सबके उपरान्त लार्ड कर्जन ने भारतीयों को प्रताड़ित करने में कोई कसर नहीं रखी। वह भारतीयों को अविकसित जाति मानता था और उनको अयोग्य, पिछड़े तथा उत्तरदायी पदों के लिए अनुपयुक्त समझता था। 1905 ई० में उसने कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में स्नातकों को सम्बोधित करते हुए पढ़े-लिखे भारतीयों को झूठे व बेइमान कहा। इस समय उसने भारतीयों के चरित्र पर आक्षेप करते हुए यहाँ तक कह डाला, "भारवासियों में सत्य के प्रति आस्था नहीं है और वस्तुतः भारतवर्ष में सत्य को कभी आदर्श माना ही नहीं गया है। पाश्चात्य देशों के नैतिक आचरण में सत्य के स्थान पर कूटनीतिज्ञता का प्राबल्य है और भारतीय साहित्य में भी इस आचरण की ही प्रतिष्ठा है।"

कर्जन ने भारतीयों के आत्मसम्मान पर तीव्र आघात करते हुए कहा था, "भारत राष्ट्र नाम की कोई वस्तु नहीं है।" कांग्रेस के विषय में उनकी धारणा थी, "उसकी शीघ्र ही म त्यु हो जाएगी।" लार्ड कर्जन के इन कार्यों का भारत के उग्र तत्त्वों के ही नहीं, अपितु उदारवादियों ने भी तीव्र विरोध किया और इसके विरोध में सम्पूर्ण देश में सार्वजनिक सभाएं आयोजित की गई। इन्द्रविद्या वाचस्पति के अनुसार, "उपयोगितावाद तथा नस्तिकता के प्रवाह मे बहते हुए युरोप के वासियों से 'सत्यमेव जयते' की परम्परा में पले हुए भारतीयों ने जब मर्मभेदी आरोप सुना, तो सम्पूर्ण देश में क्षोभ की एक लहर दौड़ गई।" लार्ड कर्जन के इन कार्यों ने भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना शीघ्र गति से जाग त की और उनका विरोध करने के लिए एनी बेसेन्ट के शब्दों में, "सारा भारत राष्ट्र एक व्यक्ति के रूप उठ खड़ा हुआ।"

(viii) **बंगाल का विभाजनः**—लार्ड कर्जन के काल में सबसे बड़ा मुखर्तापूर्ण पूर्ण कार्य 1905 में किया गया, वह था 'बंगाल का विभाजन'। बंगाल विभाजन का मूल उद्देश्य बंगाल में बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना को कुचलना था, परन्तु उसका उल्टा असर पड़ा। इस घटना ने न केवल बंगाल, वरन् सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रीयता की अभूतपूर्व भावना को जन्म दिया। जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन एक नये युग में प्रविष्ट हुआ। बंगाल विभाजन पर टिप्पणी करते हुए सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने कहा था, "बंगाल के विभाजन की घोषणा आश्चर्यचकित जनता पर एक बम के रूप में पड़ी।

हमने अनुभव किया है कि हमे अपमानित किया गया है, हमारा मजाक उड़ाया गया है और हमसे छल किया गया है और यह कार्य बंगला भाषी जनता की बढ़ती हुई एकता और चेतना पर एक भीषण प्रहार है।" डॉ० रास बिहारी बोस ने भी कहा था कि लार्ड कर्जन ने वे सारे कार्य किए, जो उसे नहीं करने चाहिए थे।

बंगाल विभाजन के पक्ष में सरकार द्वारा यह तर्क दिया गया कि बंगाल जैसे बड़े प्रान्त का शासन सुचारूरूप से चलाने के लिए दो प्रान्त पूर्वी बंगाल और पश्चिमी बंगाल में बाँटना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में प्रशासनिक सुविधा की द ष्टि से ही बंगाल का विभाजन किया जा रहा है। लेकिन वास्तव में जैसा कि डॉ० जकारिया लिखते है, "उद्देश्य और प्रभाव की द ष्टि से बंगाल के विभाजन का कार्य नितान्त क्रूरतापूर्ण था। उस समय बंगाल प्रान्त में बिहार तथा उड़ीसा भी सम्मिलित थे और उसकी कुल जनसंख्या आठ करोड़ थी। ऐसी स्थिति में विभाजन की प ष्ठभूमि में केवल सुशासन का ही विचार होता तो सम्भवतः जनता इस विभाजन का इतना उग्र विरोध नहीं करती, किन्तु उसके पीछे सरकार का वास्तविक उद्देश्य राष्ट्रीयता का गला घोटकर एक मुस्लिम बहूलप्रान्त का निर्माण करना था। इस विभाजन द्वारा लार्ड कर्जन ने बंगाल में हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालकर बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भावना को कुचलना चाहता था, ताकि ब्रिटिश सरकार ढंग से शासन कर सके। लार्ड कर्जन पूर्वी बंगाल में गया, जहाँ पर मुसलमानों का बहुमत था। वहाँ उसने मुसलमानों की एक सभा में कहा कि उनकी सुविधा के लिए ही बंगाल का विभाजन किया जा रहा है, जिससे पूर्वी बंगाल में इस्लाम का प्रभुत्व स्थापित हा जाएगा और हिन्दुओं की प्रधानता समाप्त हो जाएगी। ए०सी० मजुमदार के अनुसार, "लार्ड कर्जन ने मुसलमानों को पक्ष में करने के लिए पूर्वी बंगाल का दौरा किया और अपने भाषणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि बंगाल विभाजन में मेरा उद्देश्य प्रशासकीय सुविधा भर देखना नहीं है, मैं एक मुस्लिम प्रान्त बनाना चाहता हूँ, जहाँ इस्लाम के अनुयायियों का बोलबाला होगा। मुसलमान सुख से रह सकेगें तथा सम द्धिशाली बन सकेगे, क्योंकि उनके ऊपर किसी भी अन्य जाति का प्रभुत्व न रह जाएगा, विभाजन से पूर्वी बंगाल के मुसलमानों को वह एकता प्राप्त होगी, मुसलमान बादशाहों और सुबेदारों के राज के बाद उन्हें कभी नसीब नहीं हुई थी।" इसी प्रकार पूर्वी बंगाल के गवर्नर बैम्बफाइल्ड ने कहा था, "उसकी दो स्त्रियाँ हैं एक हिन्दू, दूसरी मुसलमान, किन्तु वह दूसरी को अधिक चाहता है।"

इस प्रकार लार्ड कर्जन ने पूर्वी बंगाल के मुसलमानों को हिन्दुओं के विरुद्ध भड़का कर वहाँ पर साम्प्रदायिक दंगें करवाए। यह विभाजन राष्ट्रीय एकता के लिए घातक था। इस घोषणा के विरोध में बंगाल में तीव्र आन्दोलन प्रारम्भ हो गया, जो शीघ्र ही सम्पूर्ण भारत में फैल गया। इस विभाजन के विरोध में सभाएँ आयोजित की गई। सरकार को स्म ति पत्र भेजे गए और 70,000 व्यक्तियों के हस्ताक्षरों से युक्त एक प्रार्थना पत्र भी ब्रिटिश संसद के पास भेजा गया, परन्तु उसका सरकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। 16 अक्टूबर 1905 का दिन, जब विभाजन की योजना क्रियान्वित की गई 'राष्ट्रीय शोक दिवस' के रूप में मनाया गया। उदारवादी नेताओं ने इस विभाजन को रद्द करने का हर सम्भव प्रयास किया, परन्तु उन्हें असफलता ही हाथ लगी। उदारवादी नेता गोखले ने कहा था, 'नवयुवक यह पूँछने लगे कि संवैधानिक उपायों का क्या लाभ है, यदि इसका परिणाम बंगाल विभाजन ही होना

था।" बंगाल विभाजन की घोषणा के बाद लोगों का नरम दल में विश्वास समाप्त हो गया।

बंगाल विभाजन का विरोध करने के लिए स्थान-स्थान पर सभाएँ होने लगी तथा वन्देमातरम् का गान करती हुई अनेक टोलियाँ जुलूस के रूप में निकलने लगी। सरकार ने आन्दोलन का दमन करने की भरकस चेष्टा की, परन्तु आन्दोलन दिन-व-दिन जोर पकड़ता ही गया। लोगों ने सरकार की दमन नीति का उत्तर विदेशी कपड़े का बहिष्कार करके और स्वेदशी आन्दोलन को चला कर दिया। कई स्थानों पर विदेशी कपड़ों को होली जलाई गई। वस्तुतः लार्ड कर्जन के इस मुर्खतापूर्ण कार्य ने राष्ट्रीय जीवन में एकता का इतना बड़ा संचार किया, जो वर्षो के प्रयासों से भी सम्भव नहीं हो सकता था। बंग-भंग के परिणाम के सम्बन्ध में गोखले ने ठीक ही कहा था"हमारी राष्ट्रीय प्रगति के इतिहास में बंगाल के विभाजन के परिणामस्वरूप पैदा हुआ जन रोष और भावना का महान् उदप्रेरक चिरस्मरणीय रहेगा।"

उग्रवादियों की राजनीतिक विचारधारा तथा कार्य पद्धति

उग्रवादियों का सर्वप्रथम राजनीतिक उद्देश्य 'स्वराज्य' की प्राप्ति का। उनके अग्रणी नेता तिलक ने यह उद्घोषित किया था कि "स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर रहेंगे।" यद्यपि उदारवादियों की भाँति उग्रवादी भी भारत में स्वशासन चाहते थे, परन्तु उसे प्राप्त करने के ढंग में अन्तर था। उदारवादी ब्रिटिश साम्राजय के अन्तर्गत भारत में स्वशासन स्थापित करना चाहते थे। उनका विचार था ब्रिटिश शासन में सुधार किया जा सकता है एवं क्रमिक सुधार ही उपयुक्त एवं भारत के हित में है। इसलिए वे भारत में ब्रिटिश ढंग की प्रतिनिधित्व संस्थाओं की स्थापना के पक्ष में थे। ताकि भारतीयों में उन संस्थाओं के कुशल संचालन की योग्यता एवं क्षमता उत्पन्न हो सके। अतः वे अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध भारत के लिए हितकारी मानते थे। इसके विपरीत उग्रवादियों का विचार था कि ब्रिटिश शासन में सुधार किया ही नहीं जा सकता था, उसका अन्त किया जाना चाहिए। इस बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए विपिन चन्द्र पाल ने मद्रास में कहा था, "हमें देखना यह चाहिए कि 50, 100, 200 या 300 भारतीय अधिकारी क्या इस सरकार को भारतीय बना देगे? सभी अफसर भारतीय हो जाए, तब भी वे नीति निर्धारित नहीं कर सकते, शासन नहीं चला सकते, वे तो सिर्फ हुक्म बजाते है—अफसर गोरा हो या काला उससे परम्पराएँ न तोड़ी जाए, सिद्धान्त न बदले जाए, गोरे अधिकारी की जगह काले अधिकारियों की नियुक्ति कर देने से स्वराज्य नहीं आएगा।" सर हेनरी काटन के अनुसार, "उग्रवादी भारत में सब प्रकार से मुक्त और स्वतन्त्र राष्ट्रीय शासन प्रणाली की स्थापना करना चाहते थे।" इस प्रकार उग्रवादियों का उदारवादियों के औपनिवेशिक स्वराज्य में विश्वास नहीं था। वे तो अंग्रेज शासन का अन्त कर ऐसा पूर्ण स्वराज्य चाहते थे, जिसकी रचना भारतीय संस्कृति और परम्पराओं के अनुरूप हो। उग्रवादी क्रमिक सुधारों के पक्ष में नहीं थे। वे यह नहीं चाहते थे कि पहले सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में सुधार किए जाएँ जब भारतीय राजनीतिक प्रशिक्षण प्राप्त कर लें, तब स्वशासन की माँग की जाए। उनका मानना था कि पहले स्वराज्य प्राप्त हो जाए, इसके बाद विविध क्षेत्रों में स्वतः सुधार हो जाएँगे। थियोडोट एल. शे द्वारा तिलक की विचारधारा के स्पष्टीकरण से उग्रवादियों का उद्देश्य स्पष्ट होता है, "इस नेता को इस बात का पूर्ण विश्वास था कि स्वराज्य भारत के लिए आवश्यक ही नहीं, बल्कि नैतिक द ष्टि से भी सर्वथा उचित है। उन्होंने लोगों का उपदेश दिया कि हमें स्वराज्य की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि हम यूरोपिय ढंग की नकल करना चाहते है, बल्कि जीवन के सम्बन्ध में भारतीय द ष्टिकोण के अनुसार स्वराज्य हमारी एक

अनिवार्य नैतिक आवश्यकता है। .... श्री तिलक के अनुसार धर्म के लिए ही और धर्म द्वारा ही हम कार्य करते हैं। .... कोई विदेशी सत्ता और कोई विदेशी राजनीतिक विचारधारा भारत के धर्म की रक्षा और अभिव द्धि नहीं कर सकती थी, भले ही वह कितना ही परोपकारी क्यों न हो।"

उग्रवादी और उदारवादी के राजनीतिक विचारों में काफी अन्तर था। उदारवादियों का मानना था कि ब्रिटेन और भारत के हित समान हैं और ब्रिटिश साम्राज्य भारत के हित में है। परन्तु उग्रवादियों के अनुसार भारत और ब्रिटेन के हित परस्पर विरोधी है और ब्रिटिश सरकार को सहयोग करके भारत को कभी भी पूर्ण स्वराज्य प्राप्त नहीं हो सकता। विपिन चन्द्र पाल ने कहा था कि युद्ध के बिना भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। उग्रवादियों का उदारवादियों की भाँति अंग्रेजों की न्यायप्रियता में बिल्कुल विश्वास नहीं था। उदारवादी नेताओं का मानना था कि ब्रिटिश सरकार जैसे ही यह महसूस करेगी कि हमारी माँगें उचित है वह तुरन्त स्वीकार कर लेगी। परन्तु इसके विपरीत लाला लाजपत राय तथा अन्य उग्रवादी नेताओं का यह मानना था, "व्यापारियों का यह राष्ट्र (ब्रिटेन) केवल दबाव की भाषा ही समझता है।" तिलक ने 1907 में कहा था कि ब्रिटिश शासन भारत के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ अतः उसका अन्त करने के लिए एक प्रबल आन्दोलन करना चाहिए। स्पष्ट है कि उग्रवादी भारत में अंग्रेजी राज्य को समाप्त करके पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने के पक्ष में थे।

कार्य पद्धति

लोक मान्य तिलक ने एक बार 'मेनचेस्टर गार्जियन' के प्रतिनिधि नेबिन्सन से कहा था, "अपने उद्देश्यों के कारण नहीं वरन् उसे प्राप्त करने के उपायों के कारण हमें उग्रवादियों की उपाधि मिली है।" उदारवादी संवैधानिक तरीकों में विश्वास करते थे और उनका विचार था कि इन साधनों को आधार बना कर हम स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सफल हो सकते हैं। इसलिए वे अपनी माँग मनवाने के लिए प्रार्थना पत्र, स्म ति पत्र एवं शिष्ट मण्डल आदि सरकार के पास भेजते थे। उग्रवादियों का संवैधानिक तरीकों में विश्वास नहीं था। वे याचना करके अपनी माँगे मनवाना पसन्द नहीं करते थे। उनका विश्वास था कि राजनीतिक सत्ता प्रार्थना करने अथवा राजनीतिक सुधारों की भीख माँगने से नहीं मिलती। उदारवादियों के तरीकों को वे 'राजनीतिक भिक्षाव त्ति' के नाम से पुकारते थे। तिलक ने कहा था कि "हमारा उद्देश्य आत्मनिर्भरता है, भिक्षाव त्ति नहीं।" विपिनचन्द्र पाल का कहना था कि स्वराज्य स्वावलम्बन के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है। वे कहा करते थे, "हमें अपनी राष्ट्रीय शक्तियों को इस प्रकार संगठित करना चाहिए कि कोई भी शक्ति जो हमारे विरुद्ध हो, हमारे सम्मुख झुकने के लिए बाध्य हो जाए।" पुनः उन्होंने कहा था कि, "यदि सरकार मेरे पास आकर कहे कि स्वराज्य ले लो, तो ये उपहार के लिए धन्यवाद देते हुए कहूँगा कि मैं उस वस्तु को स्वीकार नहीं कर सकता, जिसको प्राप्त करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है।"

राजनीतिक सुधार तथा भिक्षाव त्ति के विपरीत उग्रवादी विरोधी आन्दोलन के समर्थक थे। 1905 में लाला लाजपतराय ने कहा था कि भारतीयों को आत्मनिर्भर बनना चाहिए और ब्रिटिश सरकार से सहयोग की उम्मीद नहीं करनी चाहिए। उग्रवादियों का मानना था कि भारतीयों को मात भूमि के लिए कष्ट सहन करने एवं त्याग करने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए। उनका विचार था कि प्रार्थना लिखने, भाषण देने और प्रस्ताव पास करने से स्वराज्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतः जनता को जाग त करके राजनीतिक आन्दोलन द्वारा सरकार पर अधिक-से-अधिक दबाव डालना चाहिए। उग्रवादियों का विश्वास निष्क्रिय प्रतिरोध अथवा सत्याग्रह में था। इस निष्क्रिय प्रतिरोध के बारे में विपिन चन्द्र पाल ने कहा था, "सरकार के कार्यों को कई प्रकार से ठप्प किया जा सकता है। ऐसा सम्भव नहीं है कि प्रत्येक मजिस्ट्रेट कार्य करने से इन्कार कर दे तथा एक व्यक्ति के

त्याग पत्र देने पर उसके स्थापन पर कोई दूसरा व्यक्ति न मिले। परन्तु यह भावना सारे देश में जाग त हो जाय, तो समस्त सरकारी कार्यालयों में हड़ताल की जा सकती है—हम उस भारतीय की स्थिति, जो सरकारी कर्मचारी है, ऐसा कर सकते है कि जैसे वह भारतीय नागरिक के सम्मान के नीचे गिर गया हो।"लाला लाजपतराय ने निष्क्रिय प्रतिरोध के दो लक्षण बतलाए थे। प्रथम, भारतीयों के मन में से यह भावना दूर करना कि ब्रिटिश सर्वशक्तिशाली है और भारत का हित उसका मुख्य उद्देश्य है। द्वितीय, देशवासियों में स्वतन्त्रता के लिए त्याग व कष्ट सहन करने की क्षमता उत्पन्न करना।

बहिष्कार, स्वदेशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा

जिस प्रकार, उग्रवादी के साधन प्रार्थना पत्र-स्म ति पत्र एवं शिष्ट मण्डल थे। उसी प्रकार उग्रवादियों के साधन बहिष्कार-स्वदेशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा थे। बहिष्कार से तात्पर्य, विदेशी वस्तुओं, सरकारी नौकरियों, प्रतिष्ठानों तथा उपाधियों का बहिष्कार था। उग्रवादियों का विश्वास था कि बहिष्कार का प्रभाव सीधा ब्रिटिश सरकार पर पड़ेगा। लाला लाजपतराय ने कहा था—"दुकानदारों की जाति ब्रिटिश राष्ट्र को, नैतिकता के ऊपर आश्रित तर्कों की अपेक्षा व्यापार में घाटा होने की बात अधिक प्रभावित कर सकती है।" अरविन्द घोष के अनुसार, "बहिष्कार का अन्तिम उद्देश्य भारत में विदेशी साधन को पंगु बना देना था। उनकी द ष्टि से आर्थिक माल का बहिष्कार उस व्यापक बहिष्कार का एक अंग था, जिसके अनुसार हर वस्तु का बहिष्कार कर देना था, जो कि ब्रिटिश हो।" बहिष्कार के आन्दोलन में निहित विचारधारा को स्पष्ट करते हुए उन्होंने पुनः लिखा है, "हम अपने मुख सरकारी भावनाओं से हटाकर साधारणजनों की कुटिया की तरफ ले जाना चाहते हैं। बहिष्कार आन्दोलन का यही मनोवैज्ञानिक, यही नैतिक और यही आध्यात्मिक महत्त्व है।" स्वेदशी से तात्पर्य स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करना एवं स्वदेशी व्यवस्था की स्थापना से था। उग्रवादी स्वदेशी को ही मुक्ति का मार्ग समझते थे।

उदारवादी और उग्रवादियों के व्यक्तित्व और विचारधारा में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर था। उदारवादी पाश्चात्य शिक्षा के परिणाम थे। अतः उनका झुकाव पश्चिमी शिक्षा की ओर था। इसके विपरीत उग्रवादी भारतीय धार्मिक और सांस्क तिक नवजागरण के परिणाम थे। अतः वे राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के समर्थक थे, जिसमें भारतीयों का राष्ट्रीय हित निहित था। विपिन चन्द्र पाल ने कहा था, राष्ट्रीय शिक्षा वह शिक्षा है जो राष्ट्रीय रूपरेखाओं के आधार पर चलाई जाए, जो राष्ट्र के प्रतिनिधियों द्वारा नियन्त्रित हो, और जो इस प्रकार नियन्त्रित तथा संचाालित की जाए कि राष्ट्रीय भाग्य की प्राप्ति का उद्देश्य बने।'' इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु तिलक ने 'दक्षिण शिक्षा समाज' नामक संस्था की स्थापना की।

अन्य विशेषताएँः—उग्रवादियों की कुछ अन्य विशेषताएँ निम्नलिखित है।—

1. उग्रवादी पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्क ति से घ णा करते थे और भारतीय सभ्यता तथा संस्क ति को उससे श्रेष्ठ तथा उच्च मानते थे। उन्हें भारत के धर्म जागरण से विशेष प्रेरणा मिली थी।
2. उग्रवादियों को ब्रिटिश जाति की न्याय प्रियता, उदारता एवं सर्वशक्तिशीलता में तनिक भी विश्वास नहीं था।
3. उग्रवादी स्वराज्य के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति और परम्पराओं के अनुरूप देशवासियों का चरित्र निर्माण करना चाहते थे।
4. उग्रवादियों का ईश्वर, राष्ट्र एवं आत्मनिर्भरता में विश्वास था।

5. भारतीयों में नई राष्ट्रीयता को जगाना और त्याग व कष्ट सहने के मार्ग को अपनाना उग्रवादियों के प्रमुख साधन थे।

6. उग्रवादियों का मानना था कि भारत और ब्रिटेन के आर्थिक हितों में विरोध है। उनके अनुसार, ब्रिटेन की आर्थिक नीति के कारण भारत दिन-ब-दिन निर्धन होता जा रहा है। अतः वे जल्दी-से-जल्दी ब्रिटेन से आर्थिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध समाप्त करने के पक्ष में थे इसी हेतु उन्होंने बंगाल विभाजन के बाद स्वदेशी आन्दोलन को एक राजनीतिक शस्त्र के रूप में प्रयोग करना चाहा।

बहिष्कार एवं स्वेदशी आन्दोलनों को काफी सफलता मिली। कलकत्ता के एग्लों इण्डियन समाचार पात्र 'दी इग्लिश मैन' ने लिखा था, "यह बिल्कुल सत्य है कि कलकत्ता के गोदामों में कपड़ा इतना भरा हुआ है कि वह बेचा नहीं जा सकता। अनेक मारवाड़ी फर्में नष्ट हो गई है कई बड़ी-से-बड़ी यूरोपिय निर्यात दुकानों को या तो बन्द करना पड़ा है या उनका व्यापार बहुत ही मन्द गति पर आ गया है। बहिष्कार के रूप में राष्ट्र के शत्रुओं ने ब्रिटिश हितो पर कुठाराघात करने का एक अत्यन्त प्रभावशाली शस्त्र पा लिया है।" सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने बहिष्कार आन्दोलन की लोक प्रियता के बारे में लिखा है, "परीक्षार्थियों ने विदेशी कागज की कापियाँ छूने से इन्कार कर दिया, बच्चों ने विदेशी जूते पहनने या ज्वर में विदेशी दवा लेने से इन्कार कर दिया और विवाह में मिली ऐसी विदेशी भेटें भी अस्वीकार की जाने लगी, जो भारत में भी बन सकती थी।"

इन बहिष्कार आन्दोलनों के कारण वस्त्र उद्योग को सहायता देने के लिए राष्ट्रीय कोष में रकम एकत्रित की गई। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने एक सार्वजनिक सभा में 70 हजार रुपए एकत्रित किए थे। इससे वस्त्र उद्योग को अपूर्व सफलता मिली।

उग्रवाद तथा उदारवाद में अन्तर

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की दो धाराएँ रही है—उग्रवादी एवं उदारवादी। उदारवादी दल के नेताओं में दादा भाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता एवं गोपाल क ष्ण गोखले के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, विपिन चन्द्रपाल एवं अरविन्द्र घोष जैसे लोग उदारवादियों के विपरीत 'उग्रवादी' कहे जाते हैं। इन दोनों ही धाराओं का मूल उद्देश्य भारतीय जनता का हित था। उनके लक्ष्य में बहुत कुछ समानता थी, लेकिन उनकी पूर्ति के साधनों में मूल अन्तर था इन दोनों विचारधाराओं के अन्तर को निम्न प्रकार से बतलाया जा सकता है।:—

1. राष्ट्रवाद की इन दोनों धाराओं का उद्देश्य एक ही था-स्वशासन की प्राप्ति, लेकिन स्वशासन से दोनों दलों का आशय भिन्न था। उदारवादी क्रमिक राजनीतिक सुधारों के पक्ष में थे। वे ब्रिटिश शासन की छत्रछाया में प्रतिनिध्यात्मिक संसदीय संस्थाओं की स्थापना करना चाहते थे। इसके विपरीत उग्रवाद किसी भी रूप में ब्रिटिश शासन को बनाए रखने के विरुद्ध थे। उनकी स्वराज्य की धारणा में बिट्रिश साम्राज्य के प्रति भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं था। वे भारतीयता पर आधारित स्वराज्य तथा ब्रिटेन से शीघ्रातिशीघ्र सम्बन्ध विच्छेद करने के पक्ष में थे।

2. उदारवादियों को अंग्रेजों की न्यायप्रियता तथा परोपकारिता में पूर्ण विश्वास था। उनका सोचना था कि यदि अंगेजों को भारतीय द ष्टिकोण समझाया जाए, तो वे उसे स्वीकार कर लेंगे। इसके विपरीत उग्रवादियों का अंग्रेजों की नीयत तथा उदारता में जरा भी विश्वास नहीं था। श्रीमती एनी बेसेन्ट के अनुसार, "उग्रवादियों को सरकार के अच्छे इरादों में तनिक भी विश्वास नहीं था, जबकि उदारवादियों की आशा का आधार शासन की निश्छलता थी।"

3. इन दोनों धाराओं के साधनों में अन्तर था। उदारवादी संवैधानिक तरीकों का प्रयोग उचित समझते थे। वे अपनी माँगे मनवाने के लिए सरकार को प्रार्थना पत्र, स्म ति-पत्र एवं शिष्ट मण्डल आदि भेजते थे। दूसरे शब्दों में, उदारवादी अपनी माँगें मनवाने के लिए सरकार से प्रार्थना और याचना करते थे। उनरका मानना था कि सरकार आवश्यक सुधार अपनेआप करेगी। इसके विपरीत उग्रवादी इन तरीकों को ना पसन्द करते थे और उन्हें अपनाना अपने आत्म-सम्मान के विरुद्ध भी मानते थे। इसलिए वे इसे राजनीतिक भिक्षाव त्ति की संज्ञा देते थे। वे राजनीतिक भिक्षाव ति की अपेक्षा आत्म-निर्भरता तथा जन-साधारण के कार्य में विश्वास करते थे। उग्रवादी अपनी मांगें मनवाने के लिए स्वदेशी माल का प्रचार, विदेशी माल का बहिष्कार, स्वदेशी संस्थानों का निर्माण और विकास आदि साधनों के अपनाने में बल देते थे। उग्रवादियों का मानना था कि अंग्रेज सरकार भिक्षा देनेवाली नहीं है। यदि हमें पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना है, तो संघर्ष करना होगा। इसके लिए वे त्याग और कष्ट सहने को आवश्यक मानते थे।

4. उदारवादियों के विचार में ब्रिटेन तथा भारत के हितों में कोई गम्भीर विरोध नहीं था। वे ऐसा सोचते थे कि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भी भारत का हित सम्भव है। किन्तु इसके विपरीत उग्रवादियों की धारणा थी कि ब्रिटेन तथा भारत के हित एक दूसरे के विरुद्ध हैं अंग्रेजों का उद्देश्य अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति करना है वे भारत का हित बिल्कुल नहीं चाहते। अतः भारत के विकास के लिए अंग्रेजों में सहयोग की आशा व्यर्थ और निर्मूल है। ब्रिटिश शासन भारत के विकास में कभी भी सहायक हो ही नहीं सकती ऐसी उसकी मान्यता थी।

5. उदारवादी पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति से प्रभावित थे, इसलिए वे पश्चिमीकरण के प्रबल समर्थक थे। इसके विपरीत उग्रवादी प्राचीन हिन्दू धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति तथा उसके आधार पर विकसित हिन्दू राष्ट्रीयता के पोषक थे। उदारवादियों की प्रेरणा पश्चिम से मिली थी जबकि उग्रवादियों को पूर्व से।

6. उदारवादी 'आरामकुर्सी' की राजनीति में विश्वास रखते थे। गोखले जैसे नेता को छोड़कर सामान्यतः वे देश हित के लिए त्याग और कष्ट सहने के लिए तैयार नहीं थे। इसके विपरीत उग्रवादी देश हित के लिए त्याग और कष्ट सहने को आवश्यक मानते थे। अरबिन्द घोष ने कहा था, 'हमारा वास्तविक शत्रु कोई बाहरी शत्रु नहीं, बल्कि हमारी अपनी शिथिलता और कायरता है। एक अधीन राष्ट्र स्वतन्त्रता द्वारा उन्नति के द्वार खोलता है और स्वतन्त्रता के लिए बलिदान की आवश्यकता है। राजनीति की आराम कुर्सी पर बैठकर विदेशी सत्ता नहीं दिलाई जा सकती। भारत अपने पराक्रम और शक्ति से ही विदेशी शासन का विरोध कर सकता है।"

   उदारवादी और उग्रवादी राष्ट्रीय आन्दोलन में अन्तर बताते हुए लाला लाजपत राय ने लिखा है, "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्मदाताओं ने अपना आन्दोलन शासन की प्रेरणा से और उच्च पदों की छाया में या उच्च पद ग्रहण करने की आकांक्षा से प्रारम्भ किया। लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन के संचालकों ने अपना प्रचार शासन और शासकीय कृपा के बहिष्कार से आरम्भ किया। पूर्ववर्ती नेता ब्रिटिश शासन और ब्रिटिश राष्ट्र से अपील करते थे, जबकि ये उग्रवादी नेता अपने देशवासियों और अपने ईश्वर से अपील करते थे।"

निष्कर्ष - उदारवादियों तथा उग्रवादियों में उपरोक्त अन्तर होते हुए भी दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं थे, अपितु सच्चे देशभक्त तथा देश प्रेमी थे। अतः उन्हें एक दूसरे का पूरक कहना अधिक उपयुक्त होगा। श्री रामनाथ सुमन ने 'हमारे राष्ट्र निर्माता' नामक पुस्तक में लिखा है, "जब

हम नरम व गरम दोनों दलों की प्रव त्तियों का विश्लेषण तथा अध्ययन करते है तो यह स्पष्ट होता है कि हमारी राष्ट्रीयता के विकास में दोनों एक दूसरे के पूरक है और दोनों हमारी राजनीति के स्वाभाविक उपकरण है। वस्तुतः वे दोनों एक ही आन्दोलन के दो पक्ष हैं। एक ही दीपक के दो परिणाम है। पहला प्रकाश का द्योतक है तो दूसरा उपमा का। पहला बुद्धिपक्ष है, दूसरा भाव पक्ष। पहला जहाँ कुछ सुविधाएँ प्राप्त करना चाहता था, वहाँ दूसरे का उद्देश्य राष्ट्र में मानसिक परिवर्तन करना था।" सर जॉन कमिंग वे अपनी पुस्तक 'राजनीतिक भारत' में इन दोनों दलों के बारे में लिखा है कि "कांग्रेस के सम्पूर्ण इतिहास में, समय-समय पर बने दलों के नामों के नीचे, तरीकों के आधार पर विभाजित दो विचारधाराएँ देखी जा सकती है एक विचारधारा के मानने वालों ने भारत के लिए स्वशासन व स्वराज्य निर्धारण के ध्येय के अपनाया जिसके दर्शन ब्रिटिश उग्रवादियों जैसे रहे और इसके तरीके संसद के विरोधी दल जैसे रहे। इस दक्षिण पंथी विचारधारा (Rightist School of Thought) कह सकते हैं। दूसरी अर्थात् वामपंथी विचारधारा के समर्थकों ने स्वशासन के ध्येय को, वर्तमान संस्थाओं को क्षीण बनाकर उसके स्थान पर नई संस्थाएँ निर्मित करने के द्वारा प्राप्त करना चाहता है। इसका सुझाव 'सीधी और असंसदीय कार्यवाहियों की ओर रहा है।"

उग्रवादी आन्दोलन की प्रगति
कांग्रेस में फुट (गरम दल तथा नरम दल)

बनारस के कांग्रेस अधिवेशन में उग्रवादी दल का जन्म

भारतीय राजनीति में उग्रवाद के उदय से कांग्रेस संगठन का प्रभावित होना नितान्त आवश्यक था। 1905 ई० में कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में बाल गंगाधर तिलक तथा उनके कुछ समर्थकों ने उदारवादियों की कार्यविधि की आलोचना करते हुए उसे राजनीतिक भिक्षाव त्ति की संज्ञा दी और एक नई नीति अपनाने का सुझाव दिया। अरविन्द के शब्दों में - ''इस नीति का सार यह था कि सरकार के साथी उस समय तक असहयोग किया जाना चाहिए, जब तक कि वह भारतीयों को प्रशासनिक तथा वित्तीय क्षेत्र में अधिक अधिकार न दे।'' उग्रवादियों ने कहा कि कांग्रेस निष्क्रिय प्रतिरोध के मार्ग को अपनाकर ही भारत के राष्ट्रीय जीवन पर से विदेशी नौकरशाही के प्रभुत्व का अन्त कर सकती है। उन्होंने यह भी कहा कि ब्रिटिश माल और सरकारी शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार किया जाए एवं स्वदेशी के पक्ष में आन्दोलन चलाया जाए। परन्तु यह बात उदारवादियों के गले नहीं उतरी। उनका विचार था कि इसे अपनाने से भारत की राष्ट्रीय प्रगति में बाधा पड़ेगी। उदारवादियों का अब भी ब्रिटिश न्याय भावना और संवैधानिक साधनों की प्रभावदायकता में विश्वास था।

इसी अधिवेशन में कांग्रेस के दोनों वर्गों द्वारा 'स्वराज्य' की अलग-अलग ढंग से व्याख्या की गई। उदारवादियों के अनुसार इसका तात्पर्य ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना करना था। इसके विपरीत उग्रवादी इसका आशय पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने में लेते थे। परस्पर विरोधी विचारों के कारण बनारस अधिवेशन में कांग्रेस के दो दल बल गए थे। उन दिनों 'प्रिंस ऑफ वेल्स' भारत आनेवाला था। अतः उदारवादियों ने एक प्रस्ताव रखा कि उसका स्वागत किया जाना चाहिए। सर्वप्रथम लाला लाजपत राय ने इस प्रस्ताव का विरोध करते हुए कहा था, "देश में भीषण दुर्भिक्ष है, 'त्राहि-त्राहि मची हुई है और लोग भूख से मर रहे हैं। इसके अतिरिक्त लॉर्ड कर्जन के शासन ने भारी असन्तोष उत्पन्न कर दिया है। ऐसे अवसर पर युवराज को आमन्त्रित करना नौकरशाही की चालाकी है। उनका वास्तविक उद्देश्य जनता का ध्यान राजनीतिक असन्तोष से हटाकर जुलूसों और तमासों की ओर लगाना है। हमें उनके धोखे में नहीं आना चाहिए।" बाल गंगाधर तिलक सहित अनेक नवयुवक ने लाला जी के इस विचार का समर्थन किया।

उग्रवादी दल का जन्म 1907 ई० में कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में फूट के बाद हुआ, परन्तु नींव बहुत पहले ही रखी जा चुकी थी। उदारवादियों के असफलता के परिणामस्वरूप कांग्रेस के कुछ ऐसे लोगों का पदार्पण हुआ, जो उग्र तथा क्रान्तिकारी मार्ग पर चलने के पक्ष में थे। धीरे-धीरे कांग्रेस दो दलो-नरम और गरम में बँट गई। उदारवादियों का दल नरम दल तथा उग्रवादियों का दल गरम दल कहलाने लगा। दोनों दलों के बीच पहली बार 1905 ई० में बनारस के अधिवेशन में खुला संघर्ष हुआ परस्पर विरोधी विचारों के कारण ही इस अधिवेशन में कोई भी महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित नहीं हो सका। कांग्रेस के अधिवेशन की समाप्ति के बाद उग्रवादियों की प्रथम बैठक हुई। जिसे लोकमान्य तिलक ने सम्बोधित किया इस प्रकार, अनाधिकाररूप से उग्रवादी या गरम दल का जन्म हुआ।

कांग्रेस का कलकत्ता अधिवेशन (1906) और बल परीक्षा

1906 में कलकत्ता अधिवेशन में कांग्रेस के अन्दर गरम और नरम दलों की फूट और भी गहरी हुई। जहाँ उग्रवादी दल नेता तिलक को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाना चाहते थे और वहीं उदारवादी दल इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे। अतः इस प्रश्न पर दोनों दलों में झगड़ा होना अनिवार्य था। ऐसी स्थिति में उदारवादियों ने दादाभाई नौरोजी को इंग्लैण्ड से बुलाकर सभापति पद पर आसीन कर दिया। दादाभाई नौरोजी की उम्र उस समय 82 वर्ष थी। अतः उन्हें भारतवर्ष का पितामह (Great Grand Oldman of India) कहा जाता था गरम दल वालों के हृदय में भी नौरोजी के लिए विशेष सम्मान था। इस प्रकार वयोव द्ध दादाभाई ने अपनी योग्यता और चातुर्य से कांग्रेस में फूट उत्पन्न न होने दी। सी०वाई० चिन्तामणि ने लिखा है "दोनों दलों (गरम और नरम) में जो मतभेद था उसमें निरन्तर व द्धि होती गई तथा 1906 के शीतकाल तक वह ऐसा उग्र होता गया कि 82 वर्ष के वयोव द्ध दादाभाई को इंग्लैण्ड से भारत बुलाकर अध्यक्ष बनाने के अतिरिक्त कांग्रेस का अधिवेशन करना असम्भव प्रतीत हो रहा था। दादाभाई की प्रभावपूर्ण अध्यक्षता में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, वह महान था, परन्तु विषय निर्वाचित समिति के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि मैने जितने अधिवेशन देखे हैं, वह उनमें सबसे अधिक कोलाहल तथा विद्रोह से पूर्ण था। असहिष्णुता का बाजार गर्म था और व द्ध नेताओं के प्रति अभद्रता भी दिखाई गई। अन्त में, भीष्म पितामह दादाभाई के प्रभाव तथा प्रयत्नों से समझौता हुआ। उस समय तो समझौता हो जाने के कारण कांग्रेस का अधिवेशन टुटने से बच गया किन्तु परिणाम अच्छा नहीं हुआ। क्योंकि दोनों पक्ष उस समझौते की अपने अनुकूल व्याख्या करते रहे।"

दादाभाई ने दूरदर्शिता से काम लेते हुए अपने अध्यक्षीय भाषण का प्रारम्भ सर हेनरी बैरनमेन के इस वाक्य से किया, " सुराज्य किसी भी दशा में स्वराज्य का स्थापन नहीं हो सकता।" इस प्रकार उन्होंने कांग्रेस का लक्ष्य 'स्वराज्य' घोषित किया। नौरोजी के सभापति होने पर भी गरम दल वाले स्वराज्य, स्वदेशी आन्दोलन, विदेशी बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा का समर्थन आदि प्रस्ताओं को पास करवाने में सफल हुए। डॉ० आर०सी० मजुदार ने लिखा है, "कांग्रेस अधिवेशन में इस प्रकार के प्रस्ताव पारित होना वस्तुतः उग्र दल की ही विजय थी।" इन प्रस्तावों के पास हो जाने से उग्रवादियों को काफी सन्तोष हुआ तथा कांग्रेस की एकता बनी रही। इस बात का प्रमाण था कि भारतीय राजनीति में उदारवादियों का पहले जैसा प्रभाव तथा सम्मान नहीं रहा था।

सूरत कांग्रेस अधिवेशन में फूट (1907)

कांग्रेस का अगला अधिवेशन, 1907 में सूरत में हुआ, जो कांग्रेस के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। स्वराज्य के अर्थ तथा उसकी प्राप्ति के साधनों को लेकर नरम और गरम दल में तीव्र

मतभेद था। उग्रवादी चाहते थे कि कांग्रेस 'स्वराज्य' की प्राप्ति के लिए सक्रिय आन्दोलन करे जबकि उदारवादी किसी प्रकार का आन्दोलन करने के लिए तैयार नहीं थे। इसी बीच लॉर्ड मिण्टो ने प्रशासनिक सुधारों के सम्बन्ध में घोषणा की, उससे दोनों पक्षों के मतभेद और तीव्र हो गए। परिणामस्वरूप सूरत अधिवेशन में संकट का जन्म हुआ। सूरत अधिवेशन अध्यक्ष के चुनाव के प्रश्न को लेकर दोनों गुटों में फिर मतभेद उत्पन्न हो गया। उग्रवादी सूरत कांग्रेस का अध्यक्ष लाला लाजपत राय को बनाना चाहते थे, जबकि उदारवादी रास बिहारी घोष को। उदारवादियों का इस समय कांग्रेस में बहुमत था, इसलिए ऐसी परिस्थिति में लाला लाजपत राय ने जो सम्मान तथा प्रतिष्ठा के भूखे नहीं थे, उदारता से अपना नाम वापस ले लिया। परिणामस्वरूप नरम दल के स्तम्भ डॉ० रास बिहारी घोष इस अधिवेशन के सभापति नियुक्त हुए। उग्रवादियों ने इसका विरोध किया। फलतः अध्यक्ष के भाषण के पूर्व ही दोनों दलों में मारपीट तथा हो हल्ला शुरू हो गया और थोड़े ही समय में स्थिति नियन्त्रण से बाहर हो गई। कहा जाता है कि सदस्यों में आपस में जुते और लाठियाँ तक चल गई और पुलिस ने बलपूर्वक कांग्रेस भवन को खाली करा दिया। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने सत्य ही कहा था कि "सूरत की घटना कांग्रेस के इतिहास में सबसे अधिक दुःखद घटना है।"

इस घटना के साथ ही कांग्रेस दो दलों में विभाजित हो गई। उदारवादियों ने जिनकी संख्या 1600 में से 900 थी, एक अलग सभा की। इसमें यह निश्चित किया गया कि 100 व्यक्तियों के एक समिति कांग्रेस का विधान तैयार करे। इस मनोनित समिति ने कांग्रेस का विधान तैयार किया। इस समय उदारवादियों ने उग्रवादियों को कांग्रेस से निकाल दिया, जिसके कारण कांग्रेस स्पष्टरूप से दो दलों में विभाजित हो गई। प्रथम, गरम दल जिसके नेता लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक एवं विपिन चन्द्र पाल थे एवं द्वितीय, नरम दल उसके नेता गोपाल कृष्ण गोखले थे। उदारवादियों ने नए विद्यान की प्रथम धारा में कहा था "भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्देश्य है कि भारत की जनता को उसी प्रकार की शासन व्यवस्था प्राप्त हो जिस प्रकार की शासन व्यवस्था ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य उपनिवेशों में प्रचलित है और उनके समान ही भारतवासी भी साम्राज्य के अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों में भागी बने। इन उद्देश्यों की प्राप्ति वर्त्तमान शासन व्यवस्था में धीरे-धीरे सुधार कर राष्ट्रीय एकता तथा जनोत्साह को बढ़ावा देकर और देश के मानसिक, नैतिक, आर्थिक एवं आद्यौगिक साधनों को सुसंगठित कर वैधानिक रीति से किया जाए।" उग्रवादी दल 1916 ई० तक कांग्रेस से अलग रहा। 1916 ई० में इन दोनों पक्षों में समझौता हुआ, जिसके परिणामस्वरूप दोनों का एकीकरण हो गया और वे सम्मिलित ढंग से कार्य करने लगे।

उग्रवादियों का दमन

ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस की फूट का लाभ उठाते हुए उग्रवादियों का कठोरता के साथ दमन करने की नीति अपनायी। मई 1907 ई० में पंजाब के लाला लाजपत राय और सरदार अजित सिंह को बिना मुकदमा चलाए मांडले की जेल में बन्द कर दिया गया। बंगाल में सरकार ने अरविन्द घोष के ऊपर अभियोग चलाने का निष्फल प्रयास किया। बंगाल में अनेक व्यक्तियों पर आंतकवादी कार्यों के लिए मुकदमा चलाकर उन्हें दण्डित किया गया। 1908 ई० में 'समाचार-पत्र' अधिनियम पारित किया गया, जिसके द्वारा समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता नष्ट कर दी गई। 1908 ई० में 'केसरी' नामक समाचार-पत्र में सरकार के विरुद्ध लिखे गए लेखों के आधार पर लोकमान्य तिलक को राजद्रोह के आरोप में छः वर्ष का कारावास देकर मांडला जेल भेज दिया गया। इसके अलावा बंगाल में कई नेताओं तथा समाचार-पत्रों के सम्पादकों को बिना मुकदमा चलाए कैद में डाल दिया। 1911 ई० में 'षड्यन्त्रकारी सभा अधिनियम' लागू किया गया। जिसके द्वारा सरकार के विरुद्ध सभाएँ आयोजित करने पर सख्त प्रतिबन्ध लगा दिया गया। अंग्रेज सरकार की प्रतिक्रियावादी

नीति के फलस्वरूप देश में क्रांतिकारी और आतंकवादी आन्दोलनों का सूत्रपात शुरू हुआ।

महाराष्ट्र में उग्रवादी आन्दोलन

महाराष्ट्र में तिलक ने उग्रवादी आन्दोलन का नेत त्व किया। तिलक एक महान् देशभक्त तथा स्वतन्त्रता प्रेमी थे। उन्होंने अपनी विलक्षण बुद्धि, विद्वता धर्मनिष्ठा तथा त्याग के द्वारा न केवल महाराष्ट्र के लोगों का ही दिल जीता, अपितु वे सम्पूर्ण देश के प्रिय नेता बन गए। तिलक ने 1880 ई० में 'केसरी' व 'मराठा' नामक दो समाचार-पत्रों का प्रकाशन् आरम्भ किया। इन पत्रों के द्वारा उन्होंने नवयुवकों में आत्म-विश्वास, तथा आत्म-निर्भरता की भावनाएँ जाग त करने का विशेष प्रयास किया। तिलक पाश्चात्य संस्कृति की गरिमा के विरोधी थे। वे भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के महान् पुजारी थे। भारत में विदेशी शासकों के अत्याचारों के विरुद्ध जनता को संगठित करने तथा उसमें साहस और बलिदान की भावना जाग त करने के लिए गणपति उत्सव का आयोजन आरम्भ किया। यह नवयुवकों को संगठित करने तथा उन्हें राजनीतिक शिक्षा देने में काफी लोकप्रिय रहा।

शिवाजी का नाम सम्पूर्ण महाराष्ट्र में एकता, शक्ति, देश प्रेम, और बलिदान का प्रतीक माना जाता था। महाराष्ट्र की जनता में शिवाजी के प्रति अटूट श्रद्धा विद्यमान थी। इसलिए तिलक ने शिवाजी उत्सव मनाने का निश्चय किया, ताकि जनता को संगठित किया जा सके तिलक ने महान स्वतन्त्रता सैनानी एवं वीर योद्धा शिवाजी का आदर्श महाराष्ट्रवासियों के सामने रखा। तिलक ने शिवाजी के उत्सव के अवसर पर कहा कि "महापुरुष सामान्य नैतिक सिद्धान्तों के ऊपर होते है। गीता में कृष्ण ने कहा है कि यदि हम स्वार्थ की भावनाओं से प्रेरित न हो, तो अपने गुरुओं और सम्बन्धियों की हत्या में कोई पाप नहीं होता। शिवाजी ने अपने पेट के लिए कुछ नहीं किया। उन्होंने दूसरों की भलाई के लिए प्रशंसनीय उद्देश्य से ही अफजल खाँ की हत्या की थी। ईश्वर ने हिन्दुस्तान को मलेच्छों को नहीं दिया था। कूपमण्डूक की भाँति अपने द ष्टिकोण को सीमित न कर दण्ड संहिता से ऊपर उठकर भगवद्गीता के पवित्र वातावरण में महापुरुषों के कृत्यों पर विचार करो।" शिवाजी उत्सव और गणपति उत्सव ने राष्ट्रीय शक्ति के संगठित करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया।

तिलक के महाराष्ट्र में अकाल और प्लेग फैलने पर जनता की सहायता के लिए 'अकाल सहायता कोष' की स्थापना की। इस समय उन्होंने अपने समाचार-पत्रों में सरकार की 'अकाल ओर प्लेग निवारण नीति' की कुट आलोचना की। उनके इन विचारों के प्रभावित होकर दामोदर तथा बालकृष्ण चापेलकर नामक दो नवयुवकों ने मि० रैण्ड और लेफ्टिनेन्ट आमर्स्ट इन दो प्लेग अधि ाकारियों को गोली से उड़ा दिया। सरकार ने इसके लिए तिलक को दोषी ठहराया और उन पर मुकदमा चलाकर उन्हें 18 मास की कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। इससे सम्पूर्ण देश की जनता में रोष उत्पन्न हो गया और उग्रवादी आन्दोलन को और अधिक बल मिला।

1908 ई० में किसी क्रान्तिकारी ने बम फेंककर मिसेज कनेडी की हत्या कर दी। तिलक ने अपने समाचार-पत्र में इस हत्या को उचित ठहराया। परिणामस्वरूप उन पर राजद्रोह का अपराध लगाकर मुकदमा चेलाया गया। न्यायालय के निर्णय के बाद तिलक ने कहा था, "मैं केवल यह जानना चाहता हूं कि ज्यूरी का निर्णय चाहे जो हो, मैं अपने आपको निश्चितरूप से निर्दोष मानता हूँ। विभिन्न वस्तुओं के भाग्य का संचालन करने के लिए उच्चतर शक्तियाँ है और प्रतीत होता है कि जिस आदर्श का मैं प्रतिनिधित्व करता हूँ, वह ईश्वर इच्छा के अनुसार मेरे स्वतंत्र रहने की अपेक्षा मेरे कपटों से अधिक फलीभूत होगा।" सरकार ने तिलक को छः वर्ष का कठोर कारावास देकर मांडले (बर्मा) की जेल में भेज दिया। उनकी अनुपस्थिति में राष्ट्रीय आन्दोलन नेत त्व विहीन

हो गया। परिणामस्वरूप वह मन्द पड़ गया।

पंजाब में उग्रवादी आन्दोलन

पंजाब में उग्रवादी आन्दोलन का नेत त्व लाला लाजपत राय ने किया, वे एक शिक्षा सुधारक, समाज तथा धर्म सुधारक थे। उन्होंने आर्य समाज की उन्नति में विशेष योगदान दिया। उनके भाषणों से जनता प्रभावित हुए बिना नहीं रहती थी। इस सम्बन्ध भी सी०वाई० चिन्तामणि ने लिखा हैं, एक सार्वजनिक वक्ता के रूप में अरुडेल जार्ज तथा लाला लाजपत राय दोनों का एक साथ स्मरण करता हूँ। जनता के रोष को जाग त कर देने की दोनों में समान क्षमता थी।" लाला लाजपत राय ने जनता में आत्मविश्वास और आत्मबल की भावना जाग त करने का प्रयास किया, ताकि भारतीयों को स्वतन्त्रता की लड़ाई में सफलता प्राप्त हो सके।

बंगाल में उग्रवादी आन्दोलन

लॉर्ड कर्जन ने अपने शासन काल में कई ऐसे काम किए, जिनसे जनता में असन्तोष की भावना चरम सीमा तक जा पहुँची। परन्तु भारत में कर्जन के शासन काल का सबसे मूर्खतापूर्ण कार्य बंगाल विभाजन था। कर्जन ने 19 जुलाई 1905 को भारत की राष्ट्रीय एकता को कुचलने के उद्देश्य से बंगाल विभाजन की घोषणा कर दी। भारतीयों ने इसका विरोध किया। फिर भी 16 अक्टूबर को इसे कार्यान्वित कर दिया गया। बंगाल में विभाजन का तीव्र विरोध करने के लिए जुलूस निकाले गए, प्रदर्शन किए गए तथा अनेक सभाएँ आयोजित की गई। 'बन्दे मातरम्' के गान से सारा बंगाल गूँज उठा और सार्वजनिक सभाओं के आयोजन ने एक नया वातावरण पैदा कर दिया। इन सभाओ में राष्ट्रीय उद्घोषणा पढ़ी जाती थी। इसमें कहा गया था, "चूँकि सरकार ने सर्वव्यापी विरोध के होते हुए भी बंगाल के विभाजन के निर्णय को लागू किया, हम यह अहद और उद्घोषणा करती है कि हम अपने प्रान्त के खण्डन के बुरे प्रभावों को रोकने और उसकी जाति की एकता को बनाए रखने के लिए यथाशक्ति सब कुछ करेंगे, ईश्वर हमारी सहायता करे।"

ब्रिटिश सरकार ने इस आन्दोलन का दमन करने के लिए असंख्य लोगों को दण्डित किया। इसके बावजूद आन्दोलन का क्षेत्र व्यापक होता चला गया। उग्रवादियों ने स्वदेशी और बहिष्कार की नीति अपनाई। विभाजित प्रान्तों की एकता के प्रतीक स्वरूप पुरुषों की कलाईयों में लाल धागे बाँधें गए। आन्दोलनकारियों ने घर-घर जाकर जनता से अपील की और स्वदेशी व्रत की प्रतिज्ञा करवाई। स्वदेशी व्रत इस प्रकार था, "ईश्वर को साक्षी मानकर और आने वाली पीढ़ियों के सामने खड़े हुए, हम यह गम्भीर व पवित्र व्रत लेते है कि हम देश में बनी हुई वस्तुओं का प्रयोग करेंगे और विदेशी माल के प्रयोग से बचेंगे, अतः ईश्वर हमारी सहायता करे।"

इस आन्दोलन के दौरान विदेशी वस्तुओं की दुकानों पर धरना दिया गया और स्थान-स्थान पर विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गई। बंगाल में इस आन्दोलन का नेत त्व बिपिन चन्द्र पाल एवं अरबिन्द घोष जैसे नेताओं ने किया। बंगाल के नवयुवकों ने भी इस आन्दोलन में उत्साह से भाग लिया। इस उग्रवादी आन्दोलन ने धीरे-धीरे आंतकवादी रूप धारण कर लिया। ब्रिटिश सरकार इस आन्दोलन को कुचलने में असफल रही। अन्ततः सरकार ने 1911 ई० में बंगाल विभाजन को रद्द कर दिया। इस काल में उग्रवादी आन्दोलन ने राष्ट्रीय चेतना को नई दिशा प्रदान करने में आशातीत सफलता प्राप्त कर ली।

उग्रवादी आन्दोलन का मुल्यांकन

उग्रवादी आन्दोलन का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा, इस सत्य को मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता। उदारवादी भी देश भक्त थे, परन्तु उनके साधन प्रभावदायक

नहीं थे। उग्रवादियों का मानना था कि प्रार्थना पत्रों से सरकार राजनीतिक सुधार भी नहीं करेंगी, स्वतन्त्रता देना तो बहुत दूर की बात है। अतः उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नया मोड़ दिया। उग्रवादियों ने स्वदेशी आन्दोलन तथा बहिष्कार के साधन अपनाए, जिसने जनता में आत्म-निर्भरता, आत्मविश्वास और राष्ट्रीयता की नई लहर उत्पन्न कर दी। परिणामस्वरूप यह आन्दोलन एक जन आन्दोलन बन गया। इस आन्दोलन से देश के कोने-कोने में हलचल मच गई। उग्रवादियो के स्वदेशी आन्दोलन तथा बहिष्कार के साधनों को महात्मा गाँधी ने भी अपने असहयोग आन्दोलन का मुख्य आधार बनाया। उग्रवादियों ने एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की योजना बनाई, जो भारत की युवा पीढ़ी में राष्ट्रीयता की भावना का संचार करे तथा उसमें अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति निष्ठा भी उत्पन्न करे। उग्रवादियों का यह कार्य उत्यन्त दूरदर्शितापूर्ण था। उग्रवादी आन्दोलन से ब्रिटिश सरकार बहुत प्रभावित हुई और उसने राष्ट्रीय आन्दोलन की बागडोर उग्रवादियों के हाथों में जाने से रोकने के लिए 1909 ई० में मार्ले मिन्टो सुधार पारित किए। यदि उग्रवादी आन्दोलन प्रारम्भ न होता, तो इन सुधारों के पारित होने में कुछ अधिक समय लग सकता था।

किसी भी प्राचीन देश को स्वतन्त्रता तभी प्राप्त हो सकती है, जबकि आन्दोलन का नेत त्व करने वाला वर्ग स्वयं कष्ट और त्याग के लिए तत्पर हो। अधिकांश उदारवादी नेताओं में इस प्रकार की त्याग भावना का अभाव था, लेकिन उग्रवादी प्रत्येक कष्ट और त्याग के लिए तत्पर रहते थे। बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय एवं बिपिन चन्द्र पाल आदि उग्रवादी दल के नेता सही अर्थों में सच्चे लोक नायक थे। 1908 ई० में जब तिलक को 8 वर्ष का कठोर कारावास का दण्ड दिया गया, तो इस अन्याय के विरुद्ध कई स्थानों पर दंगें हुए। ब्रिटिश सरकार ने इस कार्य के विरोध में बम्बई के मिलों के मजदूरों द्वारा एक व्यापक हड़ताल की गई। इस सम्बन्ध में लेनिन ने कहा था कि यह हड़ताल भारत के श्रमिक वर्ग की 'पहली राजनीतिक कार्यवाही' है। इस प्रकार, उग्रवादियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन को जन आन्दोलन में परिवर्तित कर दिया।

हिन्दू धर्म और संस्कृति से प्रभावित होने के कारण उग्रवादियों को भारत के हिन्दुओं को संगठित करने में अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। परन्तु उसने राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति मुसलमानों में उदासीनता ला दी। ब्रिटिश शासन और सरकारी अधिकारियों ने उग्रवादियों की धार्मिक निष्ठा का मुसलमानों में प्रचार कर उन्हें हिन्दुओं के विरुद्ध भड़काने का सफल प्रयास किया। उन्होंने मुसलमानों से कहा कि यह जो ब्रिटिश विरोधी आन्दोलन चलाया जा रहा है। उसका मुख्य उद्देश्य भारत में विशुद्ध हिन्दू राज्य की स्थापना करना है। इस प्रकार के भ्रामक प्रचार के कारण साधारण मुस्लिम जनता अंग्रेजों के बहकाने में आ गई। परिणामस्वरूप मुसलमानों में हिन्दुओं के प्रति सन्देह उत्पन्न हो गया और उन्होंने ब्रिटिश सरकार के निर्देशानुसार अपने लिए 'मुस्लिम लीग' नामक संख्या की स्थापना की। इस प्रकार, उग्र राष्ट्रीयता के युग में भारत में साम्प्रदायिकता का बीज बोया गया, जो आगे चलकर अखण्ड भारत के लिए घातक सिद्ध हुआ। जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में, "उग्र राष्ट्रीयता सामाजिक रूप में निश्चिततः प्रतिक्रियावादी थी।"

अध्याय-5
बंगाल का विभाजन और स्वदेशी आन्दोलन
(Partition of Bengal and Swadeshi Movement)

भारत में बीसवीं सदी की शुरुआत स्वदेशी आन्दोलन के उदय के साथ जुड़ी है। इस आन्दोलन के आरम्भ से भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत बल मिला। बंगाल व देश के अन्य हिस्सों में ग्रामीण व शहरी छात्र, युवक, और महिलाएं पहली बार सक्रिय राजनीति में आए। इस आन्दोलन का दायरा काफी व्यापक था और केवल पांच वर्ष में ही इस आन्दोलन में वे तमाम राजनीतिक संघर्ष दिखाई पड़े जो भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में आगे चलकर आये। इस आन्दोलन में भाषणबाजी से लेकर बहिष्कार, प्रतिरोध और हड़ताल, व्यापक जन-आन्दोलन छेड़ने की कोशिश से लेकर व्यक्तिगतरूप में आतंकवादी-क्रांतिकारी आन्दोलन छेड़ने जैसी चीजें इस आन्दोलन में दिखाई पड़ी। इस आन्दोलन की एक विशेषता यह थी कि इसका दायरा महज राजनीति तक सीमित न था। कला साहित्य, संगीत, विज्ञान, उद्योग व अन्य क्षेत्रों में भी इस आन्दोलन का असर पहुंचा। तात्पर्य यह है कि हर वर्ग का इस आन्दोलन से किसी-न-किसी रूप से जुड़ गया।

बंगाल का विभाजनः स्वदेशी आन्दोलन का उदय अंग्रेजी सरकार के बंगाल विभाजन के विरोध में एक व्यापक जन-आन्दोलन के रूप में हुआ। ब्रिटिश सरकार के बंगाल विभाजन के निर्णय से बंगाल समेत देशवासी इतने क्रोधित और क्षुब्ध हुए, वह अप्रत्याशित था। उस समय बंगाल की आबादी सात करोड़ पचासी लाख थी। जो भारत की कुल आबादी का लगभग चौथाई था। उस समय उड़ीसा और बिहार भी बंगाल के हिस्से थे। इतने बड़े राज्य का प्रशासन चलाना वास्तव में कठिन कार्य था, लेकिन अंग्रेजों ने इस राज्य के बँटवारे का फैसला प्रशासनिक कारणों से न करके राजनीतिक कारणों से किया।

19वीं सदी ज्यों-ज्यों अपने अन्तिम पड़ाव की ओर जा रही थी भारत में राष्ट्रीय चेतना विकसित होती जा रही थी और एक जुझारू रूख अख्तियार करती जा रही थी। इस समय भारतीय राष्ट्रीय चेतना का केन्द्र बंगाल था। अंग्रेजों ने इसी राष्ट्रीय चेतना पर प्रहार करने के लिए बंगाल के विभाजन का निर्णय किया। उस समय के वायसराय लार्ड कर्जन के अनुसार ''अंग्रेजी हुकूमत का यह प्रयास कलकत्ता को सिंहासनच्युत करना था, बंगाली आबादी का बँटवारा करना था, एक ऐसे केन्द्र को समाप्त करना था जहाँ से बंगाल व पूरे देश में कांग्रेस पार्टी का संचालन होता था, साजिशें रची जाती थीं।'' भारत सरकार के तत्कालीन ग ह सचिव राईसले का भी कहना था, ''अविभाजित बंगाल एक बड़ी ताकत है। विभाजित होने से यह कमजोर हो जाएगी, कांग्रेसी नेताओं की यह आशंका सही है और इसकी यह आशंका हमारी योजना की सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण चीज है। हमारा मुख्य उद्देश्य बंगाल का बँटवारा करना है, जिससे हमारे दुश्मन बँट जाएँ, कमजोर पड़ जाएँ।''

ज्यों ही बंगाल विभाजन के प्रस्ताव की खबर बंगाल में आग की तरह फैली और विरोध की आवाज उठने लगी। कर्जन इस पर बहुत तिलमिलाए और ग ह सचिव को लिखा, ''यदि हमने इस विरोध को अभी नहीं दबाया तो हम बंगाल को भी कभी विभाजित नहीं कर पाएँगे, विरोध को न दबा पाने का मतलब कि तुम पहले से ही मजबूत एक ताकत को और भी मजबूत बनाने का मौका दोगे। एक ऐसी ताकत को, जो भविष्य में हमारे लिए और भी संकट पैदा करेगी।''

बंगाल विभाजन का मकसद सिर्फ यह नहीं था कि बंगालवासियों को दो प्रशासनिक हिस्सों में बाँटकर उनके प्रभाव को कम किया जाए। ब्रिटिश सरकार का मकसद मूल बंगाल में बंगालियों की आबादी कम कर उन्हें अल्पसंख्यक बनाना था। मूल बंगाल में एक करोड़ सत्तर लाख बंगाली और तीन करोड़ सत्तर लाख उड़िया व हिन्दी भाषी लोगों को रखने की योजना थी।

बंगाल विभाजन के माध्यम से अंग्रेजों को एक और विभाजन करना था वह था-धार्मिक आधार पर विभाजन। 19वीं सदी के अंत में अंग्रेजों ने कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर करने के लिए मुस्लिम साम्प्रदायिकता को भड़काने का काम शुरू कर दिया था। अब एक बार फिर उन्होंने इस हथकण्डे को अपनाने की कोशिश की। ढाका में विभाजन के पक्ष में मुसलमानों को रिझाने कर्जन का भाषण कुटिल चाल का भण्डा फोड़ता है। उन्होंने कहा, ''बंगाल विभाजन से ढाका बहुसंख्यक मुस्लिम आबादी वाले नए प्रान्त की राजधानी बन जाएगा इससे पूर्वी बंगाल में मुसलमानों में एकता स्थापित होगी। मुसलमानों को बेहतर सुविधाएँ मिल सकेंगी और पूर्वी जिले कलकत्ता की राजशाही से मुक्त भी हो जाएंगे।''

इस प्रकार बंगाल विभाजन की योजना भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर अंग्रेजों द्वारा किया गया एक सुनियोजित हमला था। कर्जन के उत्तराधिकारी मिण्टो शुरू में विभाजन के विरोधी थे। उनका कहना था कि जनमत के खिलाफ विभाजन उचित नहीं है। बाद में मिण्टो ने ही कहा, ''केवल राजनीतिक द ष्टिकोण से ही देखें तो बंगाल का विभाजन जरूरी था, प्रशासनिक दिक्कतों को दरकिनार रख दीजिए।'' इस तरह भारतीय राष्ट्रवादियों को विभाजन के पीछे ब्रिटिश सरकार के असली मंतव्य का पता चल गया, वे एक स्वर में इसके विरोध में उठ खड़े हुए और विभाजन विरोधी तथा स्वदेशी आन्दोलन शुरू हो गया।

बंगाल विभाजन का विरोधः दिसम्बर 1903 में बंगाल-विभाजन के प्रस्ताव की जानकारी लोगों को मिली। यह खबर मिलते ही जबरदस्त विरोध की लहर उठ खड़ी हुई। विरोध कितना जबरदस्त था इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि पहले दो महीनों में ही केवल पूर्वी बंगाल में विभाजन के खिलाफ पाँच सौ बैठके हुई। इनमें से ज्यादातर बैठकें ढाका, मेंमनसिंह और चटगांव में हुई। विभाजन के खिलाफ 40-50 हजार पर्चे पूरे बंगाल में बाँटे गए, जिनमें विभाजन से होने वाले खतरों के बारे में विस्त त जानकारी दी गई थी। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, क ष्णकुमार मित्र, प थ्वीचन्द्र राय व अन्य नेताओं के प्रस्तावों के खिलाफ 'बंगाली', 'हितवादी', 'संजीवनी' जैसे अखबारों व पत्रिकाओं के माध्यम से आन्दोलन छेड़ा। मार्च 1904 और जनवरी 1905 में कलकत्ता के टाउन हाल में कई विशाल विरोध सभाएँ हुई। इन सभाओं में दूर-दराज से आए अनेक प्रतिभागियों ने भाग लिया। भारत सरकार के ग हसचिव के नाम अनेक विरोध याचिकाएँ भेजी गई। इनमें से कुछ याचिकाओं पर सत्तर हजार से भी ज्यादा लोगों के हस्ताक्षर थे। उस जमाने की राजनीतिक चेतना को देखते हुए यह संख्या बहुत अधिक थी। बड़े जमींदार भी जो अब तक अंग्रेजी हुकूमत की जी हजूरी करते थे अब कांग्रेस के साथ हो लिए।

यह 1903 से 1905 के मध्य की अवधि थी। आवेदन पत्र, स्म ति पत्र, भाषणों व जन सभाओं का आयोजन और प्रेस के माध्यम से प्रचार, सब कुछ बड़ी तेजी के साथ शुरू हो गया था। मुख्य

उद्देश्य था विभाजन प्रस्ताव के खिलाफ भारत व इंग्लैण्ड में जनमत तैयार करना। आन्दोलनकारियों को विश्वास था कि उससे अंग्रेजी हुकूमत पर दबाव पड़ेगा और यह विभाजन जैसा अन्यायी कदम उठाने से हिचकेगी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ, अंग्रेजी सरकार पर विरोध का कोई असर नहीं पड़ा और 19 जुलाई 1905 को बंगाल विभाजन के निर्णय की घोषणा कर दी गई। यह आन्दोलनकारियों और विभाजन विरोधी जनता के मुँह पर तमाचा था। जनता और नेताओं ने महसूस किया कि ज्ञापनों और आवेदनों की लड़ाई से कुछ हासिल होने वाला नहीं है। संघर्ष का कोई दूसरा तरीका अपनाना ही होगा और हुआ भी ऐसा। समूचे आन्दोलन ने एक नई दिशा पकड़ी। विभाजन के निर्णय की घोषणा के तुरन्त बाद दिनाजपुर, याचना फरीदपुर, टंगाईल, जैसौर, ढाका, वीरभूमि व अन्य कस्बों में विरोध सभाएं आयोजित की गई, जहाँ विदेशी माल के विरोध की प्रतिज्ञा की गई, कलकत्ता में भी अनेक विरोध बैठकें की गई।

7 अगस्त 1905 को कलकत्ता के टाउन हाल में एक ऐतिहासिक बैठक में स्वदेशी आन्दोलन की विधिवत घोषणा की गई। विभाजन के विरोध में अचानक फूटा और बिफरा यह आन्दोलन अब संगठित होने लगा। इसे केन्द्रीय नेत त्व और सही दशा मिली। 7 अगस्त की बैठक में ऐतिहासिक 'बहिष्कार प्रस्ताव' पारित हुआ। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे अनेक नरमपंथी नेता भी देश के दौरे पर निकल पड़े और लोगों के विदेश के कपड़े और नमक के बहिष्कार करने की अपील करने लगे। पहली सितम्बर को सरकार ने घोषणा की कि विभाजन 16 अक्टूबर 1905 से प्रभावित होगा। इस घोषणा के बाद तो बहिष्कार आन्दोलन ने और जोर पकड़ा। हर रोज बैठकें होने लगीं और विदेशी माल के बहिष्कार का नारा बुलन्द होने लगा। विरोध बैठकों में भारी जन समूह इकट्ठा होता था। बारीसाल की बैठक में दस से बारह हजार लोग इकट्ठा हुए थे। विदेशी माल के बहिष्कार का आह्वान घर-घर पहुंच गया। इसका अंदाज इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि सितम्बर 1904 से सितम्बर 1905 के बीच कलकत्ता के बाहर कई जिलों में अंग्रेजी कपड़ों की बिक्री से आय पांच से पन्द्रह गुना तक कम हो गई।

16 अक्टूबर 1905 का दिन पूरे बंगाल में शोक दिवस के रूप में मनाया गया। घरों में चूल्हा नहीं जला, लोगों ने उपवास रखा और कलकत्ता में हड़ताल घोषित की गई। जनता ने जुलूस निकाला। सवेरे जत्थे-के-जत्थे लोगों ने गंगा स्नान किया और फिर सड़कों पर वन्देमातरम गाते हुए प्रदर्शन करने लगे; यह वन्देमातरम् समूचे आन्दोलन की ओर से युद्ध की दुन्दभी था। लोगों ने एक-दूसरे के हाथ पर राखियाँ बाँधी, यह जताने के लिए बंगाल को बाँटकर अंग्रेज उनकी एकता में दरार नहीं डाल सकते। बाद में दिन में आनन्द मोहन बोस और सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने दो विशाल जनसभाओं को सम्बोधित किया। एक जनसभा में पचास हजार तथा दूसरी में पचहत्तर हजार लोग इकट्ठे हो गए थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के झण्डे तले इससे पहले इतनी बड़ी संख्या में लोग इकट्ठे नहीं हुए थे। इन बैठकों के कुछ ही घण्टों के भीतर आन्दोलन के लिए पचास हजार रुपए इकट्ठे हो गए।

आन्दोलन का फैलावः स्वदेशी व बहिष्कार आन्दोलन का संदेश पूरे देश में फैल गया। लोकमान्य तिलक ने पूरे देश में विशेषकर बम्बई और पुणे में इस आन्दोलन का प्रचार किया। अजीतसिंह और लाला लाजपतराय ने पंजाब व उत्तर प्रदेश के अन्य क्षेत्रों में इस आन्दोलन को पहुँचाया। उत्तर भारत में रावलपिंडी, कांगड़ा, मुल्तान और हरिद्वार में स्वदेशी आन्दोलन ने खूब जोर पकड़ा। सैयद हैदर रजा ने दिल्ली में इस आन्दोलन का नेत त्व किया। चिदम्बरम पिल्लै ने मद्रास प्रेसीडेंसी में इसका नेत त्व किया, जहाँ बिपिनचन्द्र पाल ने अपने भाषणों से इस आन्दोलन को और अधिक मजबूत बनाया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस आन्दोलन के लिए काम करना शुरू किया। 1905 में गोखले की अध्यक्षता में हुए बनारस अधिवेशन का समर्थन किया। तिलक, बिपिनचन्द्र पाल, लाला

लाजपत राय, और अरविन्द घोष जैसे गरम पंथी नेताओं के समर्थक इस आन्दोलन को पूरे देश में फैलाना चाहते थे। वे महज स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन से ही संतुष्ट नहीं थे। अब लक्ष्य था 'स्वराज'। विभाजन को समाप्त करने की मांग अब बहुत छोटा मुद्‌दा रह गई थी। लेकिन गरम पंथी नेता अभी इसके लिए तैयार नहीं थे।

विभाजन के विरोध से उत्पन्न आन्दोलन अब नई राह पकड़ने लगा। नए लक्ष्य के लिए नए संघर्ष की राह, इसका आधार भी बहुत तेजी से मजबूत होने लगा। बारीसाल सम्मेलन (906) के अध्यक्ष एस. अब्दुल रसूल ने कहा था, ''पिछले पचास से सौ सालों के दौरान हम जो हासिल नहीं कर सके वह हमने छः महीनों में हासिल कर लिया है और हमें यहाँ तक पहुँचाया है बंगाल विभाजन ने। बंगाल जैसी शर्मनाक घटना ने महान् राष्ट्रीय आन्दोलन, स्वदेशी आन्दोलन को जन्म दिया है।''

बहरहाल 1906 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने कलकत्ता अधिवेशन में राष्ट्रीय आन्दोलन की दिशा में एक सही कदम उठाया। दादा भाई नौरोजी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्‌देश्य ब्रिटेन या उसके उपनिवेशों की तरह भारत में अपनी सरकार का गठन करना अर्थात स्वराज की स्थापना था। फिलहाल कांग्रेस के नरमपंथी और गरमपंथी खेमों में से आन्दोलन की गति और संघर्ष के तरीकों को लेकर मतभेद चलता रहा और 1907 में सूरत अधिवेशन में स्वदेशी आन्दोलन को लेकर पार्टी विभाजित हो गई। इस विभाजन का स्वदेशी आन्दोलन पर गम्भीर प्रभाव पड़ा।

गरमपंथियों का बोलबालाः स्वदेशी आन्दोलन में गरमपंथियों का बोलबाला था। 1905 के बाद बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन पर उग्रवादियों की पकड़ मजबूत हो गई। जनता को आन्दोलन के लिए तैयार करने और संघर्ष के तमाम नए तरीके अपनाए जाने लगे। गरमपंथी राष्ट्रवादियों ने जनता के सामने अनेक विचार, योजना और तरीके रखे। व्यापक आन्दोलन के जरिए राजनीतिक स्वाधीनता हासिल करने का लक्ष्य रखा गया। इसके लिए बहिष्कार आन्दोलन को असहयोग आन्दोलन और शांतिपूर्ण प्रतिरोध तक ले जाना था। केवल विदेशी कपड़े का ही बहिष्कार नहीं, बल्कि सरकारी स्कूलों, अदालतों, उपाधियों, सरकारी नौकरियों का बहिष्कार इसमें शामिल था। हड़ताल की भी बात की गई। उद्‌देश्य था कि प्रशासन एकदम पंगु हो जाए। भारतीय जनता के आर्थिक शोषण में अंग्रेजी व्यापारी असमर्थ रहे।

कुछ आन्दोलनकारियों का मानना था कि शांतिपूर्ण असहयोग आन्दोलन में सफलता मिल जाएगी। इनका मानना था कि यदि चौकीदार, सिपाही, सहायक, मुंसिफ और क्लर्क काम करना बंद कर दें तो मिनटों में ही देश में अंग्रेजी हुकूमत खत्म हो जाएगी। गोली बन्दूक और सिपाहियों को प्रशिक्षित करने की नौबत ही न आए लेकिन अरविन्द घोष जैसे गरमपंथी नेता इस बात की वकालत करते रहे कि यदि फिरंगी हुकूमत दमन का रास्ता अपनाएगी तो उसका हिंसक प्रतिरोध जायज होगा।

इस आन्दोलन में संघर्ष की जितनी भी धाराएँ फूटी, उनमें सबसे ज्यादा सफलता मिली विदेशी माल के बहिष्कार आन्दोलन को। यह आन्दोलन काफी लोकप्रिय और सफल रहा। बंगाल व देश के दूर-दराज के हिस्सों में विदेशी कपड़े की होली जलाई गई और विदेशी कपड़े बेचनेवाली दुकानों पर धरने दिए गए। औरतों ने विदेशी चूड़ियाँ पहनना व विदेशी बर्तनों का इस्तेमाल बंद कर दिया, धोबियों ने विदेशी कपड़े धोने से इन्कार कर दिया। यहाँ तक कि महन्तों ने विदेशी चीनी से बने प्रसाद को लेने से इन्कार कर दिया।

इस आन्दोलन के चलते विशाल जनसभाओं और प्रदर्शनों की बाढ़ आ गई। जनमत तैयार करने का यह सबसे सशक्त तरीका सिद्ध हुआ। बड़े-बड़े शहरों से लेकर, जिलों, कस्बों, तालुकों, गांवों

व जनसभाओं के आयोजन से जनता में राजनीतिक चेतना आई। स्वराज के लिए मन मचलने लगा।

स्वावलम्बन का नारा: स्वदेशी आन्दोलन ने जन साधारण के लिए स्वयंसेवी संगठनों की खूब मदद ली। इन संगठनों के आन्दोलनों के लिए जनमत तैयार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण संगठन था 'स्वदेश बांधव समिति'। बारीसाल के एक अध्यापक अश्विनी कुमार दत्त के नेत त्व में गठित इस समिति की 159 शाखाएँ पूरे जिले के दूर-दराज इलाकों में फैली थी। इस जिले में मुसलमानों की आबादी अधिक थी। अश्विनी कुमार दत्त बहुसंख्यक मुसलमान किसानों को आन्दोलन के लिए प्रेरित करने में सफल हुआ। जनता में राजनीतिक चेतना पैदा करने के लिए समिति ने उत्तेजक भाषणों और स्वदेशी गीतों का सहारा लिया, अपने सदस्यों को शारीरिक व नैतिक प्रशिक्षण दिया, अकाल तथा महामारी में राहत कार्य किए। स्कूल खोले, स्वदेशी दस्तकारी का प्रशिक्षण दिया और मुकदमे निबटाने के लिए पंच अदालतें बनाई। अगस्त 1906 तक बारीसाल समिति ने 89 पंच अदालतों के जरिए 523 विवादों का निपटारा किया। बारीसाल समिति की जड़ें केवल बारीसाल तक ही सीमित नहीं थीं बल्कि ये बंगाल के अन्य हिस्सों में भी फैली हुई थी। अंग्रेजी सरकार इस समिति की बढ़ती लोकप्रियता और प्रभाव से बहुत चिन्तित थी।

स्वदेशी आन्दोलन ने अपने प्रचार के लिए पारम्परिक त्यौहारों, धार्मिक मेलों, लोक परम्पराओं, लोक संगीत, लोक नाट्य मंचों का भी सहारा लिया। गणपति महोत्सव व शिवाजी जयन्ती को तिलक ने बहुत लोकप्रिय बनाया और उनके माध्यम से स्वदेशी का प्रचार किया। यह महज पश्चिमी भारत तक ही सीमित नहीं था, बंगाल में भी इन त्यौहारों के माध्यम से स्वदेशी आन्दोलन का संदेश जनता तक पहुँचाया गया। लोक नाट्य परम्पराओं जैसे यात्रा के माध्यम से स्वदेशी आन्दोलन का संदेश गांवों, कस्बों व देश के दूर-दराज के इलाकों में भी पहुँचा। ऐसे लोगों तक भी पहुँचा जो पहली बार आधुनिक राजनीतिक विचारों से परिचित हो रहे थे।

स्वदेशी आन्दोलन की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने 'आत्मनिर्भरता', 'आत्म शक्ति' का नारा दिया। आन्दोलनकारी नेताओं का मानना है कि सरकार के खिलाफ संघर्ष चलाने के लिए जनता में स्वावलम्बन की भावना भरना बहुत जरूरी है। स्वावलम्बन व आत्मनिर्भरता का प्रश्न राष्ट्रीय स्वाभिमान आदर और आत्मविश्वास के साथ जुड़ा था।

गाँवों के आर्थिक व सामाजिक पुनरुत्थान के लिए गाँवों में रचनात्मक कार्य शुरू करने की जरूरत महसूस की गई, लोगों में यह चेतना पैदा करने की कि अपनी प्रगति के लिए वे खुद आगे आएँ, रचनात्मक कार्यों में सामाजिक सुधार लागू करना तथा जाति प्रभुत्व, बाल विवाह, दहेज, शराबखोरी जैसी सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ संघर्ष छेड़ना शामिल था। आत्मनिर्भरता के लिए स्वदेशी अथवा राष्ट्रीय शिक्षा की भी जरूरत महसूस की गई।

टैगोर के शान्ति निकेतन की तर्ज पर बंगाल नेशनल कालेज की स्थापना की गई। इसके प्राचार्य बने अरविन्द। बहुत थोड़े समय में ही पूरे देश में अनेक राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हो गई। अगस्त 1906 में राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् का गठन हुआ। इसमें उस समय में देश के सारे जाने-माने लोग शामिल थे। परिषद् का उद्देश्य था ''राष्ट्रीय नियन्त्रण के तहत जनता को इस तरह की साहित्यिक, वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा देना, जो राष्ट्रीय जीवन धारा से जुड़ी हो।'' शिक्षा का माध्यम वे देशी भाषाएँ बनी जो क्षेत्र विशेष में प्रचलित थी। उद्देश्य था कि शिक्षा घर-घर पहुँचे। तकनीकी शिक्षा के लिए 'बंगाल इंस्टीट्यूट' की स्थापना की गई। चन्दा इकट्ठा कर कोष बनाया गया जिससे छात्रों को ऊँची शिक्षा के लिए जापान भेजा जा सके।

आत्मनिर्भरता के लिए स्वदेशी उद्योगों की जरूरत महसूस की गई। लगभग इसी समय पूरे देश में तमाम स्वदेशी कल-कारखाने स्थापित होने लगे। कपड़ा मिलें, साबुन, माचिस के कारखाने, चर्म

उद्योग, बैंक, बीमा कम्पनियाँ अस्तित्व में आईं। हालांकि इनमें से अधिकतर चल नहीं पाईं क्योंकि इनके मालिक व्यापारिक चतुराई और जोड़-तोड़ नहीं जानते थे। उन्होंने तो महज देशभक्ति के नाते स्वावलंबन के उद्देश्य से इन कारखानों की स्थापना की थी। कुछ कारखाने अवश्य जिन्दा रह पाए और अच्छा काम किया, जैसे आचार्य बी.सी. राय की बंगाल केमिकल्स फैक्टरी।

सांस्क तिक जीवन पर प्रभावः स्वदेशी आन्दोलन का सबसे अधिक प्रभाव सांस्क तिक क्षेत्र पर पड़ा। बंगला साहित्य विशेषकर काव्य के लिए तो यह स्वर्णकाल था। रविन्द्रनाथ टैगोर, रजनीकांत सेन, द्विजेन्द्रलाल राय, मुकुन्द दास, सैयद अबु मुहमद इत्यादि के उस समय के लिखे गीत, क्रान्तिकारी आतंकवादियों, नरम पंथियों, गांधीवादियों और साम्यवादियों सबके लिए प्रेरणा स्रोत बने और आज भी ये गीत उतने ही लोकप्रिय हैं। टैगोर ने उस समय 'बंगलादेश' के स्वाधीनता संघर्ष को और तेज करने के लिए जो गीत लिखा था 'आमार सोनार बांगला' वह 1971 में बंगलादेश का राष्ट्रगान बना। ग्रामीण हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच उस समय लोकप्रिय लोक संगीत पर स्वदेशी आन्दोलन की गहरी छाप पड़ी।

कला के क्षेत्र में यही वह समय था जब अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने भारतीय कला पर पाश्चात्य आधिपत्य को तोड़ा और मुगलों, राजपूतों की सम द्ध स्वदेशी पारम्परिक कलाओं व अजंता की चित्रकला से प्रेरणा लेनी शुरू कर दी। 1906 में स्थापित 'इण्डियन सोसायटी आफ ओरिएण्टल आर्ट्स' की पहली छात्रव त्ति भारतीय कला के मर्मज्ञ नंदलाल बोस को मिली। विज्ञान के क्षेत्र में जगदीश चन्द्र बोस, प्रफुल्लचन्द्र राय इत्यादि की उल्लेखनीय सफलताएँ, आविष्कार, स्वदेशी आन्दोलन को और भी मजबूत बनाने लगे।

बहुआयामी कार्यक्रमों और गतिविधियों वाले इस स्वदेशी आन्दोलन में पहली बार समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को अपने दायरे में लिया। जनता का एक बहुत बड़ा हिस्सा पहली बार सक्रिय राष्ट्रवादी राजनीति में भागीदार बना। राष्ट्रीय आन्दोलन का सामाजिक दायरा काफी फैला और इसमें कुछ जमींदार, शहरी, निम्न मध्यम वर्ग के लोग शरीक हुए। पहली बार औरतें घर से बाहर निकलीं और प्रदर्शन में हिस्सा लेने लगीं एवं धरने पर बैठने लगीं। यही वह समय तथा जब पहली बार मजदूर वर्ग की आर्थिक कठिनाइयों को राजनीतिक स्तर पर उठाया गया था। उसे राजनीतिक संघर्ष से जोड़ा गया। आन्दोलनकारी नेता, जिनमें बहुत कुछ तत्कालीन अनेक राष्ट्रीय समाजवादी लहर से प्रभावित थे। विदेशी मालिकों के कारखानों में हड़ताल आयोजित करने लगे। ईस्टर्न रेलवे और क्लाईव जूट मिलें इसका उदाहरण हैं।

जहाँ तक किसानों, विशेषकर निचले तबके के किसानों को आन्दोलन के लिए तैयार करने की बात है, कहा जाता है कि स्वदेशी आन्दोलन इस मामले में असफल रहा। केवल बारीसाल इसका अपवाद माना जाता है लेकिन स्वदेशी आन्दोलन के छुट-पुट जगहों पर जितने किसानों को आन्दोलन के लिए तैयार किया था उनमें राजनीतिक चेतना जगाई वह अपने आप में आन्दोलन की बहुत बड़ी सफलता थी। क्योंकि स्वदेशी आन्दोलन वास्तव में भारत में आधुनिक राजनीति की शुरुआत थी। समूचे किसान वर्ग को राजनीतिक संघर्ष के लिए तैयार न कर पाने की बात केवल स्वदेशी आन्दोलन के साथ ही नहीं जुड़ी है। स्वदेशी आन्दोलन के बाद भारत में जो भी आन्दोलन हुए वे समूचे किसान वर्ग को प्रभावित नहीं कर सके। इनकी गतिविधियाँ भी क्षेत्र विशेष में सिमटकर रह गई। यह सच है कि किसान आन्दोलन के लिए किसानों को बड़े पैमाने पर संगठित नहीं किया जा सका, और किसान राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय रूप से जुड़ नहीं सके। लेकिन इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्वदेशी आन्दोलन में बैठकों, जन सभाओं, यात्राओं,

प्रदर्शनों इत्यादि के माध्यम से किसानों के एक बड़े तबके को आधुनिक राजनीतिक विचारधारा से परिचित करवाया।

साम्प्रदायिकताः

जहाँ तक मुसलमानों का सवाल है स्वदेशी आन्दोलन समाज के विभिन्न तथ्यों के कुछ मुसलमानों को ही अपने साथ ले सका। बहुसंख्यक मुसलमानों ने साथ नहीं दिया, विशेषकर खेतिहर मुसलमानों ने। इसका प्रमुख कारण अंग्रेजी हुकूमत द्वारा मुसलमानों में साम्प्रदायिकता का जहर घोलना था। अंग्रजी हुकूमत स्वदेशी आन्दोलन को कमजोर करने के लिए समय-समय पर मुसलमानों को भड़काती रही, उनमें साम्प्रदायिकता का जहर घोलती रही। अंग्रेजी हुकूमत का साथ दिया बंगाल की तत्कालीन सामाजिक आर्थिक अवस्था ने। उस समय बंगाल के अधिकतर हिन्दू भू-स्वामी थे और मुसलमान खेतिहर मजदूर। अंग्रेजों ने मुसलमानों को खूब भड़काया और यही वह समय था, जब फिरंगी हुकूमत के इशारे पर 'इण्डियन मुस्लिम लीग' का गठन हुआ। ढाका के नवाब सलीमुल्लाह का इस्तेमाल विदेशी आन्दोलन के विरोध के रूप में किया गया। साम्प्रदायिक ताकतों ने स्वदेशी आन्दोलन को कमजोर करने के लिए मुल्लाओं और मौलवियों का इस्तेमाल करना शुरू कर दिया। और जब स्वदेशी आन्दोलन अपने चरम बिन्दु पर पहुँच रहा था तभी बंगाल में साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे।

साम्प्रदायिकता के जहर ने तो स्वदेशी आन्दोलन को नुकसान पहुँचाया ही, खुद इस आन्दोलन के कुछ तरीकों से भी इसे क्षति पहुँची। हालांकि आन्दोलनकारियों ने इन तरीकों का इस्तेमाल बड़ी ईमानदारी से अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया था। ऐसे पारम्परिक रीति-रिवाजों, त्यौहारों और संस्थाओं का सहारा लेना, जिनका चरित्र बहुत हद तक धार्मिक था आन्दोलन के लिए नुकसानदेह साबित हुआ। हालांकि दुनिया में हर जगह जनता में पहली बार राजनीतिक चेतना पैदा करने के लिए उन्हीं चीजों का सहारा लिया जाता रहा है, किंतु समकालीन भारत की सामाजिक अवस्था शेष दुनिया से काफी भिन्न थी। जिस देश में स्वयं सरकार साम्प्रदायिकता को भड़का रही हो वहाँ धार्मिक रीति-रिवाजों और धार्मिक संस्थानों का सहारा लेना खतरनाक होता है। भारत में यही हुआ, साम्प्रदायिक ताकतों ने स्वदेशी आन्दोलन के उद्देश्यों को विक त ढंग से पेश किया। यही नहीं सदियों के भाई-चारे और मेल-मिलाप से उपजी सांस्क तिक परम्पराओं पर भी इन साम्प्रदायिक ताकतों ने साम्प्रदायिक मुलम्मा चढ़ा दिया। इसी कारण दुर्भाग्य से बंगाल के बहुसंख्यक मुसलमान स्वदेशी आन्दोलन में शरीक नहीं हुए और कुछ तो साम्प्रदायिक राजनीति के शिकार हो गए। इस साम्प्रदायिक राजनीति ने 1907 में बंगाल में हिन्दू-मुस्लिम दंगों को जन्म दिया।

स्वदेशी आन्दोलन का अन्तः 1908 के मध्य तक आते-आते स्वदेशी आन्दोलन की ऊर्जा खत्म हो गई। इसके अनेक कारण थे। पहला तो यह कि आन्दोलन के खतरे को सरकार भाँप गई और उसने इसे निमर्मतापूर्वक दबाना शुरू कर दिया। दमनचक्र शुरू हो गया। सार्वजनिक सभाओं, प्रदर्शनों के समर्थक छात्रों को सरकारी स्कूलों से निकाला जाने लगा, सरकारी नौकरियों के दरवाजे इनके लिए बंद होने लगे, इन पर जुर्माना किया गया और पुलिस ने बेरहमी से पिटायी की। बारीसाल सम्मेलन में पुलिस ने जिस निर्ममता से लोगों की पिटाई की थी वह अपने आप में इस बात का सबूत है कि सरकार आन्दोलन के प्रति क्या रवैया अपनाए हुए थी।

दूसरा कारण था कांग्रेस पार्टी में आपसी मतभेद। 1907 में कांग्रेस विभाजन ने स्वदेशी आन्दोलन को बहुत बड़ी क्षति पहुँचाई हालांकि स्वदेशी आन्दोलन का दायरा बंगाल के बाहर तक फैला था, लेकिन बंगाल को छोड़कर देश का बाकी हिस्सा आधुनिक विचारधारा व संघर्ष को अपनाने के लिए

पूरी तरह तैयार नहीं था। अंग्रेजी हुकूमत ने इसका फायदा उठाया और दमन चक्र चालू हो गया। 1907 से 1908 के बीच बंगाल के नौ बड़े नेता जिनमें अश्विनी कुमार दत्त और क ष्ण कुमार मित्रा भी थे, निर्वासित कर दिए गए। तिलक को छः वर्ष की कैद हुई। पंजाब के अजीतसिंह और लाला लाजपतराय को निर्वासित किया गया तथा मद्रास के चिदम्बरम पिल्लै एवं आंध्र के हरिसर्वोत्तम राव को गिरफ्तार कर लिया गया। बिपिनचन्द्र पाल और अरविन्द घोष ने सक्रिय राजनीति से सन्यास ले लिया। इस प्रकार एकाएक समूचा आन्दोलन नेत त्वहीन हो गया।

तीसरा कारण यह था कि स्वदेशी आन्दोलन के पास कोई प्रभावी संगठन नहीं था, आन्दोलन में तमाम गांधीवादी तरीके जैसे अहिंसक असहयोग, जेलभरो आन्दोलन, सामाजिक सुधार, गाँवों में रचनात्मक कार्य इत्यादि अपनाए, लेकिन संगठन के अभाव में आन्दोलन इन तरीकों को कोई अनुशासित केन्द्रीय दिशा देने में असफल रहा। इन तमाम तरीकों को अनुशासित ढंग से असली जामा नहीं पहनाया जा सका, जैसा कि बाद में गांधी जी ने किया।

आखिरी बात यह है कि कोई जनान्दोलन लगातार नहीं चल सकता। इनमें एक ठहराव आता है। जब क्रांतिकारी शक्तियाँ अगले संघर्ष के लिए तैयारी करती हैं, जनमत तैयार होता है। इस स्वदेशी आन्दोलन के बाद भी ऐसा ही हुआ।

1908 के मध्य में जब यह आन्दोलन खत्म हुआ तो इसके कुछ समय बाद क्रांतिकारी आतंकवाद की शुरुआत हुई। स्वदेशी आन्दोलन ने नौजवानों के भीतर संघर्ष की चिंगारी सुलगाई थी। राष्ट्रीयता तथा सामूहिक राजनीतिक संघर्ष का पाठ पढ़ाया था, लेकिन इस समय ये क्रांतिकारी युवक अपने को अकेला पा रहे थे। स्वदेशी आन्दोलन समाप्तप्राय था और अंग्रेजी हुकूमत बेइंतहा जुल्म ढाती जा रही थी। निराश युवकों ने अलग-अलग अपने-अपने ढंग से आतंकवादी गतिविधियों का सहारा लिया। यानी यह अब तक के सामूहिक राजनीतिक संघर्ष से बिल्कुल भिन्न तरीका था।

इस प्रकार स्वदेशी आन्दोलन की समाप्ति के साथ भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का एक युग समाप्त हो गया। यह कहना गलत होगा कि स्वदेशी आन्दोलन असफल रहा। आन्दोलन ने समाज के उस बड़े तबके में राष्ट्रीयता की चेतना का संचार किया जो उससे पहले राष्ट्रीयता के बारे में अनभिज्ञ था। इस आन्दोलन ने औपनिवेशिक विचारधारा तथा अंग्रेजी हुकूमत को काफी हद तक क्षति पहुँचाई और सांस्क तिक जीवन को जितना प्रभावित किया उसकी इतिहास में मिसाल मिलनी मुश्किल है।

इस आन्दोलन ने जनमत तैयार करने के अनेक नए तरीके ईजाद किए हालांकि इन तरीकों को वह खुद अच्छी तरह इस्तेमाल न कर सका। लेकिन स्वदेशी आन्दोलन की सफलता को इस तर्क पर नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। यही संघर्ष भावी राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव बनी।

अध्याय-6
होमरूल लीग का आन्दोलन
(Home-rule Movement)

श्रीमती ऐनी बेसेन्ट आयरलैंड की रहनेवाली थी। वे भारत में थियोसोफिकल सोसायटी की संचालिका थी। वे भारतीय सभ्यता तथा संस्क ति से बहुत प्रभावित थी। इसलिए आयरलैंड को छोड़कर वह भारत में बस गई थीं और भारत को अपनी मात भूमि मानने लग गई थी। इस समय आयरलैंड में आयरिस नेता रेडमाण्ड के नेत त्व में होमरूल लीग की स्थापना हुई थी जो वैधानिक तथा शांतिमय उपायों से आयरलैंड के लिए होमरूल तथा स्वशासन प्राप्त करना चाहती थी। 1913 में जब ऐनी बेसेन्ट इंग्लैण्ड गई तो आयरलैंड की होमरूल लीग ने उनको सुझाव दिया कि भारत को स्वतंत्र कराने के लिए होमरूल आन्दोलन प्रारम्भ करे। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट भारत को उसी तरह का स्वराज दिलाना चाहती थी, जैसा कि ब्रिटिश साम्राज्य के दूसरे उपनिवेशों में था अर्थात् भारत को अधिराज्य स्थिति (Dominion Status) दिलाने की इच्छुक थी। इसी उद्देश्य से भारत लौटने पर कांग्रेस में शामिल हुई और उदारवादियों तथा उग्रवादियों को एकताबद्ध कर होमरूल आन्दोलन चलाया।

होमरूल आन्दोलन के उद्देश्यः होमरूल आन्दोलन एक वैधानिक आन्दोलन था। इस आन्दोलन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित थे।

(1) इसका सर्वप्रथम उद्देश्य भारत के लिए स्वशासन प्राप्त करना था। ऐनी बेसेन्ट भारत को उसी तरह का स्वराज्य दिलाना चाहती थी जैसा कि ब्रिटिश साम्राज्य के दूसरे उपनिवेशों में था। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने होमरूल आन्दोलन का आशय स्पष्ट करते हुए अपने साप्ताहिक पत्र 'कामन वील' के प्रथम अंक में लिखा था कि, ''राजनीतिक सुधारों से हमारा अभिप्राय ग्राम पंचायतों से लेकर जिला बोर्डों और नगरपालिकाओं, प्रान्तीय विधान सभाओं, राष्ट्रीय संसद के रूप में स्वशासन की स्थापना करना है। इस राष्ट्रीय संसद के अधिकार स्वशासित उपनिवेशों की धारा सभाओं में समान ही होंगे। उन्हें नाम चाहे जो भी दिया जाए और जब ब्रिटिश साम्राज्य की संसद में स्वशासित राज्यों के प्रतिनिधि लिए जाएँ तो भारत का प्रतिनिधि भी उस संसद में पहुँचे।''

(2) इस आन्दोलन का उद्देश्य न तो अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालना था और न ही उनके युद्ध के प्रयत्नों में बाधा डालना था। इसके विपरीत उनका कहना था कि स्वशासित भारत अंग्रेजों के लिए युद्ध से अधिक सहायक सिद्ध होगा। भारतीय युद्ध में अंग्रेजों को इसलिए सहायता दे रहे थे क्योंकि उन्हें यह उम्मीद थी कि युद्ध की समाप्ति के बाद अंग्रेज उन्हें स्वशासन देंगे। ऐनी बेसेन्ट का मानना था कि यदि ब्रिटिश सरकार युद्ध के दौरान ही स्वशासन देकर उसे संतुष्ट कर दे तो भारतीय अधिक तन्मयता तथा साधन से अंग्रेजों की युद्ध में सहायता करेंगे।

ऐनी बेसेन्ट का विचार था कि एक पराधीन भारत ब्रिटिश साम्राज्य के लिए उतना सहायक नहीं हो सकता जितना कि स्वतन्त्र भारत। इस प्रकार इस आन्दोलन का उद्देश्य युद्ध में परोक्ष रूप से ब्रिटेन को सहायता देना था।

(3) होमरूल का एक उद्देश्य भारतीय राजनीति को उग्रधारा की ओर जाने से रोकना था। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने भारतीय राजनीतिक प्रव त्ति का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया वे इस निष्कर्ष पर पहुंची थी कि यदि शांतिपूर्वक तथा वैधानिक तरीकों से आन्दोलन नहीं चलाया गया तो भारतीय राजनीति पर क्रांतिकारियों तथा आतंकवादियों का आधिपत्य हो जाएगा। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने शांतिपूर्ण तथा वैधानिक आन्दोलन का प्रारम्भ श्रेयकर समझा। डॉ० जकारिया के अनुसार, ''उनकी योजना उग्र राष्ट्रीय व्यक्तियों को क्रांतिकारियों के साथ इकट्ठा होने से रोकने की थी। वे भारतीयों को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य दिलवाकर संतुष्ट रखना चाहती थी।'' इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने होमरूल आन्दोलन चलाया जिससे कि भारतीय राजनीति में क्रांतिकारियों के प्रभाव को रोका जा सके।

(4) युद्ध काल में भारतीय राजनीति शिथिल पड़ गई थी और सक्रिय कार्यक्रम तथा प्रभावशाली नेत त्व के अभाव में राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो गया था। अतः भारतीय जनता की सुषुप्तावस्था से जागना आवश्यक था। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु ऐनी बेसेन्ट ने होमरूल आन्दोलन प्रारम्भ किया। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट का कहना था, ''मैं एक भारतीय टॉम-टॉम हूं जिसका कार्य सोए हुए भारतीयों को जगाना है, ताकि वे उठें और अपनी मात भूमि के लिए कुछ कार्य करें।

होमरूल आन्दोलन उदारवादी आन्दोलन से भिन्न था। वह भारत के लिए स्वशासन की याचना नहीं, अपितु अधिकारपूर्ण माँग की अभिव्यक्ति था अर्थात् स्वशासन की प्राप्ति भारतीयों का जन्मसिद्ध अधिकार था। तिलक ने कहा था कि, ''होमरूल मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, मैं इसे लेकर ही रहूँगा।'' श्रीमती ऐनी बेसेन्ट का कहना था कि- होमरूल भारत का अधिकार है और राजभक्ति के पुरस्कार के रूप में उसे प्राप्त करने की बात कहना मूर्खतापूर्ण है। भारत राष्ट्र के रूप में अपना न्यायिक अधिकार ब्रिटिश साम्राज्य से माँगता है। भारत इसे युद्ध से पूर्व माँगता था, भारत इसे युद्ध के बीच माँग रहा है और युद्ध के बाद माँगेगा। परन्तु यह इस न्याय को पुरस्कार के रूप में नहीं वरन् अधिकार के रूप में माँगता है, इस बारे में किसी को कोई गलत धारणा नहीं होनी चाहिए।

आन्दोलन की प ष्ठभूमि, प्रारम्भ एवं प्रगतिः बाल गंगाधर तिलक की छः मास की लम्बी सजा काटने के बाद 16 जून 1914 को जेल से छूटे। कैद का अधिकांश समय माण्डले (बर्मा) में बीता था। भारत लौटे तो उन्हें लगा कि वह जिस देश को छोड़कर गए थे, वह काफी बदल गया है। स्वदेशी आन्दोलन के क्रांतिकारी नेता अरविन्द घोष ने सन्यास ले लिया तथा पांडिचेरी में रहने लगे थे। लाला लाजपत राय अमेरिका में थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सूरत के विभाजन, आन्दोलनकारियों पर अंग्रेजों के दमनकारी प्रहारों और 1990 के संवैधानिक सुधारों के कारण नरमपंथी राष्ट्रवादियों की निराशा के सम्मिलित सदमे से अभी उबर नहीं पाई थी।

तिलक ने सोचा कि सबसे पहले तो कांग्रेस होकर बाकी गरमपंथियों को भी इसमें शामिल करवाया जाए। तिलक को यह विश्वास हो चला था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का पर्याय बन चुकी है और बिना इसकी इजाजत के कोई भी राष्ट्रीय आन्दोलन सफल नहीं हो सकता। नरमपंथियों को समझाने-बुझाने, उनका विश्वास जीतने तथा भविष्य में अंग्रेजी हुकूमत दमन का रास्ता न अख्तियार करे, इस उद्देश्य से उसने घोषणा की ''मैं साफ-साफ कहता हूँ कि हम लोग हिन्दुस्तान में प्रशासन व्यवस्था का सुधार चाहते हैं जैसा कि आयरलैंड में वहाँ के

आन्दोलनकारी मांग कर रहे हैं। अंग्रेजी हुकूमत को उखाड़ फेंकने का हमारा कोई इरादा नहीं है। इस बात को कहने में मुझे कोई हिचक नहीं कि भारत के विभिन्न भागों में जो हिंसात्मक घटनाएँ हुई हैं, न केवल मेरी विचारधारा के विपरीत है, बल्कि उनके कारण हमारे राजनीतिक विकास की प्रक्रिया भी धीमी हुई है।'' उन्होंने अंग्रेजी हुकूमत के प्रति अपनी निष्ठा दोहराई और भारतीय जनता से अपील की कि वह संकट की घड़ी में अंग्रेजी हुकूमत का साथ दे।

नरमपंथी खेमे के तमाम नेता अब महसूस करने लगे थे कि 1907 में सूरत में जो कुछ उन्होंने किया, वह गलत था। ये कांग्रेस की अकर्मण्यता से भी क्षुब्ध थे। इन्हें तिलक की अपील बहुत भायी। इसके अलावा इन पर ऐनी बेसेन्ट का लगातार दबाव पड़ रहा था कि देश में राष्ट्रवादी राजनीतिक आन्दोलन को फिर से तेज करो। ऐनी बेसेन्ट अभी हाल ही में कांग्रेस में शामिल हुई थी। 1914 में वह 66 वर्ष की थी, उनके राजनीतिक जीवन की शुरुआत इंग्लैण्ड में हुई थी जहाँ उन्होंने स्वतंत्र चिन्तन (फ्री थॉट) उग्र सुधारवाद (रेडिकलिज्म) फैबियनवाद और ब्रह्मविद्या (थियोसॉफी) के प्रचार में हिस्सा लिया। 1893 में वे भारत आई, उद्देश्य था थियोसाफीकल सोसाइटी के लिए काम करना। उन्होंने मद्रास के एक उपनगर आडियार में अपना दफ्तर खोला और 1907 में थियोसाफी का प्रचार करने लगी। थोड़े समय में ही उन्होंने समर्थकों की एक बड़ी संख्या कर ली। जिनमें ज्यादातर उन समुदायों के शिक्षित व्यक्ति शामिल हुए थे, जिनमें अभी तक सांस्क तिक पुनर्जागरण नहीं हुआ था। 1914 में ऐनी बेसेन्ट ने अपनी गतिविधियों का दायरा बढ़ाने का निर्णय किया और आयरलैंड की होमरूल लीग की तरह भारत में भी स्वशासन की माँग को लेकर आन्दोलन चलाने की योजना बनाई। उन्हें लगा कि इसके लिए कांग्रेस की अनुमति और गरमपंथी आन्दोलनकारियों का सहयोग लेना जरूरी है। गरमपंथियों का सहयोग पाने के लिए उन्हें कांग्रेस में शामिल करना जरूरी था। ऐनी बेसेन्ट कांग्रेस के गरमपंथी नेताओं को समझने लगी कि वे तिलक व उसके गरमपंथी सहयोगियों को कांग्रेस में शामिल होने की इजाजत दे दे। लेकिन 1914 के कांग्रेस अधिवेशन ने उसकी कोशिशों पर पानी फेर दिया। फिरोजशाह मेहता और बम्बई के उनके नरमपंथी समर्थकों ने गोखले और बंगाल के नरमपंथियों को, गरमपंथियों को बाहर रखने के लिए मना लिया। इसके बाद तिलक और ऐनी बेसेन्ट खुद अपने बूते पर राजनीतिक आन्दोलन चलाने का फैसला किया और साथ-ही-साथ वे कांग्रेस पर दबाव भी डालती रही कि गरमपंथियों को पुनः अपना सदस्य बना ले।

1915 के शुरू में ऐनी बेसेन्ट ने दो अखबारों 'न्यू इंडिया' और 'कामन वील' के माध्यम से आन्दोलन छेड़ दिया। जनसभाएँ तथा सम्मेलन आयोजित किए। उनकी माँग थी कि जिस तरह से गोरे उपनिवेशों में वहाँ की जनता को अपनी सरकार बनाने का अधिकार दिया गया है, भारतीया जनता को भी स्वशासन का अधिकार मिले। अप्रैल 1915 के बाद ऐनी बेसेन्ट ने और भी कड़ा और जुझारू रुख अख्तियार किया।

इसी बीच लोकमान्य तिलक ने अपनी राजनीतिक गतिविधियाँ शुरू कर दी। लेकिन वे काफी सतर्क थे कि कांग्रेस का नरमपंथी खेमा नाराज न हो या कांग्रेस को यह न लगे कि तिलक की गतिविधियाँ कांग्रेस की नीति से मेल नहीं खाती। उनकी दिली ख्वाहिश कांग्रेस में किसी तरह शामिल होने की थी। तिलक ने 1915 में पूना में अपने समर्थकों का एक सम्मेलन बुलाया, जिसमें यह फैसला किया कि ग्रामीण जनता को कांग्रेस के उद्देश्यों और उसकी गतिविधियों से परिचित कराने के लिए एक संस्थान का गठन किया जाए। इस फैसले के बाद उसी वर्ष अगस्त और सितम्बर में महाराष्ट्र के विभिन्न नगरों में जो स्थानीय संगठन बने, वे राजनीतिक गतिविधियों को तेज करने के बजाय सारी ऊर्जा कांग्रेस में एकता स्थापित करने के लिए खर्च करते रहे। वे बराबर जोर देते रहे कि किसी भी राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए कांग्रेस में एकता बहुत जरूरी है। नरमपंथी कांग्रेस के कुछ

रूढ़िवादियों पर दबाव डालने के लिए तिलक ने कभी-कभी धमकी का भी सहारा लिया, पर उन्हें विश्वास था कि अधिकतर नरमपंथी नेताओं को वह समझा-बुझाकर मना लेंगे।

दिसम्बर 1915 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ और तिलक तथा ऐनी बेसेन्ट के प्रयासों को सफलता मिली। गरमपंथियों को कांग्रेस में वापस लेने का फैसला किया गया। फिरोजशाह मेहता के निधन के बाद बम्बई के नरमपंथियों का विरोध बेअसर साबित हुआ। गोखले का निधन हो चुका था। गरमपंथियों को कांग्रेस में लाने में तो ऐनी बेसेन्ट सफल रही पर होमरूल लीग के गठन के अपने प्रस्ताव पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग की मंजूरी नहीं ले सकी। लेकिन स्थानीय स्तर पर कांग्रेस समितियों को पुनर्जीवित करने के लिए प्रचार कार्यों के उनके प्रस्तावों को कांग्रेस ने मान लिया लेकिन उन्हें उस समय की कांग्रेस का चरित्र और उसकी ताकत का पता था। वे जानती थी कि कांग्रेस ने इन कार्यक्रमों को मंजूरी तो दे दी है, लेकिन वह इस पर अमल नहीं करेगी। इसलिए उन्होंने अपने प्रस्ताव के साथ यह शर्त भी रखी थी कि यदि सितम्बर 1916 तक कांग्रेस इन कार्यक्रमों पर अमल नहीं करेगी तो वह खुद अपना संगठन बना लेगी।

तिलक को काग्रेंस में वापस आने का अधिकार मिल गया था और उन्होनें काग्रेंस से किसी तरह का वादा भी नहीं किया था, इसलिए उन्होनें अप्रैल 1916 में बेलगाव में हुए प्रान्तीय सम्मेलन में 'होमरूल लीग' के गठन की घोषणा की। एनी बेसेन्ट के समर्थक भी अब कसमसाने लगे। वे सितम्बर तक इन्तजार करने को तैयार नहीं थे। उन्होंने एनी बेसेन्ट पर दबाव डालकर होमरूल ग्रुप की स्थापना करने की इजाजत ले ली। जमनादास द्वारकादास, शंकरलाल बेकर और इन्दुलाल याज्ञनिक ने बम्बई में एक अखबार 'यंग इन्डिया' का प्रचलन शुरू किया और अंग्रेजी तथा क्षेत्रीय भाषा में परचे निकालने के लिए देश के कोने-कोने से चन्दा इकट्ठा करने लगे। एनी बेसेन्ट ने सितम्बर तक इन्तजार किया। कांग्रेस पूरी तरह निष्क्रिय थी। उन्होनें भी होमरूल लीग की स्थापना की घोषणा कर दी और अपने समर्थक जार्ज अरुंडेल को संगठन सचिव नियुक्त किया। तिलक और एनी बेसेन्ट ने अपनी-अपनी लीग के लिए कार्यक्षेत्रों का बँटवारा भी कर दिया, जिससे कहीं कोई गड़बडी न हो। तिलक की लीग कर्नाटक, महाराष्ट्र, मध्यप्रान्त और बरार की जिम्मेवारी थी। देश के बाकी हिस्से एनी बेसेन्ट की लीग के जिम्मे थी। इन दोनों ने अपना विलय नहीं किया। कारण था एनी बेसेन्ट के कुछ समर्थक तिलक को पसंद नहीं करते थे तथा तिलक के कुछ समर्थक एनी बेसेन्ट को, लेकिन उन दोनों के बीच किसी प्रकार का झगड़ा नहीं था।

तिलक ने महाराष्ट्र का दौरा किया। होमरूल आन्दोलन का खूब प्रचार किया। जनता को समझाया कि इसकी जरूरत क्यों है, इसके उद्देश्य क्या हैं। उन्हीं के शब्दों में, ''भारत उस बेटे की तरह है, जो जवान हो चुका है। समय का तकाजा है कि बाप या पालक इस बेटे को उसका वाजिब हक दे दे। भारतीय जनता को अब हक लेना ही होगा। उन्हें इसका पूरा अधिकार है।'' तिलक ने क्षेत्रीय भाषा में शिक्षा और भाषाई राज्यों की माँग को 'स्वराज' की माँग से जोड़ दिया। उन्होनें कहा ''मराठी, तेलगू, कन्नड़ तथा अन्य भाषाओं के आधार पर प्रान्तों के गठन की माँग का अर्थ ही है शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषा हो। क्या अंग्रेज अपने यहाँ लोगो को फ्रांसीसी की शिक्षा देते है। क्या जर्मन अपने लोगों की अंग्रेजी में शिक्षा देते है या तुर्क फ्रेंच में शिक्षा देते है।'' 1915 में बम्बई के प्रान्तीय सम्मेलन मे तिलक ने गोखले के निधन पर शोक प्रस्ताव रखा। बी.बी. अलूर इसका समर्थन करने के लिए जैसे ही खड़े हुए तिलक ने कहा ''कन्नड़ भाषा का अधिकार जताने के लिए कन्नड़ में बोलिए।'' इससे पता चलता है कि तिलक क्षेत्रीय मराठी संकीर्णता नहीं थी।

छुआछूत और गैर ब्राह्मणों के मामलों मे तिलक जातिवादी नहीं थे। महाराष्ट्र के गैर ब्राह्मणों ने एक-एक बार सरकार को अलग से ज्ञापन भेजा कि उच्च वर्गों की माँगों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। तो कई लोगों ने इसका विरोध किया। लेकिन तिलक ने इन विरोध करनेवालो को

समझाया, आप लोग धैर्य से काम लीजिए। यदि हम उन्हें यह समझा सकें कि हम उनके साथ हैं और उनकी माँग तथा हमारी माँगों मे कोई फर्क नहीं है, तो मुझे पक्का विश्वास है कि असमानता मिटाने के लिए छिड़ा उनका आन्दोलन हमारे संघर्ष से जुड़ जाएगा'' उन्होंने गैर ब्राह्मणों को समझाया कि झगड़ा ब्राह्मणों और गैर-ब्राह्मणों का नहीं है भेद शिक्षित और अशिक्षित के बीच है। ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मणों की तुलना में ज्यादा शिक्षित है। इसलिए गैर-ब्राह्मणों की वकालत करनेवाली सरकार भी मजबूर होकर सरकारी नौकरियों में ब्राह्मणों को ही भरती करती है। सरकार ब्राह्मणों के प्रति अपने निरंकुश रवैये के बावजूद, उन्हें प्रशासन में जगह दे रही है क्योंकि वह मानती है कि पढ़े लिखे लोग ही प्रशासन चला सकते है। छुआछूत उन्मूलन के लिए आयोजित एक सम्मेलन में तिलक ने कहा था, ''यदि भगवान भी छुआछूत को बरदाश्त करें, तो मैं भगवान को नहीं मानूँगा।''

तिलक के उस समय दिए गए भाषणों में कहीं से भी धार्मिक अपील नहीं झलकती। होमरूल की माँग पूरी तरह धर्मनिरपेक्षता पर आधारित थी। तिलक का कहना था कि अंग्रेजों से विरोध का कारण यह नहीं है कि वह किसी दूसरे धर्म के अनुयायी है, उनका विरोध तो हम इसलिए करते है क्योंकि वे भारतीय जनता के हित में कोई काम नहीं कर रहे हैं। तिलक के शब्दों में, ''अंग्रेज हो या मुसलमान यदि वह इस देश की जनता के हित के लिए काम करता है, तो वह हमारे लिए पराया नहीं है। इस पराएपन का धर्म या व्यवसाय से कोई रिश्ता नहीं है। यह सीधे-सीधे हितों से जुड़ा प्रश्न है।

तिलक ने छः मराठी तथा दो अंग्रेजी परचे निकाल कर अपने प्रचार कार्य को और तेज कर दिया। इन पर्चो की 47 हजार पर्चियाँ बेची गईं। बाद मे इन पर्चों को गुजराती और कन्नड़ भाषा मे छापा गया। लीग की छः शाखाएँ बनाई गई। मध्य महाराष्ट्र बम्बई नगर, कर्नाटक और मध्यप्रान्त में एक-एक तथा बरार में दो।

होमरूल आन्दोलन ने जैसे-जैसे जोर पकड़ना शुरू किया सरकार ने दमनात्मक कार्यवाही तेज कर दी। इस आन्दोलन पर वार करने के लिए सरकार ने एक विशेष दिन चुना। 23 जुलाई 1916 तिलक का 60 वॉ जन्मदिन था। एक बड़े सभा का आयोजन किया गया और तिलक को एक लाख रुपए की थैली भेंट की गई। सरकार ने इस अवसर पर उन्हें दूसरा इनाम दिया। उन्हें एक कारण बताओ नोटिस दिया गया। जिसमें लिखा था कि आपकी गतिविधियों के चलते आप पर प्रतिबन्ध क्यों न लगा दिया जाए। उन्हें साठ हजार रुपए का मुचलका भरने को कहा गया। तिलक के लिए शायद सबसे महत्त्वपूर्ण उपहार था। उन्होनें कहा, ''अब होमरूल आन्दोलन जंगल में आग की तरह फैलेगा। सरकारी दमन विद्रोह की आग को और भड़काएगा।''

तिलक की ओर से मुहम्मद अली जिन्ना के नेत त्व में वकीलों की एक पूरी टीम ने मुकद्दमा लड़ा। मजिस्ट्रेट की अदालत में तो तिलक मुकद्दमा हार गए पर नवम्बर में उन्हें हाईकोर्ट ने निर्दोष करार दिय। इस जीत की सभी ओर सराहना हुई। गांधी ने 'यंग-इंडिया' अखबार मे लिखा, ''यह अभिव्यक्ति की आजादी की बहुत बड़ी जीत है। होमरूल आन्दोलन के लिए एक बहुत बड़ी सफलता है।'' इस अवसर का तिलक ने फायदा उठाया और अपने सार्वजनिक भाषणों में कहने लगे कि होमरूल या स्वशासन की माँग व्यक्त करने के लिए सरकार ने अनुमति दे दी है। तिलक और उनके सहयोगियों ने प्रचार कार्य तेज कर दिया और अप्रैल 1917 तक उन्होनें 14 हजार सदस्य बना लिए।

एनी बेसेन्ट की लीग ने भी सितम्बर 1916 से काम करना शुरू कर दिया पर उनका संगठन बहुत ढीला था। कोई भी तीन व्यक्ति मिलकर कहीं भी शाखा खोल सकते थे जबकि तिलक की लीग

का संगठन बहुत मजबूत था, सभी छः शाखाओं के काम तथा कार्य लेना निर्धारित थे। एनी बेसेन्ट की लीग की दो सौ शाखाएँ थीं। बहुत शाखाएँ कस्बे और नगरों में थीं, बाकी गाँवों में, एक शाखा के तहत कुछेक गाँव आते थे। हालांकि कार्यकारी परिषद् का चुनाव किया जाता था लेकिन सारा काम एनी बेसेन्ट और उनके सहयोगी अरुडेल, सी. डी. रामास्वामी अय्यर तथा बी.पी.वाडिया देखते थे। सदस्यों को निर्देश देने का कोई संगठित तरीका नहीं था। या तो व्यक्तिगत रूप से सदस्यों को निर्देश दिए जाते थे या फिर न्यू इण्डिया में अरुडेल के लेखों का पढ़कर लोग जानते थे कि उन्हें क्या करना है। एनी बेसेन्ट की लीग तिलक की लीग की तुलना में सदस्य बनाने में पीछे रहे। मार्च 1917 तक उनकी लीग के सदस्यों की संख्या केवल 7000 थी। जवाहर लाल नेहरू, बी. चक्रवर्ती तथा जे. बनर्जी भी इससे शामिल हो गए।

फिलहाल शाखाओं की गिनती से लीग की ताकत का अनुमान लगाना कठिन है, क्योंकि इनमें से कुछ तो काफी सक्रिय भी और कुछ निष्क्रिय, क्योंकि वे ज्यादातर 'थियोसॉफिकल सोसायटी' की गतिविधियों तक सीमित थी। बतौर उदाहरण, मद्रास नगर में शाखाओं की संख्या सबसे ज्यादा थी, लेकिन बम्बई, उत्तर प्रदेश के नगरों और गुजरात के ग्रामीण इलाकों की शाखाएँ काफी सक्रिय थी। हालांकि इनकी संख्या काफी कम थी।

इन सारी गतिविधियों का एक मात्र लक्ष्य होमरूल की माँग के लिए बडे पैमाने पर आन्दोलन छेड़ना था। इसके लिए राजनीतिक शिक्षा देना और राजनीतिक बहस छेड़ना बहुत जरूरी था। अरुडेल ने 'न्यूइण्डिया' के माध्यम से अपने समर्थको को राजनीतिक बहस छेड़ने, राष्ट्रीय राजनीति के बारे में जानकारी देने वाले पुस्तकालयों की स्थापना, छात्रों को राजनीतिक शिक्षा देने के लिए कक्षाओं का आयोजन, दोस्तों के बीच 'होमरूल' के समर्थन में तर्क देने तथा उन्होंने आन्दोलन में भागीदारी बनाने के लिए कार्य करने को कहा। कई शाखाओं ने इन पर अमल किया। राजनीतिक बहस चलाने पर विशेषरूप से ध्यान दिया।

होमरूल का प्रचार कितना तेज हुआ इसका अंदाज इसी तथ्य से लगा सकते हैं कि सितम्बर 1916 तक प्रचार फण्ड से छापे जानेवाले तीन लाख पर्चे बाँटे जा चुके थे। यह प्रचार फण्ड कुछ महीने पहले ही स्थापित किया था। इन परचों मे तत्कालीन सरकार का कच्चा चिट्ठा होता था और स्वराज के समर्थन में तर्क दिए जाते थे। एनी बेसेन्ट की लीग की स्थापना के बाद इन पर्चो को फिर छापा गया। कई क्षेत्रीय भाषाओं में भी इनका प्रकाशन हुआ। साथ-साथ जनसभाओं का आयोजन और भाषणों का क्रम भी जारी रहा। जब भी किसी मुद्दे को लेकर देशव्यापी प्रतिरोध का आह्वान किया जाता था, लीग की सारी शाखाएँ इसका समर्थन करती। नवम्बर 1916 में, जब एनी बेसेन्ट पर बरार व मध्य प्रान्त में जाने पर प्रतिबन्ध लगाया गया, तो अरुडेल की अपील पर लीग की तमाम शाखाओं ने विरोध बैठकें आयोजित की और वायसराय तथा ग ह सचिव को विरोध प्रस्ताव भेजे। इसी तरह 1917 में जब तिलक पर पंजाब और दिल्ली जाने पर प्रतिबन्ध लगाया गया तो पूरे देश में विरोध बैठकें हुईं। लीग की तमाम शाखाओं ने इसका डटकर विरोध किया।

कांग्रेस की अकर्मण्यता से क्षुब्ध अनेक नरमपंथी कांग्रेसी भी होमरूल आन्दोलन में शामिल हो गए। गोखले की 'सर्वेंट आफ इण्डिया सोसायटी' को लीग का सदस्य बनने की इजाजत नहीं थी, लेकिन उन्होंने जनता के बीच भाषण देकर और परचे बाँटकर 'होमरूल आन्दोलन' का समर्थन किया। उत्तरप्रदेश मे अनेक नरमपंथी राष्ट्रवादियों ने कांग्रेस सम्मेलन की तैयारी के सिलसिले मे होमरूल लीग के कार्यकर्त्ताओं के साथ गाँवो, कस्बों का दौरा किया। इनकी ज्यादातर बैठक स्थानीय अदालतों के पुस्तकालयों में होती, जहाँ छात्र, व्यवसायी तथा अन्य पेशो से जुड़े हुए लोग इकट्ठा होते। और अगर बैठक किसी बाजार के दिन होती तो इसमें गाँवों से आए किसान भी शरीक होते। इन बैठकों में हिन्दुस्तान की गरीबी और बेहाली का

मुद्दा उठाया जाता। अतीत की सम द्धि की याद दिलाई जाती और यूरोप के स्वतंत्रता आन्दोलन पर प्रकाश डाला जाता, उससे प्रेरणा लेने की अपील की जाती। इन बैठकों में हिन्दी भाषा का इस्तेमाल किया जाता था। नरमपंथियों का होम रूल लीग को समर्थन देना कोई अचरज की बात नही थीं क्योंकि लीग नरमपंथियों के राजनीतिक प्रचार व शैक्षणिक कार्यक्रमों को ही अमली जामा पहना रही थी।

1916 में कांग्रेस का लखनऊ अधिवेशन होमरूल लीग के सदस्यों के लिए अपनी ताकत दिखाने का अच्छा मौका था। तिलक के समर्थकों ने तो एक परम्परा ही बना दी जिस पर कांग्रेस बहुत साल तक टिकी रही। उनके समर्थको ने लखनऊ पहुँचने के लिए एक ट्रेन आरक्षित की जिसे कुछ लोगों ने 'कांग्रेस स्पेशल' का नाम दिया, तो कुछ ने 'होमरूल स्पेशल' कहा। अरुडेल ने लीग के हर सदस्य से कहा था कि वह लखनऊ अधिवेशन का सदस्य बनने की हर सम्भव कोशिश करें।

कांग्रेस लीग समझौताः लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में तिलक को पुनः कांग्रेस में शामिल कर लिया गया। अध्यक्ष अंबिकाचरण मजूमदार ने कहा ''10 वर्षों के सुखद अलगाव तथा गलतफहमी के कारण बेवजह के विवादों में भटकने के बाद भारतीय राष्ट्रीय दल के दोनों खेमों ने अब यह महसूस किया है कि अलगाव उनकी पराजय है और एकता उनकी जीत। अब भाई-भाई फिर मिल गए हैं।''

इसी अधिवेशन में महत्त्वपूर्ण 'कांग्रेस लीग' समझौता हुआ, जो ''लखनऊ पैक्ट'' के नाम से जाना जाता है। इस समझौते मे एनी बेसेन्ट और तिलक ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। मदनमोहन मालवीय समेत कई वरिष्ट नेता इसके बिल्कुल खिलाफ थे। उनका आरोप था कि यह समझौता मुस्लिम लीग को बहुत तवज्जो देता है। तिलक ने इस आरोप पर कहा, ''कुछ महानुभावों का यह आरोप है कि हिन्दु अपने मुसलमान भाईयों को ज्यादा तवज्जो दे रहे हैं। मैं कहता हूँ कि यदि स्वशासन का अधिकार केवल मुस्लिम समुदाय को दिया जाए तो मुझे कोई एतराज नहीं होगा, राजदूतों को यह अधिकार मिले तो परवाह नहीं, हिन्दुस्तान ने किसी भी समुदाय को यह अधिकार दे दिया जाए हमें कोई ऐतराज नही। मेरा यह बयान समूची भारतीय राष्ट्रीय भावना का प्रतिनिधित्व करता है। जब भी आप किसी तीसरी पार्टी से लड़ रहे होते हैं, तो सबसे जरूरी होती है, आपसी एकता, जातीय एकता, धार्मिक एकता और विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं की एकता।''

तिलक को बहुत अधिक रूढ़िवादी हिन्दू माना जाता था। वह भारतीय प्राच्य विद्या के प्रकाण्ड विद्वान थे। जब उन्होंने इस तरह का बयान दिया, तो किसी और का विरोध करने की हिम्मत नहीं हुई। हालाँकि मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्रों के सिद्धान्त को स्वीकारना, विवादास्पद था। लेकिन यह इसलिए स्वीकार किया गया कि यही अल्पसंख्यकों को यह न लगे कि बहुसंख्यक उन पर प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं।

लखनऊ अधिवेशन में संवैधानिक सुधारों की माँग फिर उठाई। सदस्यों का मानना था कि स्वराज्य के लक्ष्य की प्राप्ति में यह माँग सहायक होगी। हालांकि इस माँग में वे सारी चीजें शामिल नहीं थी, जैसा कि होमरूल लीग के सदस्य चाहते थे, लेकिन उन्होनें इस पर कोई विवाद खड़ा नहीं किया। वे हर हाल में कांग्रेस में एकता बनाए रखना चाहते थे। तिलक ने एक और प्रस्ताव रखा कि कांग्रेस अधिवेशन के निर्णयों तथा कार्यक्रमों को असलीरूप देने के लिए एक कार्यकारिणी का गठन किया जाए। पर नरमपंथियों के विरोध के कारण यह प्रस्ताव मंजूर न हो सका। वास्तव में तिलक चाहते थे कि कांग्रेस अकर्मण्य न रहे, थोड़ा और काम करें।

तिलक का प्रस्ताव तो मंजूर न हो पाया, पर चार साल बाद जब 1920 में महात्मा गांधी ने कांगेस

संविधान को संशोधित कर उसे नया रूप दिया-एक ऐसा स्वरूप जो किसी आन्दोलन को लम्बे समय तक चलाने के लिए जरूरी था-तो उन्होनें भी तिलक के इसी प्रस्ताव को मानना जरूरी समझा।

कांग्रेस अधिवेशन की समाप्ति के तुरन्त बाद उसी पंडाल में दोनों होमरूल लीगों की बैठक हुई। जिसमें लगभग एक हजार प्रतिनिधियों ने भाग लिया। कांग्रेस लीग समझौते की सराहना की गई और तिलक तथा एनी बेसेन्ट ने बैठक को सम्बोधित किया। लखनऊ से लौटते समय इन दोनों नेताओं ने उत्तर, मध्य और पूर्वी भारत के अनेक क्षेत्रों का दौरा किया।

सरकारी दमनः होमरूल आन्दोलन के बढ़ते प्रभाव को देखकर सरकार का चिंतित होना स्वाभाविक था। मद्रास सरकार जरा ज्यादा ही कठोर हो गई। उसने छात्रों के राजनीतिक बैठकों में भाग लेने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। पूरे प्रदेश में इसका विरोध हुआ। तिलक ने कहा, ''सरकार को मालूम है कि देश प्रेम की भावना छात्रों को ज्यादा उत्तेजित करती है। वैसे भी कोई भी देश युवा वर्ग की ताकत से ही उन्नति कर सकता है।

मद्रास सरकार ने जून 1917 में एनी बेसेन्ट, जार्ज अरुडेल तथा वी.पी. वाडिया को गिरफतार कर लिया। इसके खिलाफ देशव्यापी प्रदर्शन हुए। सर सुब्रहमण्यम अय्यर ने सरकारी उपाधि (नाईटहुड) अस्वीकार कर दी। मदनमोहन मालवीय, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और मुहम्मद अली जिन्ना जैसे तमाम नरमपंथी नेता, जो अब तक लीग में शामिल नहीं थे, इसमें शामिल हो गए और उन्होने एनी बेसेन्ट तथा अन्य नेताओं की गिरफ्तारी के खिलाफ आवाज उठाई? 26 जुलाई 1917 को काग्रेंस को एक बैठक में तिलक ने कहा कि यदि सरकार इन लोगों को तुरन्त रिहा नहीं करती है, तो शान्तिपूर्ण असहयोग आन्दोलन चलाया जाए। इस प्रस्ताव को सभी प्रान्तीय कांग्रेस समितियों के पास मंजूरी के लिए भेजा गया। बरार व मद्रास की कांग्रेस समितियाँ तो इस पर तुरन्त कार्यवाही के पक्ष में थीं, लेकिन बाकी समितियाँ कोई निर्णय करने से पहले थोड़ा इन्तजार करने के पक्ष में थीं। गांधीजी के कहने पर शंकरलाल बैकर और जमनादास द्वारकाप्रसाद ने ऐसे एक हजार लोगों के दस्तखत इकट्ठे किए जो सरकारी आदेशों की अवहेलना करके जुलूस की शक्ल में जाकर एनी बेसेन्ट से मिलना चाहते थे। इन लोगों ने स्वराज के समर्थन में किसानों और मजदूरों के हस्ताक्षर कराना शुरू किया। गुजरात के कस्बों और गावों का दौरा किया और वहाँ लीग की शाखाएँ स्थापित करने में मदद की। होमरूल लीग के सदस्यों की संख्या में अप्रत्याशित व द्धि हुई।

इस प्रकार सरकारी दमन ने आन्दोलन को और बढ़ावा दिया, आन्दोलनकारियों को और जुझारू बनाया। माण्टेग्यू ने अपनी डायरी में लिखा है, ''शिव ने अपनी पत्नी को 52 टुकड़ों में काटा, भारत सरकार ने जब एनी बेसेन्ट को गिरफ्तार किया, तो उसके साथ ठीक ऐसा ही हुआ।''

इन घटनाओं के बाद इंग्लैण्ड की सरकार ने अपनी नीतियाँ बदली। अब उसका रूख समझौतावादी हो गया। नये ग ह सचिव माण्टेग्यू ने हाउस आफ कॉमन्स में ऐतिहासिक घोषणा की, ''ब्रिटिश शासन की नीति है कि भारत के प्रशासन में भारतीय जनता को भागीदार बनाया जाए और स्वशासन के लिए विभिन्न संस्थानों का क्रमिक विकास किया जाए जिससे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य से जुड़ी कोई उत्तरदायी सरकार स्थापित की जा सके।'' यह बयान मार्ले के बयान से एकदम विपरीत था। 1909 में संवैधानिक सुधारों को पार्लियामेन्ट में रखते समय मार्ले ने साफ-साफ कहा था कि इन सुधारों का उद्देश्य देश में स्वराज्य की स्थापना कतई नहीं है। माण्टेग्यू की घोषणा का सबसे बड़ा फायदा यह हुआ कि अब होमरूल या स्वराज की माँग को देशद्रोही नहीं कहा जा सकता था। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं था कि ब्रिटिश हुकूमत स्वराज की माँग मानने जा रही थी। माण्टेग्यू की घोषणा में यह बात भी थी कि स्वशासन की स्थापना तभी होगी, जब उसका

उचित समय आएगा और समय आया है या नहीं इसका फैसला हुकूमत करेगी। अंग्रेजी हुकूमत के लिए इतनी छुट काफी थी। इससे साफ जाहिर था कि वह भारतीयों के हाथ निकट भविष्य मे सत्ता सौंपने नहीं जा रही थी।

फिलहाल माण्टेग्यू की घोषणा के चलते सितम्बर 1917 में एनी बेसेन्ट को रिहा कर दिया गया। इस समय एनी बेसेन्ट की लोकप्रियता चरम सीमा पर थी। दिसम्बर 1917 में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में तिलक के प्रस्ताव पर उन्हें अध्यक्ष चुन लिया गया।

लेकिन 1918 में अनेक कारणों से होमरूल कमजोर पड़ गया, 1917 में भारी सफलता मिलने के बावजूद यह आन्दोलन म तप्राय हो गया। एनी बेसेन्ट की गिरफ्तारी से उत्तेजित होकर नरमपंथी इस आन्दोलन में शामिल हुए थे, उनकी रिहाई के बाद निष्क्रिय हो गए। सरकार ने सुधारों का आश्वासन दिया था। इन नेताओं को लगा कि इस आन्दोलन की जरूरत नहीं है। इसके अलावा कानून निषेध आन्दोलन चलाने की चर्चा से भी वे नाराज थे। इसलिए उन्हें सितम्बर 1918 के बाद से कांग्रेस की बैठकों में हिस्सा लेना छोड़ दिया। 1918 में सुधार योजनाओं की घोषणा से राष्ट्रव्यापी खेमे में एक और दरार पड़ गई। कुछ लोग इसे ज्यों-का-त्यों स्वीकार करने के पक्ष में थे तो कुछ इसे पूरी तरह नामंजूर करना चाहते थे। कुछ लोगों का मानना था कि इसमें कई कमियाँ तो हैं पर इसमें आजमाना चाहिए। इन सुधारों और शान्तिप्रिय असहयोग आन्दोलन के मुद्दे पर खुद एनी बेसेन्ट दुविधा में थी। कभी तो वह इसे गलत कहती और कभी अपने समर्थकों के दबाव के कारण ठीक कहती। शुरू में तिलक के साथ एनी बेसेन्ट ने कहा कि इन सुधार योजनाओं को भारतीय जनता मंजूर न करे, यह उसका अपमान है, पर बाद में उन्होंने इसे मान लेने की अपील की। तिलक काफी समय तक अपने निर्णय पर अडिग रहे। लेकिन एनी बेसेन्ट की ढुलमुल नीतियों और नरमपंथियों के रुख में बदलाव के कारण वह अकेले अपने बूते पर सुधारों का विरोध करते हुए आन्दोलन की गाड़ी को आगे खींचने में असमर्थ हो गए और साल के अन्त में इंग्लैण्ड चले गए। वहाँ उन्होंने इण्डियन अनरेस्ट के लेखक चिराव पर मानहानि का मुकदमा दायर कर रखा था। इस मुकदमे की पैरवी के चक्कर में वह कई महीनों तक इंग्लैण्ड में रहे। एनी बेसेन्ट एक सशक्त नेत त्व देने मे असमर्थ थी और तिलक विदेश में थे। नतीजन होमरूल आन्दोलन नेत त्व विहीन हो गया।

होमरूल की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि इसने भावी राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए जुझारू योद्धा तैयार किए। महात्मा गांधी के नेत त्व में ये जुझारू आन्दोलनकारी आजादी की मशाल लेकर आगे बढ़े। होमरूल आन्दोलन ने, उत्तरप्रदेश, गुजरात, सिन्ध, मद्रास, मध्यप्रान्त तथा बरार जैसे अनेक नए क्षेत्रों को राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल किया। इस प्रकार होमरूल आन्दोलन व्यर्थ नहीं गया। उसका भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस आन्दोलन ने सोते हुए भारतीयों को जगाया और उनमें पूर्ण जाग ति का संचार किया। इसने राष्ट्रीय आन्दोलन को नई गति प्रदान की और सरकार को नई सुधार योजना लागू करने के लिए विवश किया।

अध्याय-8
भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में वामपंथी राजनीति का उदय एवं विकास

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में वामपंथी राजनीति का उदय प्रथम विश्व युद्ध के बाद की घटना है। इस समय से 1947 तक का काल वामपंथी राजनीति एवं राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन दोनों के ही विकास में एक बहुत महत्त्वपूर्ण समय है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस स्वतन्त्रता आन्दोलन में समस्त देश की एकता का प्रतिपादन करती थी। वह वर्ग-संघर्ष के प्रश्न को इस आन्दोलन में स्थान देने के पक्ष में नहीं थी। वामपंथियों ने श्रमजीवियों एवं क षकों की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं को उभारने पर बल दिया और इस प्रकार राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के स्वरूप में परिवर्तन का प्रयत्न किया। वामपंथी आन्दोलन के उदय और विकास की प्रक्रिया सहज एवं निर्बाध नहीं थीं क्योंकि इसे प्रारम्भ से ही ब्रिटिश सरकार के रोष का सामना करना पड़ा था अतः अकसर इसे गुप्तरूप में कार्य करना पड़ा।

उन्नीसवीं शताब्दी एवं बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक ब्रिटिश शासन ने भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था में काफी परिवर्तन ला दिया था। ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासकों के औद्योगिक स्वार्थो की सिद्धि एवं उनके पूँजी निवेश के साधनों के माध्यम के रूप में, भारत मे औद्योगिक स्वार्थों की सिद्धि एवं उनके पूँजी निवेश के साधनों के माध्यम के रूप में, भारत में रेलवे, उद्योगों, चाय बागांनों, खानों आदि का विकास हुआ था जिसने अनिवार्यतः श्रमजीवी वर्ग को जन्म दिया। प्रथम विश्व युद्ध के पहले के मजदूर आन्दोलन पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नवजात मजदूर वर्ग ने शोषण एवं उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज उठाना और संघर्ष करना उन्नीसवीं शताब्दी में ही प्रारम्भ कर दिया था। बीसवीं शताब्दी में यह आवाज संघर्ष में बदल गई जिसके उदाहरण 1907 की रेलवे हड़ताल और 1908 की बम्बई हड़ताल जैसी बड़ी लड़ाइयों में मिलते हैं। 1907 में सारे देश में रेलवे हड़ताल हुई थी जिसके माध्यम से मजदूर अपना वेतन बढ़वाने एवं मालिकों के अत्याचार कुछ कम करने में सफल हुए थे। किन्तु बीसवीं सदी के प्रथम 1908 को तिलक को दिए गए 6 साल के कारावास दंड के विरुद्ध बम्बई के मजदूरों की हड़ताल। वस्तुतः बम्बई के मजदूरों ने शहर के अन्य श्रमजीवियों एवं देश-प्रेमियों से मिलकर तिलक पर मुकदमा शुरू होने के समय से ही संघर्ष प्रारम्भ कर दिया था। यह उनकी राजनीतिक हड़ताल थी। इसमें उन्होंने ब्रिटिश सेना के साथ बम्बई की सड़कों पर लड़ाई की थी। बम्बई के श्रमजीवियों का यह संग्राम भारत के स्वाधीनता संग्राम का एक गौरवमय अध्याय था। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में राष्ट्रीय आन्दोलन की जो लहर आई थी, मजदूर वर्ग उससें अछूता नहीं था। बंगाल उस समय बंग-भंग के कारण प्रबल राजनीतिक आन्दोलन का केन्द्र था। इस आन्दोलन से यहाँ का मजदूर वर्ग भी प्रभावित था। विश्वयुद्ध काल से पूर्व मजदूर वर्ग मूलतः असंगठित ही था। उनके संघर्षो के दौरान उनके संगठन अवश्य बनने लगे थे, किन्तु अभी वे अपनी शैशवावस्था में ही थे। किन्तु प्रथम विश्व युद्ध एवं उसी के दौरान

रूस की समाजवादी क्रान्ति ने मिलकर भारत के मजदूर वर्ग एवं उनके आन्दोलन में आमूल परिवर्तन कर दिया। युद्ध ने मजदूर वर्ग के ऊपर बहुत असर डाला था। प्रथम विश्व युद्ध का एक परिणाम यह हुआ था कि भारत में कल-कारखानों का उत्पादन बढ़ गया और औद्योगिक प्रगति हुई। उत्पादन की यह व द्वि कारखानों को दिन-रात चलाने से एवं मजदूरों पर ज्यादा बोझ डालकर हुई थी। युद्ध के दौरान बहुत से नए उद्योग खुले एवं कई सीमित पूँजी निवेश कम्पनियाँ स्थापित हुई। इस दौरान चाय-बागानों, कोयला खानों, कपड़ा मिलों, लोहे के कारखानों आदि का तेजी से विकास हुआ और इसमें काम करनेवाले मजदूरों की संख्या मे भी अभूतपूर्व व द्धि हुई। यह उन्नति युद्ध-जनित परिस्थितियों का परिणाम थी। मिल मालिकों ने युद्ध के दौरान असीमित लाभ कमाया किन्तु मजदूरों का वास्तविक वेतन बढ़ने के बजाय औसतन कम हो गया। मिल मालिकों द्वारा कमाए गए अत्यधिक लाभ का एक अन्य कारण कच्चे काल एवं तैयार माल की कीमत में आकाश-पाताल का अन्तर था। दूसरे शब्दों में, यह लाभ कच्चा माल पैदा करनेवाले किसानों के शोषण का परिणाम था। मजदूरों एवं किसानों की इस गिरती हुई दशा के कारण युद्ध की अवधि में एवं उसके बाद श्रमजीवियों एवं ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के बीच मतभेद बहुत पैने हो गए। रूसी क्रान्ति के कुछ महीने बाद ही भारत के मजदूर युद्धकालीन सरकारी सख्ती की परवाह न करके हड़ताल के क्षेत्र में उतर पड़े। अगस्त 1917 के अन्त तक हड़तालों की पहल बम्बई में कपड़ा मिल मजदूरों मे दिखाई पड़ी जो धीरे-धीरे बम्बई ही में नही अपितु 1919 तक भारत के कई नगरों में फैल गई। इसका मुख्य उद्देश्य महँगाई के कारण वेतन बढ़वाना था। ये हड़तालें व्यापक संगठित एवं लम्बी थी। ये मजदूर वर्ग की बढ़ती चेतना एवं संगठित शक्ति की परिचायक थी। 1920 तक देश के सभी महत्त्वपूर्ण उद्योगों में यूनियनें बन गईं थीं। 1920 तक भारत के मजदूर आन्दोलन के विकास को देखते हुए उसके लिए एक केंद्रीय संगठन का निर्माण आवश्यक था। जो समस्त मजदूर आन्दोलन को एक सूत्र में बाँधकर संचालित करे। 31 अक्टूबर 1920 को एक अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC) का निर्माण किया गया यद्यपि इसका तात्कालिक उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन में प्रतिनिधित्व था। संभवतः रूसी क्रान्ति के बाद एक ही वर्ष मे विश्व के मजदूर वर्ग ने जिस तरह समाजवादी क्रान्ति एवं राष्ट्रीय मुक्ति क्रान्ति की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया था उसे देखकर साम्राज्यवादी भयभीत हो उठे थे एवं उन्होने समझ लिया था कि मजदूरों की शक्ति की अब उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इसीलिए ब्रिटेन, फ्रांस, अमरीका आदि विजयी साम्राज्यवादी देशों ने राष्ट्र संघ के अंग के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना कर दी जिसमें सरकार, उद्योगपतियों एवं मजदूरों के प्रतिनिधि एकत्र होकर मजदूरों की भलाई के प्रश्नों पर विचार करते थे। यद्यपि व्यवहाररूप में यह श्रमजीवी वर्ग को उद्योपतियों का पुछल्ला बनाने का हथियार अधिक था, किन्तु इस प्रकार भारत मे मजदूरों का एक अखिल भारतीय संगठन स्थापित हुआ। एम. एन. जोशी इसके प्रतिनिधि के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन में भेजे गए। ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासकों ने भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को कुचलने के लिए 1919 के बाद भीषण दमन चक्र चलाया किन्तु 1920-21 में इस आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ लिया। आर्थिक समस्याओं, अकाल एवं महामारी ने आग में घी का काम किया। राष्ट्रीय आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ लिया। आर्थिक समस्याओं अकाल एवं महामारी ने आग में घी का काम किया। राष्ट्रीय आन्दोलन ने मजदूरों को भी प्रभावित किया था। उनकी माँगो का स्वरूप आर्थिक एवं राजनीतिक दोनों हो गया था।

1920-21 में देश में किसान आन्दोलन ने भी बहुत जोर पकड़ा। ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध कृषकों का संघर्ष प्रायः उतना ही पुराना था जितना ब्रिटिश शासन। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत कृषक भी दरिद्र से दरिद्रतर होते जा रहे थे। बंगाल में ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ से ही यथा संभव अधिकतम भू-राजस्व उगाहने की क्लाइव और वॉरेन हेस्टिंग्स की नीति के कारण बहुत विध्वंस हुआ था। स्थायी एवं अस्थायी बंदोबस्त वाले जमींदारी क्षेत्रों में किसानों को जमीदारों की दया पर छोड़ दिया

गया जिन्होंने लगान को असहनीय सीमाओं तक बढ़ा दिया तथा उन्हे अबवाब (महसूल) देने एवं बेगार करने के लिए मजबूर किया। रैयतवाड़ी एवं महलवाड़ी क्षेत्रों में सरकार ने जमींदारों का स्थान ले लिया एवं अत्यधिक भू-राजस्व निर्धारित किया। यह उन्नीसवीं सदी मे दरिद्रता की व द्धि एवं क षि की अवनति के मुख्य कारणों में से एक सिद्ध हुआ। क षि-सुधार पर सरकार ने बहुत कम व्यय किया। अत्यधिक भू-राजस्व की रकम वसूल करने के कठोर तरीके ने उसके हानिकर परिणामों को और भयंकर बना दिया था। भू-राजस्व अदा करने मे असफल होने पर किसानों की भूमि नीलाम करने की प्रथा ने प्रायः किसानों को अपनी भूमि से वंचित कर दिया अथवा किसानों को महाजनों से ऊँची दर पर कर्ज लेने पर विवश किया जिसका परिणाम भी अंततः किसान की भूमि महाजन के हाथ में जाना ही होता था।

जमीन के हाथ से निकल जाने, उद्योगीकरण एवं हथकरघा उद्योग के अभाव से जमीन पर बोझ बढ़ने के कारण भूमिहीन किसानो, दस्तकारों एवं हस्तशिल्पियों को बहुधा कम-से-कम मजूदरी पर खेतिहर मजदूरी बनने के लिए विवश होना पड़ रहा था। इस प्रकार किसान वर्ग सरकार, जमींदार एवं महाजन के तिहरे बोझ तले कुचला जा रहा था। इस प्रकार ब्रिटिश शासन के विरुद्ध किसान संघर्ष का प्रारम्भ इस शासन की स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों से ही शुरू हो गया था। सन्यासी विद्रोह (1763-1800) की मुख्य शक्ति किसान ही थे। संथाल विद्रोह (1855-56), 1857 का विद्रोह नील विद्रोह (1859-60), कूका विद्रोह (1871-72) पवना विद्रोह (1875), दक्षिण के हंगामों (1875) आदि सभी की मुख्य शक्ति किसान थे। गाँधी के नेत त्व मे चलाए गए 1920-21 के आन्दोलन की भी मुख्य शक्ति किसान थे। इस अवधि में किसान आन्दोलन ने पंजाब में अकाली आन्दोलन, मालाबार में मोपला विद्रोह एवं संयुक्त प्रान्त में जमींदारों और साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। इसका चौथा केन्द्र बंगाल में कहा जा सकता है। जहाँ उसने लगान-बन्दी का रूप धारण कर लिया था। किसानों के शामिल होने से राष्ट्रीय कांग्रेस का स्वरूप बदल रहा था। इसका श्रेय गांधी को था, हालांकि गाँधी द्वारा अकस्मात् आन्दोलन बन्द कर दिए जाने का असन्तोष वामपंथ के उदय में एक बहुत बड़ा तत्त्व बना।

1922 में आन्दोलन निलम्बित कर दिए जाने से ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासकों का दमनचक्र तीव्र हो गया। 1922 से 1926 तक का यह काल नवोदित कम्युनिस्ट कार्यवाहियों का महत्त्वपूर्ण समय था। भारत में नई क्रान्तिकारी शक्तियों, संगठित सर्वहारा वर्ग, सर्वहारा विचारधारा, मार्क्सवाद-लेनिनवाद, सर्वहारा पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी, नौजवानों के संगठनों आदि का उदय हो रहा था। जिस समय सुधारवादी स्वराजी नेता ब्रिटिश शासकों से पूर्ण स्वाधीनता के बजाए डोमीनियन स्टेट्स की माँग कर रहे थे, इन नई शक्तियों ने पूर्ण स्वाधीनता एवं ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासकों के विरुद्ध समझौताहीन संघर्ष का नारा दिया।

वामपंथी दल का विकास

सोवियत रूस और उसकी प्रतिबद्धता से आकर्षित होकर भारतीय क्रान्तिकारियों की काफी बड़ी संख्या, जो प्रवास में थे, वहाँ पहुँची। उनमें सबसे विख्यात और महान् क्रान्तिकारी का नाम था, एम. एन. राय जिन्होनें लेनिन के साथ मिलकर उपनिवेशों के प्रति कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल की नीति तैयार करने में मदद की। राय के नेत त्व में इसी प्रकार के सात भारतीयों ने मिलकर अक्टूबर 1920 में ताशकन्द मे 'भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी' की स्थापना की। जैसा कि हम देख चुके है, इस प्रयास से प थक् कई वामपंथी समूह और कम्युनिस्ट दल और संगठन 1920 के बाद भारत में अस्तित्व में आने लगे थे।

दिसम्बर 1925 में इनमें से अधिकांश समूह कानपुर में आपस में मिले और इन लोगों ने एक अखिल

भारतीय स्तर का संगठन कायम किया जिसका नाम रखा गया कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (सी. पी.आई)। कुछ समय बाद एस. वी. घाटे इसके महामंत्री के रूप में उभरकर सामने आए। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने सभी सदस्यों से कांग्रेस का सदस्य बनने के लिए कहा। उनसे यह भी कहा गया कि उसके सभी मंचों पर वे एक सशक्त वामपक्ष बनाएँ तथा सभी क्रान्तिकारी राष्ट्रवादियों से कांग्रेस के मंचों पर सहयोग करें कि कांग्रेस अधिक क्रान्तिकारी और जनाधर वाले संगठन का रूप ग्रहण करें। शुरुआती दौर के कम्युनिस्टों के राजनीति कार्य का मुख्यरूप मजदूरों और किसानों के दलों को संगठित करके उनके माध्यम से काम करना होता था। इस प्रकार का पहला संगठन था। नवम्बर 1925 में इसका संगठन बंगाल में मुजफ्फर अहमद, नजरूल इस्लाम, हेमन्त कुमार सरकार और कुछ दूसरे लोगों ने मिलकर किया था। 1926 के उत्तरार्द्ध में बम्बई में 'काग्रेस लेबर पार्टी' नामक संगठन बनाया गया तथा पंजाब मे 'कीर्ति किसान पार्टी' की स्थापना की गई। 1923 से ही 'लेबर किसान पार्टी ऑफ हिन्दुस्तान' मद्रास में काम कर रही थी। 1928 तक आकर इन सभी प्रांतीय संगठनो को मिलाकर एक नया संगठन बनाया गया जिसका नाम 'वर्कस एंड पीजेंट्स पार्टी' (डब्ल्यू०पी०पी०) रखा गया तथा जिसकी इकाइयाँ दिल्ली, राजस्थान और उत्तर प्रदेश मे भी स्थापित की गई। सभी कम्युनिस्ट-इस पार्टी के सदस्य हुआ करते थे। वर्कस एंड पीजेंट्स पार्टी का प्रमुख उद्देश्य था कांग्रेस के अन्तर्गत ही काम करना जिससे इसको अधिक क्रान्तिकारी रूझानवाली पार्टी और ''आम जनता का संगठन'' बनाया जा सके और वर्ग संगठनों में स्वतन्त्ररूप से मजदूरों और किसानों को शामिल किया जाए जिससे पहले स्वतन्त्रता हासिल की जाए उसके बाद समाजवाद के लक्ष्य तक पहुँचा जाए।

'वर्कस एंड पीजेंट्स पार्टी' का विकास काफी तेजी से हुआ और बहुत कम समय में कांग्रेस के भीतर कम्युनिस्ट प्रभाव बढ़ने लगा खास तौर से बम्बई में यह प्रभाव अधिक था। बहरहाल जवाहरलाल नेहरू तथा कुछ दूसरे क्रान्तिकारी कांग्रेसजनों ने 'वर्कस एंड पीजेंट्स पार्टी' द्वारा कांग्रेस के रूख को क्रान्ति की ओर उन्मुख करने का प्रयास करने तथा वामपक्ष के प्रभाव को बढ़ाने का स्वागत किया। जवाहरलाल नेहरू के साथ सुभाष चन्द्र बोस, नौजवानों के संगठनों तथा दूसरी वामपक्षी शक्तियों ने और ''वर्कस एंड पीजेट्स पार्टी'' ने कांग्रेस के भीतर एक सशक्त वामपक्ष बनाने के और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को वामपक्ष में झुकाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। ट्रेड यूनियन मोर्चे पर ''वर्कस एन्ड पीजेंट्स पार्टी'' ने तेजी से प्रगति की और 1927-29 के दौर में मजदूर वर्ग के संघर्ष के उभार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। कम्युनिस्टों द्वारा मजदूर वर्ग के बीच अपनी स्थिति सुद ढ़ करने में भी इसकी अहम भूमिका थी।

1929 और उसके बाद दो ऐसी घटनाएँ घटी जिनके चलते कम्युनिस्ट तथा ''वर्कस एन्ड पीजेन्ट्स पार्टी' का प्रभाव और राष्ट्रीय आन्दोलन तेजी से बढ़ता हुआ पहले रुक गया और अंततः एकदम समाप्त हो गया। पहली घटना थी सरकार द्वारा जबरदस्त दमन जिसका शिकार कम्युनिस्ट हुए। 1922-24 के बीच सोवियत रूस से भारत मे प्रवेश करने की कोशिश में कम्युनिस्टों को गिरफ्तार किया गया और राजद्रोह के अनेक मामलों में फँसाकर उन पर पेशावर में मुकद्दमें चलाए गए और लम्बी सजाएँ दी गई। 1924 में कानपुर में श्रीपाद अम त डांगे, मुजफ्फर अहमद, मालिनी गुप्ता और शौकत उसमानी को षड्यन्त्र के मुकद्दमे में फँसाकर सरकार ने कम्युनिस्ट आन्दोलन को कुचलने की कोशिश की। इन चारों को चार-चार साल की कैद की सजा सुनाई गई।

1924 तक राष्ट्रीय और ट्रेड यूनियन आन्दोलन में कम्युनिस्टों के बढ़ते प्रभाव के कारण सरकार गम्भीर रूप से चिन्तित थी। इसने इन पर भयानकरूप से प्रहार करने का निश्चय किया। मार्च 1929 में अचानक एक ही झपट्टे में सरकार ने 32 लोगों को गिरफ्तार कर लिया। जिसमें क्रान्तिकारी राजनीतिकर्मी तथा ट्रेडयूनियन के लोगों के साथ तीन ब्रिटिश कम्युनिस्ट भी थे। ये तीन

लोग थे : फिलिप स्प्रेट, बेन ब्रैडले और लेस्टर हचिन्सन। ये लोग भारत में ट्रेडयूनियन आन्दोलन को संगठित करने में मदद के लिए आए थे। सरकार का मूल उद्देश्य यूनियन आन्दोलन को समाप्त करना और कम्युनिस्टों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग-थलग करना था। 32 अभियुक्तों पर मेरठ में मुकद्दमा चलाया गया। मेरठ राजद्रोह कांड तत्काल राष्ट्रीय महत्त्व धारण कर गया। कैदियों को बचाने के लिए अनेक राष्ट्रवादी सामने आए जिनमें जवाहरलाल नेहरू, एम.ए. अंसारी और एम.सी. छागला भी थे। गाँधी जी मेरठ जेल जाकर कैदियों से मिले और उनसे अपनी एकजुटता का इजहार किया और आगामी संघर्ष मे उनका सहयोग माँगा। कैदियों ने अपने बचाव में कचहरी मे जो बयान दिए, उनको सभी राष्ट्रवादी समाचार-पत्रों में प्रमुखता से छापा और इस प्रकार साम्यवादी विचारों से देश के लाखों लोगों को पहली बार परिचित कराया। कम्युनिस्टों को राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा से अलग-थलग करने की सरकार की मंशा न केवल असफल रही बल्कि इसके एकदम उलटे परिणाम निकले। लेकिन एक अन्य मामलें मे सरकार को कामयाबी हासिल हुई। आगे बढ़ता हुआ मजदूरों का आन्दोलन नेत त्वविहीन हो गया।

लेकिन इसके साथ ही कम्युनिस्टों ने अपने ही ऊपर एक घातक प्रहार किया मानो सरकार का प्रहार ना काफी रहा हो। उन्होंने अचानक जो कदम उठाया उसे वामपंथी शब्दावली में 'संकीर्ण राजनीति' अथवा 'वामपंथी भटकाव' की संज्ञा दी जाती है।

कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की छठनी कांग्रेस से निर्देशित होकर कम्युनिस्टों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से नाता तोड़ लिया और इसकों पूँजीपति वर्ग की पार्टी घोषित कर दिया। इसी के साथ कांग्रेस और इसके कथित समर्थक पूँजीवादी वर्ग के लिए कहा गया कि यह साम्राज्यवादी का समर्थक बन गया है। पूर्ण स्वराज्य के नारे को लेकर जन-आन्दोलन संगठित करने की कांग्रेस की योजना को पूँजीपतियों के नेताओं द्वारा आम जनता में अपना प्रभाव बनाने के लिए पाखंडी प्रयास माना गया जो साम्राज्यवाद से समझौते के लिए काम कर रहे थे। कांग्रेस के अन्दर के वामपंथी नेताओं, जैसे जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस को, ''राष्ट्रीय आन्दोलन के भीतर पूँजीपतियों का एजेन्ट'' समझा गया जो ''कामगार और मेहनतकश जनता के विशाल समुदाय की आँखों में धूल झोंकने'' पर अमादा थे ताकि इनको पूँजीपतियों के प्रभाव में रखा जा सके। अब कम्युनिस्टों का काम था अहिंसात्मक संघर्ष की सारी बातों का भंडाफोड़ करना तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष की बातों को आगे बढ़ाना। 1931 के गाँधी-इरविन समझौते को राष्ट्रवाद के साथ कांग्रेसी विश्वासघात की संज्ञा दी गई।

अन्त में 'वर्कस एंड पीजेन्ट्स पार्टी को भी इस आधार पर भंग कर दिया गया कि दो वर्गो वाला (मजदूर और किसान) दल बनना उचित नही हैं क्योकि निम्न-पूँजीवादी प्रभाव मे इसके आने की संभावना है। इसकी जगह कम्युनिस्टों ने एक ''गैरकानूनी, स्वतन्त्र और केंद्रीक त कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। कम्युनिस्टों के राजनीतिक विचारों मे इस अचानक बदलाव का नतीजा यह हुआ कि वे राष्ट्रीय आन्दोलन में अलग-थलग पड़ गए और वे ऐसी घड़ी में अकेले पड़े जब यह सबसे बड़े जन-संघर्ष की तरफ जा रहा था तथा इसके ऊपर वामपक्ष के प्रभाव-विस्तार की संभावना बढ़ रही थी और भी कम्युनिस्ट छोटे-छोटे समूहों में बटँ गए। सरकार ने इस स्थिति का और फायदा उठाया और 1934 में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया।

बहरहाल कम्युनिस्ट आन्दोलन महाविनाश से बच गया क्योंकि एक ओर बहुत से कम्युनिस्टों ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन से अपने को अलग रखना नामंजूर कर दिया तथा सक्रियरूप से इसमें भाग लिया और दूसरी ओर भारत में कम्युनिस्ट और समाजवादी विचारों का प्रसार जारी रहा। इसके परिणामस्वरूप बहुत से नौजवान लोग जो सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भागीदार थे अथवा

जिन लोगों ने अति उग्रवादी क्रान्तिकारी गतिविधियों में भाग लिया था समाजवाद, मार्क्सवाद और सोवियत रूस की ओर आकर्षित हुए तथा 1934 की भारत की कम्युनिस्ट पार्टी मे शामिल हो गए।

1935 में परिस्थिति में बुनियादी बदलाव आया जब पी.सी. जोशी के नेत त्व में कम्यूनिस्ट पार्टी का पुनर्गठन हुआ। मास्को में अगस्त 1935 में फाँसीवाद के भय से कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की सातवीं कांग्रेस की बैठक में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने अपने पुराने विचारों को छोड़कर एकदम नया रुख अख्तियार कर लिया। उसने पूँजीवादी और दूसरे फाँसीवाद-विरोधी देशों के साथ समाजवादी देशों का संयुक्त मोर्चा बनाने की वकालत की। इसमें पूँजीवादी नेत त्व में चलनेवाले राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा में कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं को पुनः शामिल होना पड़ा। भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन में बदलाव की सैद्धान्तिक और राजनीतिक बुनियाद 1926 की शुरुआत में एक दस्तावेज के जरिए रखी गई थी जिसकों ''दत्त ब्रेडले थीसिस'' (दत्त-ब्रैडले सिद्धान्त) के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त के मुताबिक साम्राज्य विरोधी ''जनमोर्चा के कार्य को कामयाब बनाने में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस बहुत बड़ी और अग्रणी भूमिका अदा कर सकती है।''

एक बार पुनः कम्युनिस्ट पार्टी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ अपने सम्बन्धों को स द ढ़ करने लगी। इसने अपने सदस्यों से शामिल होने के लिए कहा और यह भी कहा कि अपने प्रभाव-क्षेत्र में काम करनेवाले आम लोगों से कांग्रेस में शामिल होने के लिए कहे। 1938 में थोड़ी और आगे बढ़कर कम्युनिस्ट पार्टी ने स्वीकार किया कि ''भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भारत की जनता का केन्द्रीय जनसंगठन है जो साम्राज्य के विरोध मे खड़ा है।'' 1939 में पी.सी. जोशी ने पार्टी के साप्ताहिक पत्र ''नेशनल फ्रंट'' मे लिखा कि ''आज हमारा सबसे बड़ा वर्ग-संघर्ष राष्ट्रीय संग्राम है और कांग्रेस इसका ''मुख्य अंग'' है। इसके साथ ही मजदूर वर्ग के नेत त्व में राष्ट्रीय आन्दोलन को लाने के प्रति अपनी प्रतिबद्धता के उद्देश्य पर भी पार्टी कायम रही, यह पार्टी कम्युनिस्ट पार्टी थी। इस दौरान कम्युनिस्टों ने कांग्रेस के भीतर अत्यन्त मेहनत से काम किया। कांग्रेस की जिला और प्रान्तीय कांग्रेस समितियों मे अनेक लोगों ने पदाधिकारियों के रूप में भी काम किया। लगभग 20 लोग तो अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य थे। 1936-42 के दौरान केरल, आंध्र प्रदेश और पंजाब में उन्होने अत्यन्त शक्तिशाली किसान आन्दोलन खड़ा किया। इससे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अत्यन्त बहादुर और उग्र साम्राज्य विरोधी की अपनी लोकप्रिय छवि उन्होंने दुबारा कायम कर ली और इसमें कोई शक नहीं कि समाजवाद और समाजवादी विचारों को लोकप्रिय बनाने में उनका प्रमुख योगदान रहा।

कांग्रेस के अन्दर वामपंथ का उदय

इस समय की एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना है स्वयं कांग्रेस के अन्दर वामपंथ का उदय। सोवियत संघ की प्रगति, विश्व के अन्य देशों के सम्राज्यवाद विरोधी एवं राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन, देश की बिगड़ती आर्थिक स्थिति, बढ़ता हुआ साम्राज्यवादी शोषण, मजदूर-किसानों तथा कम्युनिस्ट आन्दोलन की व द्धि, नौजवानों के आन्दोलन के उदय आदि का कांग्रेस पर प्रभाव पड़ा और उसमें वामपंथ विचारधारा का उदय हुआ। इसके नेता जवाहर लाल नेहरू एवं सुभाष चन्द्र बोस थे। 1926-27 के यूरोप के दौरे ने जवाहर लाल नेहरू को नए विचार दिए थे। 1927 मे उन्होनें पराधीन देशों की ब्रुसेल्स कांग्रेस में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किया था। ब्रुसेल्स कांग्रेस ने साम्राज्यवाद-विरोधी संघ (League Against Imperialism) की स्थापना की थी। 1927 में ही जवाहर लाल ने रूस का भी दौरा किया। स्वभावतः वामपंथी विचारों का उन पर प्रभाव पडा। 1924 में आतंकवादी आन्दोलन के साथ सम्बन्ध होने के अभियोग में बन्दी बनाए जाने के बाद जेल से मुक्त होने पर सुभाष ने युवा वर्ग एवं छात्रों को संगठित करने में सक्रिय भाग लिया था। इस

प्रकार वे भी वामपंथी राष्ट्रवादी बन गए थे।

कांग्रेस मे वामपंथ के उदय का प्रभाव उसके मद्रास अधिवेशन में दिखाई पड़ा। जवाहर लाल द्वारा प्रस्ताव पेश किया गया कि पूर्ण स्वाधीनता का कांग्रेस का लक्ष्य घोषित किया जाए और यह प्रस्ताव पास भी हुआ। किन्तु 1928 में कांग्रेस ने जो सर्वदलीय सम्मेलन भारत का संविधान तैयार करने के लिए बुलाया उसमें पूर्ण स्वाधीनता की कोई माँग नहीं थी। नेहरू रिपोर्ट का कांग्रेस द्वारा समर्थन होने के बाद जवाहर लाल नेहरू एवं सुभाष चन्द्र बोस के नेत त्व में देश के बहुत से शहरों में इंडिपेंडेंस लीग की स्थापना की गई जिसने विशेषकर देश के युवा वर्ग को राजनीति की ओर खींचने एवं प्रगतिशील शक्तियों को ब्रिटिश राज के विरुद्ध खींचने में सहायता दी। कई प्रान्तों में उन्होंने मजदूर किसान पार्टियों का साथ दिया।

बारदोली सत्याग्रह

जिस समय साइमन कमीशन के बहिष्कार (Boycott) का आन्दोलन सारे देश में चल रहा था, गुजरात में बारदोली के किसानों ने लगान-व द्धि के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ किया। बम्बई प्रदेश की सरकार ने जून 1927 मे बारदोली जिले का लगान 20-25 प्रतिशत तक बढ़ा दिया था। यह संघर्ष उसी के विरुद्ध था। इसके विरुद्ध आन्दोलन का प्रारम्भ गांधी ने स्वयं ही किया था। बाद में इसका नेत त्व वल्लभभाई पटेल ने सँभाला।

इस प्रकार साइमन कमीशन के बहिष्कार आन्दोलन, बारदोली आन्दोलन, मजदूरों द्वारा वर्ग संघर्ष के आधार पर यूनियनों का निर्माण मजदूर किसान पार्टी द्वारा स्वाधीनता के नारे की घोषणा, युवा वर्ग द्वारा गुप्त क्रान्तिकारी संगठन, यूथ लीग, इंडिपेंडेंस लीग आदि के निर्माण के कारण तथा स्वयं कांग्रेस में वामपंथ के उदय के कारण बड़े पैमाने पर संगठित जनान्दोलन आरम्भ करने के लिए वातावरण तैयार था। ऐसे समय में दिसम्बर 1928 में होनेवाले कांग्रेस अधिवेशन में नेहरू रिपोर्ट का संविधान स्वीकार कर लिया गया और यह कहा गया कि यदि सरकार 31 दिसम्बर 1929 तक उसे नहीं मानेगी तो कांग्रेस भी उसे मानने पर बाध्य नहीं होगी। तुरन्त आन्दोलन प्रारम्भ न करके ब्रिटिश शासकों को एक वर्ष का समय दे देना बहुत हानिकर सिद्ध हुआ। उन्होंने इसके प्रयोग क्रान्तिकारी शक्तियों को ध्वस्त करने एवं दमन चक्र चलाने के लिए कर लिया। क्रान्तिकारी शक्तियों में सबसे खतरनाक ब्रिटिश सरकार को कम्युनिस्ट प्रतीत हुए। अतः उसने उन्हें ध्वस्त करने का निर्णय किया। 1928-29 में उनके बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिए उसने चार कदम उठाए - जन सुरक्षा कानून, ह्विटले कमीशन की नियुक्ति, ट्रेड डिस्प्यूट्स ऐक्ट का पास करना एवं मेरठ षड्यन्त्र केस।

1930 में राष्ट्रीय आन्दोलन में नई लहर आई जबकि 1929 मे विश्व के भारी आर्थिक संकट ने और दूसरी ओर सोवियत संघ की समाजवादी सफलताओं ने क्रान्तिकारी परिस्थिति पैदा कर दी थी। 1929 का भारी विश्वव्यापी संकट चार साल तक रहा। उसने कल-कारखानों को ही नहीं, क षि को भी प्रभावित किया। प्रत्येक क्षेत्र में मंदी दिखाई पड़ने लगी। साम्राज्यवादी देशो ने इस आर्थिक संकट का बोझ अपने उपनिवेशों के कंधो पर डालकर अपना लाभ यथावत् रखना चाहा। पराधीन भारत का सारा अर्थतन्त्र भी आर्थिक संकट की चपेट मे आ गया। भारत की क षि से पैदा होने वाली वस्तुओं, अन्न, पटसन, कपास आदि के दाम तेजी से गिरे। भारत मुख्यतः क षि उत्पादनों का निर्यात करता था और ब्रिटेन से कारखानों का तैयार माल मँगाता था। ब्रिटिश पूँजीपतियों की नीति के कारण उनके माल के दाम उसी रफ्तार से नहीं गिरे। फलतः आयात-निर्यात के दामों के बीच बहुत अन्तर हो गया। किसान तबाह हो गए उनकी आमदनी बहुत कम हो गई किन्तु उन्हें, तरह-तरह के कर-लगान आदि वैसे ही देने पड़ रहे थे। अतः उन पर कर्ज का बोझ और भी बढ़

गया। बहुतों को अपनी भूमि बेचने पर बाध्य होना पड़ा। मंदी की वजह से हजारों मजदूर बेरोजगार हो गए।

1930 से 1933 तक के आन्दोलन का इतिहास अंततः ब्रिटिश सरकार द्वारा दमन का ही इतिहास सिद्ध हुआ। इस समय देश की विभिन्न शक्तियाँ संघर्ष के लिए तैयार थी और अपनी शक्ति भर उन्होनें संघर्ष किया भी। मजदूरों ने हड़ताले एवं किसानों ने लगान बन्दी आन्दोलन किए किन्तु फिर भी यह आन्दोलन सफल नहीं हुआ। ब्रिटिश साम्राज्यवादी सरकार ने इस संघर्ष को कुचलने के लिए अत्यधिक क्रूर दमन का रास्ता अपनाया।

किसान सभा एवं अन्य जन-संगठनों का निर्माण

1929-30 के भारी आर्थिक संकट ने किसानों को बहुत हद तक तबाह किया था। उसने किसानों को संगठित होने एवं अपनी रक्षा के लिए संघर्ष करने की पुनः प्रेरणा दी। अतः स्थान-स्थान पर किसान-संगठन बनने लगे तथा परस्पर मिलकर जिला एवं प्रान्तीय संगठनों का रूप लेने लगे। कांग्रेस के दक्षिणपंथी नेताओं ने इन संगठनों को अपने नियन्त्रण में लाने का प्रयास किया। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए संयुक्त प्रान्त में अप्रैल 1935 में प्रान्तीय किसान संघ की स्थापना की गई। अक्टूबर 1935 में प्रोफेसर एन०जी० रंगा और किसान आन्दोलन के दूसरे सुधारवादी नेताओं ने प्रान्तीय किसान सभाओं को मिलाकर एक अखिल भारतीय किसान संगठन बनाने की तैयारी के लिए एवं उसका कार्यक्रम निर्धारित करने के लिए एक सम्मेलन मद्रास में बुलाया। पहला अखिल भारतीय किसान सम्मेलन अप्रैल 1936 में लखनऊ में हुआ-ठीक उसी समय जब वहाँ कांग्रेस का अधिवेशन जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में हो रहा था। इस सम्मेलन में अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना हुई। सितम्बर 1936 में किसान दिवस मनाने का निर्णय लिया गया और किसानों की मौलिक एवं तात्कालिक माँगे निर्धारित की गई। इस सम्मेलन पर रंगा जैसे सुधारवादी नेताओं का आधिपत्य था। किन्तु वे किसान आन्दोलन एवं किसान सभा को आर्थिक माँगों तक सीमित न रख सके। कम्युनिस्टों, वामपंथी कांग्रेस सोशलिस्टों, स्वामी सहजानन्द सरस्वती जैसे प्रगतिशील किसान नेताओं के प्रभाव से किसान सभा ने अगस्त 1936 में नया कार्यक्रम बनाया। इसमें साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में किसानों की भूमिका का उल्लेख था। इसमें स्पष्ट कहा गया था कि जब तक भारत में ब्रिटिश शासन रहेगा तब तक किसान अपनी माँगे प्राप्त नहीं कर सकते। अतः ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेकने एवं स्वाधीनता प्राप्ति के लिए किसानों को द ढ़ता से संघर्ष करना होगा। इसमें माँग की गई कि जमींदारी प्रथा समाप्त की जाए, भूस्वामित्व किसानों को दिया जाए, रैयतवाड़ी क्षेत्रों में मालगुजारी प्रथा लागू की जाए, महाजनों का ऋण रद्द किया जाए, सरकारी भूमि भूमिहीन किसानों को दी जाए और मजदूर एवं किसान-विरोधी कानून रद्द किए जाएँ। सभा की कौंसिल ने यह माँग रखी कि कांग्रेस किसानों की इन माँगो को अपनी माँगो में सम्मिलित करे आदि। इस माँग-पत्र से किसानों की वर्ग-चेतना को बढ़ाने में और उन्हें संगठित करने में बड़ी सहायता मिली। इससे पूर्व प्रत्येक जिले एवं प्रान्त की किसान सभा की प थक्-प थक् माँगे थी। अब से सब एक हो गई। अब यह स्पष्ट हो गया कि किसानों के दो शत्रु थे-विदेशी साम्राज्यवादी एवं देशी जमींदार एवं साहूकार।

जमींदारों के लठैतों एवं पुलिस के अत्याचारों का सामना करते हुए किसानसभा ने अपने माँगपत्र का व्यापक प्रचार किया। उसने मजदूर-किसान एकता मजबूत करने के लिए भी प्रयत्न किया। भारत के इतिहास में पहली बार किसानों ने देश भर में 1936 में मई दिवस के उत्सव मे भाग लिया। दूसरी ओर जब 1 सितम्बर को देश में किसान दिवस मनाया गया तो मजदूरों ने किसानों की माँगों का समर्थन किया।

1936 में फैजपुर में हुए अपने दूसरे अधिवेशन में किसान सभा ने प्रस्ताव पास कर ब्रिटिश

साम्राज्यवादी शासकों द्वारा तैयार किए गए भारत के नए संविधान को ठुकरा दिया तथा यह कहा कि जमींदारों, राजा-महाराजाओं जैसे प्रतिक्रियावादी तत्त्वों की सहायता से भारत में ब्रिटिश राज बनाए रखने का प्रयास है। इस सम्मेलन के कुछ दिनों पश्चात् उसने अपने संविधान की रूपरेखा बनाई। झंडे के प्रश्न पर काफी विवाद हुआ। कांग्रेस के नेताओं ने बड़ी चेष्टा की कि किसान सभा कांग्रेसी तिरंगा झंडा अपना ले किन्तु सभा ने लाल झंडे को ही किसान सभा का झंडा बनाने का निर्णय लिया एवं 'मजदूरों के साथ एकता का मार्ग अपनाया। 1936 के अन्त तक किसान सभा ने एक स्वतन्त्र संगठन का रूप धारण कर लिया था।

अन्य जन संगठनः 1936 मे कुछ अन्य जन संगठन भी बने। ये थे अखिल भारतीय छात्र संघ (ऑल इंडिया स्टूडेंट्स फेडरेशन), प्रगतिशील लेखक संघ (प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन) आदि।

छात्र संगठनः कांग्रेस के जन्म से पहले कम-से-कम बम्बई एवं कलकत्ता में छात्र-संगठन थे। छात्र वर्ग ने स्वदेशी आन्दोलन, राष्ट्रवादी क्रान्तिकारी आन्दोलन, असहयोग आन्दोलन आदि में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इन आन्दोलनों की अवधि में छात्र संगठन बने और बिगड़े किन्तु समाजवादी विचारधारा द्वारा प्रभावित छात्र आन्दोलन ने मेरठ कम्युनिस्ट षड्यन्त्र केस के बाद से जोर पकड़ा। इन्होंने ही 1936 में अखिल भारतीय छात्र संघ के रूप में संगठित रूप लिया और तत्काल बाद के वर्षो में इसकी शक्ति में तेजी से व द्धि हुई। इस छात्र आन्दोलन में भी दो प्रकार के द ष्टिकोण थे। सुधारवादियों का नेत त्व कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के मीनू मसानी, अशोक मेहता कर रहे थे। किन्तु छात्र आन्दोलन में इनसे बहुत अधिक जनप्रिय थे डॉ० अशरफ, डॉ० अहमद जैसे वामपंथी कांग्रेस सोशलिस्ट एवं कम्युनिस्ट नेता। 1928 के अधिवेशन पर क्रान्तिकारी विचारों का स्पष्ट प्रभाव था। प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अध्यक्ष हिन्दी के अमर उपन्यासकार और कहानीकार प्रेमचन्द थे। इसी प्रकार अखिल भारतीय रियासती प्रजा सम्मेलन के माध्यम से कांग्रेस ने, जो पहले रियासतो के मामलों में कोई भी हस्तक्षेप करना नहीं चाहती थी और अपने आन्दोलन को ब्रिटिश भारत तक सीमित रखना चाहती थी, अब रियासती जनता को भी अपने संघर्ष में सम्मिलित कर लिया एवं यह स्पष्ट कहा जाने लगा कि रियासती जनता के आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दालेन के अभिन्न अंग है।

इस प्रकार 1934 के बाद वामपंथियों की शक्ति कांग्रेस में एवं उनके बाहर भी बहुत बढ़ी तथा पाँच वर्ष के भीतर ही यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि कांग्रेस एवं राष्ट्रीय आन्दोलन का नेत त्व दक्षिणपंथी सुधारवादियों के हाथ में रहेगा अथवा वामपंथियों के हाथ में चला जाएगा। नेत त्व को अपने हाथ मे रखने के लिए दक्षिणपंथी नेताओं को बहुत कठिन प्रयास करना पड़ा। किन्तु सभी वामपंथी एक ही विचार के नहीं थे। उनमें कई प्रश्नों पर मतभेद थे। कांग्रेस सोशलिस्ट इस मत के अवश्य थे कि जनता के अधिकाधिक हिस्से को संघर्ष में सम्मिलित किए बिना साम्राज्यवादी शासन समाप्त नहीं किया जा सकता। दक्षिणपंथी इन जन-संगठनों के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी चाहते थे कि उनके कार्य आर्थिक प्रश्नों तक ही सीमित रहें और राजनीतिक प्रश्नों को कांग्रेस के हाथ में ही छोड़ दिया जाए। किन्तु वामपंथी चाहते थे कि जन-संगठन आर्थिक एवं राजनीतिक दोनों प्रश्नों को लेकर लड़े। इसके बावजूद कई आधारभूत प्रश्नों पर सभी वामपंथी एकमत थे। 1935 का भारत सरकार अधिनियम लागू हो जाने पर दक्षिणपंथियों के चुनाव में भाग लेने के लिए प्रचार करना प्रारम्भ किया। उनका मत था कि प्रान्तों में बहुमत मिलने पर कांग्रेस को सरकार बनानी चाहिए। किन्तु वामपंथी बहुमत प्राप्त होने पर भी सरकार बनाने के विरुद्ध थे। उनका विचार था कि सरकार बनाने से कांग्रेस ब्रिटिश शासकों के साथ सहयोग के मार्ग पर चली जाएगी। परिणामस्वरूप साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन कमजोर पड़ जाएगा। उनका मार्ग मुक्ति, क्रान्ति एवं जनतांत्रिक क्रान्ति का मार्ग था। इस प्रकार स्पष्टतः कुछ भेदों के बावजूद वामपंथियों के बीच द ढ़

एकता के आधार भी वर्तमान थे। व्यापक संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चे के लिए वामपंथियों की पारस्परिक एकता आवश्यक भी बहुत थी किन्तु दुर्भाग्यवश इस दिशा में प्रयास अधिक समय तक सफल नहीं हुए।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी

1930-31 और 1932-34 के दौरान युवा कांग्रेस जनो के एक गुट ने जेल मे समाजवादी पार्टी बनाने का प्रस्ताव रखा। गांधीवाद नेत त्व और रणनीति में इनका मोह भंग हुआ था और समाजवादी विचारधारा की ओर ये आकर्षित हुए थे। 1920 के दशक के अन्तिम दौर में इनमें से अधिकांश लोग युवा आन्दोलन में सक्रिय थे। जेल में इन लोगों ने मार्क्सवादी और समाजवादी विचारों का अध्ययन-मनन किया था। मार्क्सवाद, कम्युनिज्म और सोवियत संघ के प्रति आकर्षित होने की वजह से ये भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की वर्तमान धारा से सहमत नहीं थे। उनमें से अधिकांश लोग किसी विकल्प की टोह में थे। अंततः वे आपस में मिले और अक्टूबर 1934 में बम्बई में कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना की गई। इसके नेता थे- जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्र देव और मीनू मसानी।

प्रारम्भ से ही चार मुख्य प्रस्थापनाओं पर सभी कांग्रेस समाजवादी आपस में सहमत थे-भारत में आधारभूत संघर्ष, स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीय संघर्ष था और समाजवाद तक पहुँचने के लिए राष्ट्रवाद आवश्यक अवस्था थी। समाजवादियों को कांग्रेस के भीतर ही रहकर काम करना चाहिए क्योंकि राष्ट्रीय संघर्ष का नेत त्व करनेवाली यह आधारभूत संस्था थी और जैसा कि 1934 में आचार्य नरेन्द्र देव ने कहा थाः

"हम लोगों के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन से कट जाना आत्मघाती कदम होगा। कांग्रेस ही वस्तुतः इसकी प्रतिनिधित्व करती है, कांग्रेस तथा राष्ट्रीय आन्दोलन को हर हालत में हमें समाजवादी दिशा प्रदान करनी चाहिए और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मजदूरों और किसानो का उनके वर्ग-संगठनों में संगठित करना चाहिए, उनकी आर्थिक माँगों के लिए संघर्ष चलाना चाहिए और उनको राष्ट्रीय संघर्ष की बुनियाद बनाना चाहिए।

कांग्रेस समाजवादी पार्टी ने एकदम शुरू से ही अपने को कांग्रेस को रूपान्तरित करने और साथ ही इसको मजबूत करने के काम में लगाया। कांग्रेस को रूपान्तरित करने के काम को दो अर्थो में समझा जाता था। एक था विचारधारात्मक आधार। कांग्रेसजनों को धीर-धीरे इस बात के लिए राजी करना था कि वे स्वतन्त्र भारत की समाजवादी द ष्टि अपनाएँ तथा वर्तमान आर्थिक मुद्दों पर उनका रूख किसानों तथा मजदूरों के पक्ष में होना चाहिए। बहरहाल, इस विचारधारात्मक और कार्यक्रम पर आधारित रूपान्तरण को घटना के रूप में नहीं बल्कि एक प्रक्रिया के रूप में समझा जाना चाहिए था। जैसा कि 1934 में अपने अनुयायियों से जयप्रकाश नारायण ने बार-बार कहा था, ''कांग्रेस के सामने हम एक कार्यक्रम रख रहे हैं और हम चाहते हैं कि कांग्रेस इसको मान ले। हम यह नहीं कह रहे हैं कि हम कांग्रेस छोड़कर बाहर निकल रहे हैं। यदि आज हमें सफलता नहीं मिलती, कम हम फिर कोशिश करेंगे, यदि कल भी हम असफल होते है, हम भविष्य में फिर कोशिश करेंगे।"

कांग्रेस के रूपान्तरण को सांगठनिक अर्थ में देखना था, यानि, ऊपर से इसके नेत तव के परिवर्तन के अर्थ में। आरम्भ में इसका प्रमुख कार्यभार या मौजूदा नेत त्व को बदलना जिसके बारे में घोषित किया गया था कि आम जनता के संघर्ष को ऊपर ले जाने मे वह नेत त्व आश्रम था। कांग्रेस समाजवादी पार्टी को कांग्रेस के लिए वैकल्पिक केंद्रीय सामाजवादी नेत त्व के रूप में विकसित होना था। जैसा कि कांग्रेस समाजवादी पार्टी की मेरठ थीसिस में 1935 में पेश किया गया था कि मुख्य

कार्यभार ''कांग्रेस के अन्दर के साम्राज्यवाद-विरोधी तत्त्वों को उसके तत्कालीन पूँजीवादी नेत त्त्व से प थक् करना और उन्हें क्रान्तिकारी समाजवाद वाले नेत त्व के अन्तर्गत लाना था।''

बहरहाल जल्दी ही पाया गया कि यह परिप्रेक्ष्य यथार्थपरक नहीं है, इसलिए इसको छोड़ दिया गया तथा इसको संयुक्त नेत त्व का विकल्प अपनाया गया जिसमें माना गया कि नेत त्व के हर स्तर पर समाजवादियों को भी शामिल किया जाएगा। कांग्रेस की वैकल्पिक वामपंथी नेत त्व की परिकल्पना तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के विचारों को दो बार सफलता मिली - पहली बार 1939 में त्रिपुरा में और दूसरी बार 1940 में रामगढ़ में। लेकिन जब दक्षिण और वाम के आधार पर विभाजन की नौबत आई तथा कांग्रेस को वामपंथी नेत त्व प्रदान करने की बात उठी तो कांग्रेस समाजवादी पार्टी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी दोनों ही पीछे हट गए। इसके नेताओं को (तथा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं को भी) यह लगा कि इस तरह के प्रयास से न सिर्फ राष्ट्रीय आन्दोलन कमजोर होगा बल्कि इससे वामपंथी मुख्यधारा से कट जाएँगे और यह कि भारतीय जनता को सिर्फ गांधी जी के नेत त्व में लामबंद किया जा सकता है। उस समय की वास्तविक स्थिति यह थी कि गांधी जी का कोई विकल्प भी नहीं था। बहरहाल, जवाहरलाल नेहरू की तरह कांग्रेस समाजवादी पार्टी और वामपंथी गुट और पार्टियाँ इसका पूरी तौर पर न तो सिद्धान्तीकरण कर सकी और न इसको आत्मसात कर सकी, इसीलिए ये लोग बार-बार वैकल्पिक नेत त्व की बात पर लौटते रहे।

लेकिन कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को भारतीय परिस्थितियों के आधार की बेहतर समझ थी इसलिए इन लोगों ने कांग्रेस के मौजूदा नेत त्व से इतना अधिक मतभेद नहीं बढ़ाया कि वह टूटने के बिन्दु तक पहुँच जाए। जब भी खिचाव चरमराहट की सीमा पर पहुँचा, कांग्रेस सोशलिस्टों ने अपना सिद्धान्त एक तरफ कर दिया और यथार्थवादी द ष्टिकोण अपनाया जो जवाहरलाल नेहरू के विचारों के करीब था। इसके चलते अन्य वामपंथी गुटो तथा दलों ने इसकी भर्त्सना की। उदाहरण के लिए, 1939 में जब सुभाष चन्द्र बोस का समर्थन करने तथा गाँधी जी और दक्षिणपंथी कांग्रेसियों का विरोध करने से इन लोगों ने मना किया तब इनको कोसा गया था। ऐसे अवसरों पर समाजवादियों ने अपना बचाव किया और भारतीय यथार्थ को समझने मे अपनी अनुभव-क्षमता का परिचय दिया। उदाहरण के लिए, 1939 में त्रिपुरा, के बाद जयप्रकाश नारायण ने कहा था, ''हम समाजवादी लोग नहीं चाहते कि कांग्रेस में गुटबाजी हो, हम नेत त्व में भी प्रतिस्पर्धा कायम करना नहीं चाहते। हमारी चिंता का विषय कांग्रेस की नीतियाँ और कार्यक्रम मात्र है। हम कांग्रेस के निर्णयो को प्रभावित भर करना चाहते है। पुराने नेताओं के साथ हमारे चाहे कैसे भी मतभेद हों, उनके साथ हम लोग झगड़ना नहीं चाहते। साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में हम सब कन्धे-से-कन्धा मिलाकर आगे बढ़ना चाहते हैं।''

शुरू से ही कांग्रेस, समाजवादी विचारधारात्मक स्तर पर मोटे तौर पर तीन खेमों में बँटे हुए थे। मार्क्सवादी फेवियन लोग और वे लोग जो गाँधी जी के प्रभाव में थे। इससे किसी प्रकार की बड़ी कमजोरी नहीं आनी चाहिए थी, बल्कि इससे शक्ति मिलनी चाहिए थी, खासतौर पर एक व्यापक समाजवादी पार्टी के लिए जो वस्तुतः एक आन्दोलन थी। लेकिन कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी तो पहले से ही एक पार्टी थी, और जिस आन्दोलन को राष्ट्रीय कांग्रेस के नाम से जानते हैं, उसके अन्तर्गत कैडर पर आधारित पार्टी थी। कम-से-कम 1930 का मार्क्सवाद वामपंथी राजनीतिकधारा में इस प्रकार की विविधता को स्वीकार करने में सक्षम नहीं था। इसके फलस्वरूप दिग्भ्रम पैदा हुआ, जिसने अन्त समय तक कांग्रेस समाजवादी पार्टी को अवरुद्ध किए रखा। आधारभूत विचारधारात्मक मतभेद काफी लम्बे समय तक विलगाव का रूप नहीं ले सके क्योंकि लोगों में आपसी मैत्री थी तथा पार्टी के संस्थापन सदस्यों के बीच आपस में दोस्ताना रिश्ते बने हुए थे। आचार्य नरेन्द्र देव

और जय प्रकाश नारायण को इसका वरिष्ठ नेता माना जाता था और यह भी माना जाता था कि समाजवाद और राष्ट्रवाद के प्रति वे प्रतिबद्ध हैं।

नेताओं में विचारधारा विषयक मतभेद होते हुए भी, समग्र रूप से पार्टी ने समाजवाद की पहचान मार्क्सवाद के रूप में स्वीकार कर रखी थी। जैसे जयप्रकाश नारायण ने अपनी पुस्तक ''ह्वाई सोशलिज्म'' (समाजवाद क्यों?) में यह टिप्पणी की थी, ''पहले से कहीं ज्यादा आज यह कहना सम्भव हो गया है कि एक तरह का ही समाजवाद है, समाजवाद का एक ही सिद्धान्त है वह है मार्क्सवाद।'' और पार्टी की मेरठ थीसिस में यह बात बरकरार रखी गई थी कि ''पार्टी का अपना कार्यक्रम मार्क्सवादी होना चाहिए, नहीं तो पार्टी और नेत त्व अपना दायित्व पूरा करने मे असफल होगे। अकेले मार्क्सवाद उपनिवेशवाद-विरोधी शक्तियों को ठिकाने लगा सकता है।'' लेकिन जैसे-जैसे गांधी जी की राजनीति का धीरे-धीरे रचनात्मक ढंग से मूल्यांकन किया जाने लगा, गांधीवादी विचारों का उदारवादी लोकतांत्रिक पक्ष समाजवादी पार्टी की सोच का आधारभूत तत्त्व बन गया।

वामपक्ष में 1930 के दशक में कुछ और गुट और धाराएँ उभरकर सामने आई। एम.एन. राय 1930 में भारत लौट आए उन्होनें राष्ट्रवादियों का एक शक्तिशाली गुट संगठित किया। कुछ वर्षो के दौरान इस गुट में विचारधारा तथा राजनीति के स्तर पर बदलाव आया। 1939 में सुभाष चन्द्र बोस तथा उनके वामपंथी अनुयायियों ने ''फारवर्ड ब्लाक'' की स्थापना की। यह तब हुआ जब सुभाष चन्द्र बोस को कांग्रेस के अध्यक्ष पद से इस्तीफा देने के लिए मजबूर किया गया। 1930 के दशक मे और कई गुट काम कर रहे थे, जैसे हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन, रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी और तरह-तरह के त्रातस्कीवादी गुट। कुछ प्रतिष्ठित वामपंथी व्यक्ति भी थे जो संगठित दल के साथ काम करनेवाले वामपंथियों से प थक स्वतन्त्र रूप से काम कर रहे थे, जैसे स्वामी सहजानन्द सरस्वती, प्रो० एन०जी० रंगा और इदुलाल यागनिक।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, कांग्रेस समाजवादी पार्टी, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस और अन्य वामपंथी गुट और नेता सभी लोग एक आम राजनीतिक कार्यक्रम में भागीदार थे जिसकी वजह से विचारधारा और संगठन के स्तर पर मतभेदों के बावजूद उन लोगों ने 1935 के बाद साथ-साथ काम किया तथा भारतीय राजनीति में समाजवाद को एक ताकतवर धारा बनाया। इस कार्यक्रम की बुनियादी खूबियाँ थी संगत और साहसिक साम्राज्यवाद-विरोध, किसान सभाओं और ट्रेड यूनियनों के रूप मे मजदूरों और किसानों को संगठित करना, स्वतन्त्र भारत में समाजवादी समाज की स्वीक ति तथा अर्थव्यवस्था और समाज को रूपान्तरित करने के मकसद से समाजवादी कार्यक्रम तथा फाँसीवाद विरोधी, उपनिवेशवाद-विरोधी तथा युद्व विरोधी विदेश नीति।

सारांश

इसमें कोई शक नहीं कि वामपक्ष के कार्यकर्ता सर्वाधिक साहसी जुझारू तथा बलिदानी स्वतन्त्रता सेनानियों में थे लेनिक वामपक्ष अपना बुनियादी काम भी पूरा करने में असफल रहा यानी राष्ट्रीय आन्दोलन में यह समाजवादी विचारों और समाजवादी दल का वर्चस्व काम नहीं कर सका। 193० के दशक के अपने महान् वादे को यह पूरा नहीं कर सका। वस्तुतः इतिहासकार के लिए यह एक बहुत बड़ी पहेली है।

इस जटिल परिस्थिति के बारे में जो कुछ स्पष्टीकरण दिए गए हैं, उनमें कुछ संकेत मिलते हैं कांग्रेस के प्रभावशाली नेत त्व के साथ वामपक्ष की लड़ाई हमेशा गलत मुद्दों पर हुई। और जब तनाव बिखराव के बिन्दु तक पहुँचता था। तब वामपक्ष या तो उनके पीछे चलने के लिए बाध्य होता था

अथवा राष्ट्रीय आन्दोलन में ऐन वक्त पर अलग-थलग पड़ जाता था। कांग्रेस के दक्षिणपंथियों के एकदम विपरीत वामपक्ष, विचारधारा और कार्यनीति के स्तर पर, लचीला नहीं हो पाता था। दक्षिणपंथियों का विरोध ये लोग अत्यन्त सरलीकृत सूत्रों और क्रान्तिकारी लफ्फाजी के साथ करते थे। गलत और सतही आधार पर इनका दक्षिणपंथियों से झगड़ा होता था। दक्षिणपंथ के साथ इनके टकराव का आधार विचारधारा के सवालों को लेकर नहीं बल्कि संघर्ष के तौर-तरीकों तथा कार्यनीति को लेकर हुआ करता था। जैसे कांग्रेस के दक्षिणपंथ के खिलाफ इनका सबसे गम्भीर आरोप यह था कि यह पक्ष साम्राज्यवाद से समझौता करना चाहता था यह कि आम जनता के संघर्ष में उतरने से इसको डर लगता था और यह कि इस पर पूँजीपतियों का असर था इसलिए यह आधे मन से साम्राज्यवाद का विरोध कर रहा था। इन आरोपों का खंडन करने में दक्षिण पंथियों को कोई खास दिक्कत नहीं होती थी। लोग दक्षिणपंथियों पर विश्वास करते थे लेकिन वामपंथी लोग नहीं करते थे। उदाहरण के रूप में तीन महत्त्वपूर्ण अवसरों को देखा जा सकता है। 1936-37 में चुनाव और मंत्रिमंण्डल बनाने के मुद्दे को लेकर कांग्रेस के भीतर दक्षिणपंथियों तथा वामपंथियों में टकराव हुआ—इसको साम्राज्यवाद के साथ समझौता कहा गया था। 1939-42 के दौरान यह टकराव जनान्दोलन शुरू करने के मुद्दे को लेकर हुआ था। गाँधी जी की इसके प्रति अनिच्छा को इस अवसर पर साम्राज्यवाद के प्रति नरम रूख की संज्ञा दी गई और यह भी कहा गया कि हम सुनहरा अवसर हाथ से निकलने दे रहे हैं। और 1945-47 के दौरान वामपंथियों का टकराव कांग्रेस के शक्तिशाली गुट के साथ सत्ता के हस्तांतरण के मसले को लेकर हुआ जिसमें जवाहरलाल नेहरू और मौलाना आजाद जैसे नेता भी थे। इसके लिए कहा गया है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद का यह अन्तिम दोष है जिसके जरिए वह अपने प्रभुत्व को कायम रखना चाहता है। और थका हारा कांग्रेस का नेत त्व सत्ता का भूखा है, बल्कि यह भी कहा गया कि गद्दारी कर रहा है।

वामपंथी भारतीय यथार्थ का गहन अध्ययन करने में भी असफल रहे। जवाहरलाल नेहरू इनमें अपवाद थे। उनके अतिरिक्त समूचा वामपंथी कांग्रेस के प्रभावशाली नेत त्व को पूँजीपतियों का नेता मानता था, बातचीत के जरिए समस्या सुलझाने की इनकी नीति को साम्राज्यवाद के साथ समझौते का प्रयास माना जाता है और संवैधानिक सीमा के अन्तर्गत रहकर की जानेवाली किसी भी कोशिश को स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष से मुँह मोड़ना माना जाता था। भारतीय सामाजिक वर्गों तथा उनके व्यवहार के अतिसरलीकृत विश्लेषण का रास्ता इन लोगों ने अख्तियार किया था। राष्ट्रीय आन्दोलन को अनुशासित तरीके से संचालित और निर्देशित करने के सारे प्रयास को ये लोग आन्दोलन पर अंकुश लगाना मानते थे। जन-आन्दोलन के स्वरूप उसमें जनता की भागीदारी उनकी लामबन्दी तथा विचारधारा पर अपने को केन्द्रित करने की बजाय वामपंथी अहिंसा की तुलना में सशस्त्र संघर्ष को लड़ने की श्रेष्ठ पद्धति बताने में लगे रहे। इनके विश्वास था कि यदि नेता कहे तो जनता किसी भी तरह के संघर्ष के लिए हमेशा तैयार है। जनता के बीच अपने समर्थन को वामपंथियों ने हमेशा बढ़ा-चढ़ाकर आँका। इन सबके अलावा संघर्ष की गाँधीवादी राजनीति को समझने में वामपंथी हमेशा असमर्थ रहे।

वामपंथियों की एक बहुत बड़ी कमी यह भी थी कि थोड़े समय को छोड़ दे तो विभिन्न दल छोड़े तथा व्यक्ति संयुक्तरूप से काम करने में हमेशा असफल रहे। वामपंथियों के विभिन्न धड़ों को एक साथ लेकर संयुक्त मोर्चा कायम करने के सारे प्रयास निरर्थक हुए। उनके सैद्धान्तिक मतभेद और झगड़े बहुत थे और उन मतभेदों के प्रति वे भावुकता के स्तर पर जुड़े थे। नेताओं में स्वभाव सम्बन्धी भेद तर्क और विवेक से अधिक ताकतवर थे। जवाहरलाल नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस अधिक दिनों तक एक साथ काम नहीं कर सके और 1939 में वे जनता के बीच मे भी झगड़ने लगे। जवाहरलाल नेहरू और समाजवादी आपस में राजनीतिक तालमेल नहीं कायम कर सके। 1939 के बाद बोस

और समाजवादी अलग हो गए थे। 1935-40 के बीच कांग्रेस समाजवादी और काम्युनिस्टों ने एक साथ मिलकर काम करने की जबरदस्त कोशिश की। 1935 में कांग्रेस सोशलिस्टो ने काम्युनिस्टों और राष्ट्रवादियों के लिए अपना दरवाजा खोल दिया था। ताकि गैर-कानूनी घोषित की गई कम्युनिस्ट पार्टी को राजनीतिक काम करने के लिए कानूनी रास्ते मिल सके। लेकिन समाजवादी और कम्युनिस्ट जल्दी ही अलग हो गए और एक-दूसरे के कट्टर दुश्मन बन गए। इसका लाजिमी नतीजा यह निकला कि दोनों में लम्बे समय के लिए दरार पड़ गई। हर समाजवादी पूँजीपतियों का नेता अथवा (1949 के बाद) अमरीकी एजेंट दिखता था। वामपंथियों को भारतीय समाज और राजनीति पर एक बुनियादी प्रभाव डालने में जरूर सफलता मिली। किसानों और मजदूरों के संगठन बने जिनकी चर्चा इस पुस्तक में दूसरी जगह की गई है, यह इनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों में था। उतना ही महत्त्वपूर्ण कांग्रेस पर पड़नेवाला इसका प्रभाव था। यदि संगठन की द ष्टि से देखें तो अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में एक-तिहाई मत महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर वामपंथियों के प्रभाव में था। 1936 से 1939 के बीच नेहरू तथा बोस कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। नेहरू अपनी कार्यकारिणी समिति के अन्तर्गत तीन प्रमुख समाजवादियों – आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण और अच्युत पटवर्धन को नामित करने में सफल रहे। 1939 में वामपंथियों के प्रत्याशी के रूप में सुभाष चन्द्र बोस अध्यक्ष के चुनाव में पट्टाभि सीतारामैया को पराजित करने में सफल रहे। बोस को 1580 तथा सीतारामैया को 1377 मत मिले थे।

विचारधारा और संगठन दोनों ही द ष्टियों से देखा जाए तो कांग्रेस का वामपक्ष की ओर झुकाव बढ़ा। जैसा कि जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, “भारतीय राष्ट्रवाद को महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन की दिशा में ठेल दिया गया है, और आज कुछ अनिश्चय की ही स्थिति में सही यह एक नई प्रतिस्पर्धी विचारधारा के आस-पास चक्कर काट रही है।” दक्षिणपंथियों समेत कांग्रेस ने यह स्वीकार किया कि भारतीय जनता की दरिद्रता और मुसीबतों की जड़ सिर्फ उपनिवेशवादी शासन नहीं है बल्कि भारतीय समाज का आन्तरिक सामाजिक-आर्थिक ढाँचा भी है। इसलिए यथा शीघ्र इसको आमूलचूल बदलने की जरूरत है। राष्ट्रीय आन्दोलन पर वामपक्ष मूलाधिकार और आर्थिक नीति को लेकर पारित प्रस्तावों में भी झलकता है जिन्हें कांग्रेस के कराची अधिवेशन में 1931 में पारित किया गया था। इसके अलावा 1936 में फैजपुर अधिवेशन के आर्थिक नीति पर पारित प्रस्ताव में, 1936 के कांग्रेस के चुनाव घोषणा पत्र में, 1938 की राष्ट्रीय योजना समिति की स्थापना में तथा आर्थिक और वर्गीय मुद्दों के ऊपर गाँधी जी के विचारों में क्रमशः हुए परिवर्तन में भी इसकी झलक मिलती है। ऑल इंडिया स्टुडेंट फैडरेशन और प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन (पी. डब्ल्यू. ए.) तथा आल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कॉन्फ्रेंस का आयोजन करना वामपक्ष की कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ थी। अखिल भारतीय महिलाओं के सम्मेलन में भी वामपंथी लोग काफी सक्रिय थे। इन सबके ऊपर जो बात है वह यह कि दो महत्त्वपूर्ण पार्टियों का वजूद सामने आया। कम्युनिस्ट पार्टी और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी।

अध्याय-9
साम्प्रदायिक राजनीति की उत्पत्ति

साम्प्रदायिकता-परिभाषा

साम्प्रदायिकता या साम्प्रदायिक विचारधारा के तीन तत्त्व या चरण होते हैं और उनमें एक तारतम्य होता है। इस क्रम में सबसे पहला स्थान इस विश्वास का है कि एक ही धर्म माननेवालों के सांसारिक हित यानी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हित भी एक जैसे ही होते हैं। साम्प्रदायिक विचारधारा के उदय का यह पहला आधार है इसी में धर्म पर आधारित सामाजिक राजनीतिक समुदायों की धारणा का जन्म होता है। वर्गों, जातीय समूहों, भाषाई-सांस्कृतिक जमायतों, राष्ट्रों या प्रान्तों और राज्यों जैसी राजनीतिक-क्षेत्रीय इकाइयों के स्थान पर धर्म पर आधारित इन समुदायों को ही भारतीय समाज की बुनियादी इकाइयों के रूप में देखा जाने लगता है। ऐसा मान लिया जाता है कि भारतीय जनता धर्म पर आधारित इन समुदायों के सदस्यों के रूप में ही अपने सामाजिक और राजनीतिक जीवन का संचालन कर सकती है तथा अपने सामूहिक यानी गैर व्यक्तिगत हितों की सुरक्षा कर सकती है। इन विभिन्न समुदायों के अपने अलग-अलग नेता होते हैं, जो अपने को राष्ट्रीय, क्षेत्रीय या किसी खास वर्ग का नेता बतलाते हैं।

साम्प्रदायिक विचारधारा का दूसरा तत्त्व, यह विश्वास है कि भारत जैसे बहुभाषी समाज में एक धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हित यानी सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक हित अन्य किसी भी धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हितों से भिन्न है।

साम्प्रदायिकता अपने तीसरे चरण में तब प्रवेश करती है, जब यह मान लिया जाता है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायियों या 'समुदायों के हित एक-दूसरे के विरोधी हैं। इस चरण में आकर साम्प्रदायिक व्यक्ति जोर देकर यह कहने लगता है कि हिन्दुओं और मुसलमानों के सांसारिक हित एक हो ही नहीं सकते, उनमें परस्पर विरोध होना ही है।

अतः बुनियादी रूप से साम्प्रदायिकता ही वह विचारधारा है, जिसके आधार पर साम्प्रदायिक राजनीति खड़ी होती है। साम्प्रदायिक हिंसा, साम्प्रदायिक विचारधारा का ही एक स्वाभाविक नतीजा है। इसी तरह हिन्दू, मुस्लिम, सिख या ईसाई साम्प्रदायिकताएँ एक दूसरी से जुदा नहीं है। वे एक ही व क्ष की विभिन्न शाखाएँ है। ऊपर से भले ही अलग-अलग दिखती हों, पर उनके मूल में एक ही तरह की साम्प्रदायिक विचारधारा काम करती रहती है।

किसी भी व्यक्ति, दल या आन्दोलन में साम्प्रदायिक विचारधारा का जन्म पहले चरण से होता है। बहुत से जातीय समूह इसके शिकार हो जाते हैं, यद्यपि वे साम्प्रदायिकता के अन्य दो तत्त्वों को स्वीकार नहीं करते यानि यह नहीं मानते कि धर्म पर आधारित विभिन्न समुदायों के हित अनिवार्य रूप से एक-दूसरे के विरोधी ही होते हैं। ये वही लोग थे, जिन्होंने अपने को सिर्फ राष्ट्रीयतावादी कहने के बजाय राष्ट्रीयतावादी हिन्दू, राष्ट्रीयतावादी मुसलमान या राष्ट्रीयतावाद सिख के रूप में देखा।

साम्प्रदायिकता के दूसरे चरण को उदार साम्प्रदायिकता या हाल की लोकप्रिय शब्दावली का प्रयोग करें तो नरमपंथी साम्प्रदायिकता कह सकते हैं। उदार साम्प्रदाायिकतावादी भी मूलतः साप्रदायिक राजनीति ही कर रहा था, फिर भी उसकी आस्था कुछ उदारवादी लोकतान्त्रिक, मानवतावादी और राष्ट्रीयतावादी मूल्यों में थी। वह यह तो मानता ही था कि भारत का निर्माण ऐसे विभिन्न धर्माधारित समुदायों से हुआ है, जिनके अपने-अपने अलग-अलग और विशेष हित है जिनमें कभी-कभी टकराव की भी नौबत आ जाती है, फिर भी वह यह मानता था और सार्वजनिकरूप से कहता भी था कि इन विभिन्न साम्प्रदायिक हितों को परस्पर समाहित किया जा सकता है तथा सामान्य राष्ट्रीय हितों से उनकी संगति बैठाई जा सकती है और इस प्रकार भारत को एक राष्ट्र बताया जा सकता है। 1937 के पहले अधिकाँश साम्प्रदायिकतावादी, मसलन 1925 के पूर्व हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, अलीबन्धु तथा 1922 के बाद मुहम्मद अली जिन्ना, मदन मोहन मालवीय, लाला लाजपतराय और एन.सी. केलकर इसी उदारवादी साप्रदायिक ढाँचे के तहत काम करते थे।

साम्प्रदायिकता का तीसरा या अन्तिम चरण उपस्थित हुआ उग्रवादी साम्प्रदायिकता के उदय के साथ उग्रवादी साम्प्रदायिकता यानि ऐसी साम्प्रदायिकता जिसके तौर तरीके फाँसीवादी होते हैं। उग्रवादी साम्प्रदायिकता के मूल में भय या घ णा थी तथा भाषा, कर्म एवं आचरण के स्तर पर उसका मिजाज हिंसक था। अपने राजनीतिक विरोधियों को वह अपना दुश्मन मानती थी तथा उनके खिलाफ वह युद्ध की भाषा बोलती थी। इसी चरण में आने के बाद साम्प्रदायिकतावादियों ने घोषणा करनी शुरू की कि मुसलमान, मुस्लिम संस्कृति और इस्लाम तथा हिन्दु धर्म और उसकी संस्कृति के अस्तित्त्व पर खतरा है। साथ ही, मुस्लिम एवं हिन्दु साम्प्रदायिकतावादियों ने यह सिद्धान्त पेश करना शुरू किया कि मुसलमान और हिन्दू दो अलग-अलग राष्ट्र हैं तथा उनके बीच ऐसा स्थायी द्वंद्व है, जिसे कभी भी समाहित नहीं किया जा सकता। 1937 के बाद मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ शुरू से ही इस उग्रवादी या फाँसीवादी साम्प्रदायिकता की ओर बढ़ रहे थे।

यद्यपि साम्प्रदायिकता के ये तीनों दौर अलग-अलग वक्त पर आए, लेकिन वे एक-दूसरे को प्रभावित भी करते रहे और उनमें एक तरह की निरन्तर भी बनी रही। पहले चरण की साम्प्रदायिकता ने उदारवादी और उग्रवादी साम्प्रदायिकता को मजबूत किया तथा उनके खिलाफ संघर्ष चलाना कठिन कर दिया। इसी तरह उदारवादी साम्प्रदायिकता उग्रवादी साम्प्रदायिकता के विचारधारात्मक विकास को रोक नहीं सके।

साम्प्रदायिक यथार्थ का मतलब

साम्प्रदायिकता से जुड़े कुछ और पहलुओं पर भी हमें गौर करना चाहिए। जब कोई साम्प्रदायिकतावादी अपने समुदाय के हितों की रक्षा की बात करता था या उसमें निष्ठा रखता था तो वास्तविक जीवन में ये हित धर्म के दायरे के बाहर नहीं होते थे। सच तो यह है कि हिन्दुओं, मुसलमानों तथा अन्य समुदायों के आर्थिक-राजनीतिक हित एक ही थे और उस स्तर पर उनके बीच कोई सामुदायिक विभाजन नहीं किया जा सकता था। हिन्दू या मुसलमान के रूप में राष्ट्रीय स्तर पर या क्षेत्रीय स्तर पर भी उनका कोई अलग-अलग राजनीतिक-आर्थिक जीवन नहीं था। क्षेत्र, भाषा, वर्ग, जाति समाजिक, हैसियत, सामाजिक परम्पराएँ, खान-पान और पहनावा, इन सभी मामलों में हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई सामुदायिक एकता नहीं थी, बल्कि अनेक द ष्टियों से बहुत से हिन्दू और बहुत से मुसलमान एक दूसरे के नजदीक थे। जहाँ तक उच्चवर्गीय मुसलमान का सवाल है, उसका जीवन सांस्क तिक द ष्टि से भी गरीब मुसलमान के बजाय उच्च वर्गीय हिन्दू के ज्यादा करीब था। इसी तरह सांस्कृतिक स्तर पर पंजाबी हिन्दू किसी बंगाली हिन्दू की तुलना में पंजाबी मुसलमान के ज्यादा करीब था, जैसे बंगाली मुसलमान पंजाबी मुसलमान की तुलना में बंगाली हिन्दू के ज्यादा

निकट था। इस तरह जाहिर है कि भारतीय जनता का साम्प्रदायिक विभाजन अवास्तविक था और इसका उद्देश्य वास्तविक विभाजनों यानि विभिन्न भाषाई-सांस्कृतिक अंचलों तथा सामाजिक वर्गों के अस्तित्त्व तथा एक राष्ट्र के रूप में विकसित हो रही वास्तविक एकता के इर्द-गिर्द धुंध पैदा करना था।

यदि साम्प्रदायिकता हितों का सचमुच कोई वजूद नहीं था, तो साम्प्रदायिकता भी सामाजिक यथार्थ की कोई आंशिक एक पक्षीय था वर्गीय समझ नहीं थी, बल्कि वह चीजों को गलत या अवैज्ञानिक द ष्टि से देखने की कोशिश थी। कभी-कभी यह कहा जाता है कि साम्प्रदायिक व्यक्ति का नजरिया चूँकि संकीर्ण होता है, अतः वह सिर्फ अपने समुदाय के हितों के बारे में ही सोचता है, लेकिन अगर ऐसे हित होते ही न हो तो वह समुदाय या सह-धर्मावलम्बियों के हितों की रक्षा कैसे कर सकता है? वह अपने तथाकथित समुदाय का प्रतिनिधि नहीं हो सकता था। समुदाय के हितों के बारे में ही सोचता है। समुदाय के हितों की रक्षा करने के नाम पर वह जाने या अनजाने कुछ दूसरे ही हितों की रक्षा कर रहा था। इस प्रकार वह या तो दूसरों के साथ छल कर रहा था या अचेतनरूप से आत्मछल का शिकार था। साम्प्रदायिक मान्यताएँ, साम्प्रदायिक तर्कप्रणाली और साम्प्रदायिक समाधान — इन सबका कोई वास्तविक आधार था ही नहीं। साम्प्रदायिकतावादी जिन चीजों को समस्याओं के रूप में पेश कर रहे थे, वे वास्तविक समस्याएँ नहीं थी और न वे समाधान ही वास्तविक समाधान थे, जिन्हें वे समाधान कहकर पेश कर रहे थे। साप्रदायिकतावादी न केवल गलत समाधान देता था, बल्कि गलत सवाल भी उठाता था।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि साम्प्रदायिकता तो अतीत की एक विरासत है। लेकिन सच्चाई यह है कि साम्प्रदायिकता प्राचीन और मध्ययुगीन विचारधाराओं का इस्तेमाल जरूर करती है तथा उन पर आधारित भी होती है। लेकिन मूलतः यह एक आधुनिक विचारधारा और राजनीतिक प्रव त्ति थी, जो आधुनिक सामाजिक समूहों, वर्गों और ताकतों की सामाजिक आकांक्षाओं को व्यक्त करती थी और उनकी राजनीतिक जरूरतों को पूरा करती थी। इसकी सामाजिक जड़ों तथा इसके सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक लक्ष्यों को भारतीय इतिहास के आधुनिक काल में खोजा जा सकता है। समकालीन सामाजिक-आर्थिक ढाँचे ने न केवल इसे पैदा किया, बल्कि पुष्पित-पल्लवित भी किया।

साम्प्रदायिकता का उदय आधुनिक राजनीति के उदय से जुड़ा हुआ है। आधुनिक राजनीति प्राचीन मध्य युगीन था। 1857 के पहले की राजनीति का सीधा विकास ही थी, बल्कि वह एक नई जमीन पर विकसित हुई। राष्ट्रीयतावाद तथा समाजवाद जैसी अन्य द ष्टियों की तरह ही राजनीति और विचारधारा के रूप में साम्प्रदायिकता का उदय भी तभी सम्भव हुआ जब जनता की भागीदारी, जन-जागरण और जनमत के आधार पर चलनेवाली राजनीति अपने पाँव-जमा चुकी थी। आधुनिक युग के पहले की राजनीति में उच्च वर्ग का वर्चस्व था और जन-साधारण उपेक्षित था। जनता विद्रोह भी करती थी, तो राजनीतिक व्यवस्था के बाहर और उसका विद्रोह सफल होने पर उसके नेताओं को पुराने शासक वर्गों में शामिल कर लिया जाता था। बहुत से द ष्टि-सम्पन्न भारतीयों ने इस बात को भली-भाँति समझा भी। उदाहरण के लिए जवाहरलाल नेहरू ने 1936 में लिखा, "यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि भारत में साम्प्रदायिकता एक परवर्ती घटना है, जिसका जन्म हमारी आँखों के सामने ही हुआ है।" ऐसा भी नहीं है कि साम्प्रदायिकता जैसी चीज का विकास सिर्फ भारत में ही हुआ है। यह भारत के विशेष ऐतिहासिक या सामाजिक विकास का अनिवार्य या अपरिहार्य नतीजा भी नहीं था। यह उन स्थितियों की उपज था, जिन्होंने दूसरे समाजों में साम्प्रदायिकता जैसी घटनाओं और विचारधाराओं को जन्म दिया है, जैसे फाँसीवाद सामीवाद-विरोध, नस्लवाद, उत्तरी आयरलैंड में कैथोलिक-प्रोटेस्टेंट संघर्ष या लेबनान में ईसाई-मुस्लिम संघर्ष।

उपनिवेशवाद की देन

भारत में साम्प्रदायिक चेतना का जन्म उपनिवेशवाद के दबाव तथा उसके खिलाफ संघर्ष करने की जरूरत से उत्पन्न परिवर्तनों के कारण हुआ। विभिन्न अंचलों तथा देश के बढ़ते हुए आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक एकीकरण भारत को एक आधुनिक राष्ट्र बनाने की प्रक्रिया उपनिवेशवाद तथा भारतीय जनता का बढ़ता हुआ अन्तर्विरोध तथा आधुनिक सामाजिक वर्गों एवं उपवर्गों का निर्माण इन तमाम कारणों से लोगों में अपने साझा हितों को देखने के नए तरीकों की जरूरत हुई। संपर्कों और वफादारियों के व्यापक आयामों की खोज तथा नई पहचानों की रचना जरूरी हो गई। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जिस नई राजनीति का जन्म हुआ उसके कारण भी यह सब आवश्यक हो गया। आधुनिक राजनीति का आधार ही था अधिक-से-अधिक भारतीयों में राजनीतिक चेतना पैदा करना तथा उन्हे सक्रिया करना।

नए विचारों और नई धाराओं के सहारे नए उदीयमान राजनीतिक यथार्थ तथा समाजिक सम्बन्धों को जज्ब करने तथा एकता के नए आधारों एवं नई सामाजिक-राजनीतिक पहचानों को अपनाने की प्रक्रिया को एक कठिन और क्रमिक प्रक्रिया होना ही था। राष्ट्रीयता, सांस्क तिक-भाषाई विकास तथा वर्ग संघर्ष की आधुनिक धारणाओं का प्रसार एवं प्रक्रिया का अनिवार्य नतीजा था। लेकिन जहाँ भी इन धारणाओं का विकास धीमी गति से या आंशिक रूप में हुआ, नए यथार्थ को जज्ब करने, संपर्क के व्यापक दायरे बनाने और नई पहचानों और विचारधाराओं का विकास करने के लिए लोगों ने जाति, इलाके, अचल, नस्ल धर्म, सम्प्रदाय और पेशें जैसे आत्मपहचान के पुराने, परिचित, पूर्व-आधुनिक तरीकों के प्रति झुकाव प्रकट किया, जो अपरिहार्य था। इस तरह की परिस्थितियों में दुनिया भर में ऐसी ही घटनाएँ हुई है। लेकिन अकसर ऐसा होता है कि इन पुरानी, अपर्याप्त और मिथ्या धारणाओं तथा पहचानों का स्थान राष्ट्र, राष्ट्रीयता और वर्ग की नई तथा ऐतिहासिक रूप से आवश्यक धारणाएँ और पहचान लेने लगती है। भारत में भी बड़े पैमाने पर यही हुआ, हालांकि सर्वत्र एक जैसे ढंग से नहीं। यहाँ खास बात यह हुई कि देश के कुछ हिस्सों में आम जनता के कुछ वर्गो में धार्मिक चेतना साम्प्रदायिक चेतना में बदल गई। भारत में जो स्थिति थी, उसकी कुछ बातें इसमें मददगार थी - इससे समाज के कुछ हिस्सों की जरूरतें पूरी होती थी तथा कुछ सामाजिक और राजनीतिक ताकतों को फायदा था।

यद्यपि भारत में साम्प्रदायिकता का विकास अनिवार्य या अपरिहार्य नहीं था, लेकिन यह समझना गलत है कि यह सिर्फ सत्ता-लोलुप राजनीतिज्ञों या धूर्त प्रशासकों के षड्यन्त्र का नतीजा था। इसकी जड़े सामाजिक - आर्थिक और राजनीतिक स्थिति में थी। पूरी सामाजिक स्थिति ही ऐसी थी, जो इसके लिए जमीन तैयार कर रही थी और उसके अभाव में यह लम्बे समय तक टिक ही नहीं सकती थी।

आर्थिक दबाव और साम्प्रदायिकता

सर्वोपरि भारतीय उपनिवेशवादी अर्थव्यवस्था तथा इसके कारण उत्पन्न पिछड़ेपन का ही एक नतीजा था साम्प्रदायिकता का विकास। औपनिवेशिक शोषण के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था में जो ठहराव आया तथा भारतीय जनता, खास तौर से मध्य वर्ग, के जीवन पर इसका जो असर पड़ा, उसके कारण ऐसी स्थितियाँ पैदा हुई, जो भारतीय समाज के विभाजन और कलह तथा उसके गहरे रूपान्तरण में सहायक थी।

बीसवीं शताब्दी के दौरान भारत में न तो आधुनिक औद्योगिक विकास हुआ और न शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य सामाजिक-सांस्क तिक सेवाओं का फैलाव। फलस्वरूप बेकारी एक विकट समस्या बन गई, खास तौर से शिक्षित मध्य वर्ग तथा निम्न मध्य वर्ग में, जिसके लिए क षि का सहारा सुलभ

नही था तथा जिसकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति लगातार गिरती जा रही थी। 1928 के बाद विश्वव्यापी मंदी के दौरान आर्थिक अवसर और भी सिकुड़ गए तथा काफी संख्या में लोग बेरोजगार हो गए।

इस सामाजिक स्थिति में राष्ट्रीयतावादी तथा अन्य जनान्दोलन उपनिवेशवाद की समाप्ति तथा क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन के लिए संघर्ष के माध्यम से जन-समस्याओं के समाधान की लम्बी लड़ाई लड़ रहे थे। सच तो यह है कि 1905 से 1947 तक के जुझारू राष्ट्रीय आन्दोलन और 1920 के बाद से वामपंथी दलों और समूहों की रीढ़ की हड्डी मध्य वर्ग ही था। लेकिन जिनमें व्यापक सामाजिक द ष्टि और राजनीतिक समझदारी नहीं थी, वे अपने संकीर्ण तात्कालिक हितों और व्यक्तिगत या सामुदायिक समस्याओं के शीघ्र समाधान के लिए सम्प्रदाय, जाति या प्रान्त के आधार पर नौकरियों या नगरपालिकाओं तथा विधायिकाओं मे आरक्षण पाने की कोशिश करने लगी।

देशव्यापी आर्थिक ठहराव के कारण सरकारी नौकरियों, वकालत और डॉक्टरी जैसे पेशों तथा उद्योग-धंधे में भी जबरदस्त प्रतिद्वंद्विता थी। जो कुछ भी आर्थिक अवसर उपलब्ध थे, उनका अधिकतकर हिस्सा हासिल करने के लिए मध्य वर्ग के लोग शैक्षणिक योग्यताओं तथा व्यक्तिगत गुणों के साथ-साथ भाई-भतीजावाद, घूस आदि का भी इस्तेमाल करते थे। अपने निजी संघर्ष को एक विस्त त आधार देने के लिए तथा प्रतिद्वंद्विता के बीच से अपनी सफलता की संभावनाएँ बढ़ाने के लिए वे जाति, प्रान्त और धर्म जैसी सामूहिक पहचानों का सहारा लेते थे। इस तरह साम्प्रदायिकता मध्य वर्ग के कुछ व्यक्तियों को तात्कालिक फायदा पहुँचा सकती थी और उसने पहुँचाया भी। इससे साम्प्रदायिक राजनीति को एक तरह की वैधता भी मिली। साम्प्रदायिकतावादी यथार्थ की जिस तरह व्याख्या करते थे, उसे वे मध्य वर्ग के कुछ व्यक्तियों पर इसीलिए लाद सके, क्योंकि उस वर्ग के सामाजिक आधार में इसका थोड़ा बहुत अंश पहले से मौजूद था।

धीरे-धीरे खाते-पीते किसानों और छोटे भूस्वामियों में शिक्षा का प्रसार हुआ तो नौकरी-खोज मध्य वर्ग के दायरे देहात तक फैल गए। चूँकि औपनिवेशिक अर्थतन्त्र के कारण क षि का विकास एकदम रुक गया था। अतः गाँवों के नव-शिक्षित युवा किसान या भू-स्वामी किसी रूप में गाँव में रोजगार नहीं पा सकते थे। वे नौकरियों की खोज में और विभिन्न पेशों में प्रवेश करने के लिए कस्बों और शहरों की ओर भागने लगे तथा साम्प्रदायिक आरक्षण और नामांकन के जरिए तात्कालिक सफलता प्राप्त करने की कोशिश करने लगे। इससे साम्प्रदायिकता का आधार और व्यापक हुआ तथा उसने धीरे-धीरे गाँवों के उच्च वर्ग को अपनी गिरफ्त में ले लिया।

इस प्रकार औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के संकट ने मध्य वर्ग मे दो परस्पर विरोधी विचारधाराएँ और राजनीतिक प्रव त्तियाँ पैदा की। जब साम्राज्यवाद विरोधी क्रान्ति और सामाजिक परिवर्तन की धारो मजबूत होती, तो मध्य वर्ग के लोग उत्साहपूर्वक राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेते। उस दौर में वे पूरे समाज की पूँजीपतियों से लेकर किसानों और मजदूरो तक की-माँगों को मुखरित करते। वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाओं पर व्यापक सामाजिक द ष्टि हावी हो जाती। लेकिन जब क्रान्तिकारी परिवर्तन की संभावनाएँ धूमिल हो जाती साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष सुस्ताने लगता, तो मध्य वर्ग के बहुत से लोग अपनी निजी समस्याओं के अल्पकालिक समाधान के लिए साम्प्रदायिकता तथा ऐसी ही अन्य विचारधाराओं के आधार पर की जाने वाली राजनीति की ओर मुड़ जाते। कुछ समय तक साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष और फिर कुछ समय तक साम्प्रदायिक किस्म की राजनीति देश के अनेक हिस्सों में मध्य वर्ग इस झूले में झूलता रहा। पहले दौर में उसके अपने सामाजिक हित राष्ट्रीय हितों से जुड़ जाते और दूसरे दौर में उसकी संकीर्णता तथा स्वार्थपरता प्रमुख हो उठती तथा वह सामाजिक-राजनीतिक यथास्थिति को स्वीकार कर लेता और इस तरह साम्राज्यवाद की मदद करता था।

इतिहास का साम्प्रदायिक इस्तेमाल

भारतीय इतिहास खासतौर से प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय इतिहास की साम्प्रदायिक तथा अवैज्ञानिक, विक त व्याख्या साम्प्रदायिक चेतना के फैलाव का एक मुख्य औजार बनी। साम्प्रदायिक विचारधारा का यह एक बुनियादी अंग भी था। स्कूल-कालेजों में भारतीय इतिहास बुनियादी रूप से साम्प्रदायिक द ष्टि से ही पढ़ाया जा रहा था और इससे साम्प्रदायिकता के उदय और विकास में भारतीय सहायता मिली। पीढ़ियों से, बल्कि आधुनिक स्कूल व्यवस्था की शुरुआत से भी पहले साम्राज्यवादी लेखकों द्वारा और बाद में अन्य लेखकों द्वारा इतिहास की विक त व्याख्याएँ पेश की गई। इसका असर इतना गहरा था कि कुछ कट्टर राष्ट्रीयतावादियों ने भी, भले ही काफी अचेतन स्तर पर, इनमें से कुछ व्याख्याओं को अंगीकार कर लिया। उस समय के बहुत से नेताओं को इसका अहसास भी था। उदाहरण के लिए गाँधीजी ने लिखा, ''हमारे देश में साम्प्रदायिक सौहार्द तब तक स्थायीरूप से नहीं लाया जा सकता, जब तक हमारे स्कूल-कॉलेजों में इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों के जरिए इतिहास की बेहद विक त व्याख्याएँ पढ़ाई जाती रहेंगी।'' लेकिन इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्याएँ केवल पाठ्य पुस्तकों के जरिए नहीं फैलाई जा रही थी, इसके लिए उनसे भी ज्यादा कविताओं, नाटकों, ऐतिहासिक उपन्यासों और कहानियों, समाचारपत्रों तथा लोकप्रिय पत्रिकाओं और परचों का इस्तेमाल किया जा रहा था तथा सार्वजनिक मंच से दिए गए व्याख्यानों, कक्षा की पढ़ाई, पारिवारिक और निजी चर्चाओं तथा बातचीत के माध्यम से भी वह जहर फैलाया जा रहा था।

इतिहास को साम्प्रदायिक रंग देने की शुरुआत सबसे पहले उन्नीसवीं शताब्दी में हुई। ब्रिटिश इतिहासकार जेम्स ने भारतीय इतिहास के प्राचीन काल को हिन्दू युग और मध्य काल को मुसलिम युग की संज्ञा दी। इस लिहाज से उसे आधुनिक काल को ईसाई युग कहना चाहिए था। दूसरे ब्रिटिश और भारतीय इतिहासकारों ने भी इस मामले में उसका अनुसरण किया। मध्यकाल में मुसलिम जनता भी उतनी ही निर्धन, शोषित और दमन का शिकार थी, जितनी हिन्दू जनता और जमींदारों, जागीरदारों तथा शासकों में हिन्दू-मुसलमान दोनों थे, फिर भी इन लेखकों ने घोषित कर दिया कि उस दौर में सभी मुसलमान शासक थे और सभी हिन्दू शासित। यानी भारत की राज्य-व्यवस्था के चरित्र का निर्णय इस बात से किया जाने लगा कि शासक का अपना धर्म क्या था। बाद में किसी खास समय के समाज और सांस्कृतिक के रूप में याद किया जाने लगा।

हिन्दू साम्प्रदायिकतावादियों ने इस साम्राज्यवादी प्रचार को भी जल्द ही अंगीकार कर लिया कि मध्य युग के शासक हिन्दू-विरोधी थे, हिन्दुओं पर जुल्म करते थे और उन्हें जबरदस्ती मुसलमान बनाते थे। सभी साम्प्रदायिकतावादी इतिहासकारो ने, साम्राज्यवादियों की हाँ में हाँ मिलाते हुए, मध्यकालीन इतिहास को हिन्दू-मुस्लिम विवाद का एक दीर्घ अध्याय करार दिया और यह माना कि पूरे मध्य युग में हिन्दू और मुसलिम संस्क तियाँ अलग-अलग मौजूद रही। मध्यकाल के मुसलमान शासकों को, उनके धर्म के कारण, विदेशी भी घोषित कर दिया गया, आजादी की लड़ाई के दिनो में 'हजार वर्ष की गुलामी' ओर 'विदेशी शासन' जैसे मुहावरे आम हो गए थे और इसका प्रयोग कभी-कभी राष्ट्रीयतावादियों द्वारा भी किया जाता था। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इतिहास की हिन्दू साम्प्रदायिक द ष्टि इस मिथक पर बहुत बल देती थी कि भारतीय समाज प्राचीन काल में एक महान ऊँचाई पर पहुँच गया था और मध्यकाल में मुस्लिम शासन तथा वर्चस्व के कारण उसका लगातार पतन होता गया। भारतीय अर्थव्यवस्था और टेकनोलॉजी, धर्म और दर्शन, कला और साहित्य तथा संस्क ति और समाज मे मध्यकाल ने जो मौलिक योगदान किया, उसे पूरी तरह नकार दिया गया।

स्वाभाविक था कि मुस्लिम साम्प्रदायिकतावादियों पर इसकी प्रतिक्रिया होती। उन्होंने पश्चिम

एशिया में 'इसलामी उपलब्धियों के स्वर्ण युग' का राग अलापना शुरू किया और उसके नायको, मिथकों तथा सांस्क तिक परम्पराओं के गीत गाने लगे। उन्होनें प्रचारित करना शुरू किया कि मध्यकाल के सभी मुसलमान शासन वर्ग में थे या कम-से-कम मुसलिम शासन से लाभान्वित हो रहे थे। वे सभी मुसलमान शासको को, यहाँ तक कि औरंगजेब जैसे मदांध राजाओं को भी, महिमामंडित करने की कोशिश करते थे तथाकथित पतन का उनका भी अपना एक सिद्धान्त था उनके अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी में राजनीतिक सत्ता छिन जाने के बाद एक समुदाय के रूप में मुसलमानों का पराभव हुआ और हिन्दू आगे बढ़ने लगे।

कुछ लेखकों के अनुसार भारत में साम्प्रदायिकता के विकास का मुख्य कारण यहाँ कई धर्मों का समानान्तर अस्तित्त्व था। लेकिन यह वास्तविकता नहीं है। भारत में साम्प्रदायिकता के विकास में धर्म की कोई बुनियादी भूमिका नहीं थी। धर्म के दो रूप है। उसका एक रूप है निष्ठाओं की वह पद्धति जिनके अनुसार व्यक्ति अपने जीवन का संचालन करता है और दूसरा रूप है धर्म पर आधारित सामाजिक राजनीतिक पहचान की विचारधारा यानी साम्प्रदायिकता दूसरे शब्दों में, धर्म साम्प्रदायिकता का कारण नहीं बनता, हालाँकि सभी तरह के साम्प्रदायिकतावादी धार्मिक मतभेदों का इस्तेमाल करते है। इन मतभेदों का इस्तेमाल उन सामाजिक आवश्यकताओं आकांक्षाओं संघर्षो इत्यादि को ढकने या विक त रूप में पेश करने के लिए किया जाता है, जिनका धर्म से कुछ भी लेना-देना नहीं है साम्प्रदायिकता के दायरे में धर्म उसी हद तक आता है, जिस हद तक वह गैर-धार्मिक मामलों में राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति करता है। के.एम. अशरफ जब साम्प्रदायिकता को 'मजहब की सियासी दुकानदारी बतलाते हैं तो इस पहलू का बहुत ही सटीक विश्लेषण करते हैं। साम्प्रदायिकता की प्रेरणा धर्म ने कतई नहीं दी और न साम्प्रदायिक राजनीति धार्मिक उत्थान चाहती थी उसके लिए धर्म एक औजार भर था।

लेकिन साम्प्रदायिकतावादियों ने धर्म का प्रयोग अपने अनुयायियों को गोलबन्द करने के लिए जरूर किया। साम्प्रदायिकता 1939 के बाद और खासतौर से 1945-47 के दौरान जनता के बीच अपनी जड़े तभी जगा पाई, जब उसने यह या वह 'धर्मखतरे में है।' का उत्तेजक नारा लगाना शुरू किया। इसके अलावा साम्प्रदायिक तनाव और दंगो का तात्कालिक कारण धार्मिक आचरण की विभिन्नता ही होती थी। हाँ, यह जरूर कहा जा सकता है कि इसमें धार्मिकता का योगदान जरूर था। ध ार्मिकता की परिभाषा धार्मिक मामलों में ऐसी गहरी भावनात्मक प्रतिबद्धता के रूप मे की जा सकती है, जो धार्मिक लगावों को गैर-धार्मिक मामलों तक ले जाती है और इस तरह उन्हे व्यक्ति के निजी संसार तक सीमित नहीं रहने देती। धार्मिकता से साप्रदायिकता नही पैदा हुई, लेकिन उसने यह जमीन जरूर तैयार की जिसमें साम्प्रदायिकता का पौधा फल-फूल सकता था। अतः धर्म निरपेक्षता का तकाजा यह नहीं था कि धर्म को समाप्त कर दिया जाए, बल्कि यह था कि धार्मिकता के आवेग को कम किया जाए तथा धर्म की भूमिका को व्यक्ति के निजी जीवन तक ही सीमित रखा जाए।

अलीगढ़ आन्दोलन

19 वीं शताब्दी के सातवें दशक में, जब ब्रिटिश शासक वर्ग में मुसलमानों के प्रति सन्देह की भावना अपनी पराकाष्ठा पर थी, उनकी स्वामिभक्ति का विश्वास उन्हे कैसे दिया जाए, यह सैयद अहमद की सबसे बड़ी समस्या थी इस दिशा में उन्होने साइंटिफिक सोसायटी की स्थापना की। 1864 में इसे अलीगढ़ लाया गया। इस सोसायटी का उद्देश्य भारत में ब्रिटिश राज्य के स्थायित्व के लाभों को बताना था, साथ ही पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की प्रमुख पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद करके उसे लोकप्रिय बनाना था। लगभग सत्ताईस पुस्तकों का अनुवाद उर्दू भाषा में किया गया। 1867 में अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गजट पत्रिका अलीगढ़ से प्रारम्भ की गई। अलीगढ़ आन्दोलन की मुख्य

विचारधारा को समझने का मुख्य स्रोत इस पत्रिका में समय-समय पर लिखे गए लेख ही है। वस्तुतः अलीगढ़ क्रमशः मुसलिम नवचेतना का केन्द्र बनता जा रहा था। 1869-70 में सैयद अहमद इंग्लैड गए और पश्चिमी सभ्यता और सम्पन्नता देखकर स्ततब्ध रह गए। वहीं पर उन्होने यह निश्चय किया कि अलीगढ़ में एक ऐसी आवासीय शिक्षण-संस्था का निर्माण करेंगे जो पश्चिमी शिक्षा का केन्द्र बने।

सर सैयद अहमद का राजनीतिक द ष्टिकोण

यह लगभग सर्वमान्य-सा मत है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश अधिकारियों के प्रोत्साहन से हुई। परन्तु शीघ्र ही कांग्रेस ने अधिकारी वर्ग की आशाओं के विपरीत ऐसी माँगें उनके सामने प्रस्तुत करनी प्रारम्भ कर दी कि दोनों के सम्बन्ध तनावपूर्ण हो गए। उनकी कुछ प्रमुख माँगों में विभिन्न विधान परिषदों में भारतीयों का अधिकतम प्रतिनिधित्व, आई.सी.एस. की परीक्षा इंग्लैड और भारत में एक साथ किया जाना और सैनिक व्यय में कटौती जैसी माँगे सम्मिलित थी। सैयद अहमद ने प्रारम्भ में तो कांग्रेस की गतिविधियों पर ध्यान नहीं दिया, पर कुछ ही दिनों बाद इसके विरुद्ध उनका विष-वमन प्रारम्भ हो गया।

यहाँ पर विचारणीय है कि सैयद अहमद अपने कांग्रेस-विरोधी उद्गारों मे संकुचित साम्प्रदायिकता से नहीं वरन् अपने सामंती द ष्टिकोण से प्रेरित थे। पश्चिमी सभ्यता से वे प्रभावित अवश्य थे पर उनकी स्वयं की मानसिकता नहीं बदली थी। राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रतिनिधित्व प्रणाली की माँग को वह निम्न वर्गो के हाथ में सत्ता का हस्तान्तरण समझते थे। अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गजट के स्तम्भो का सर सैयद ने कांग्रेस के विरुद्ध प्रचार के लिए जमकर उपयोग किया। इसी पत्रिका के एक लेख में, जिसका शीर्षक 'कांग्रेस का दोष' था, उन्होंने प्रतियोगी परीक्षाओं के समकालिक करने की कांग्रेस की माँग को मुसलमानों के हितों के विरुद्ध बताया, क्योंकि वह समुदाय शिक्षा के क्षेत्र में बहुत पिछड़ा हुआ था। ब्रिटिश राज के प्रति अटूट स्वामिभक्ति और अपनी कौम की प थक् हित-साधना सैयद अहमद का राजनीतिक द ष्टिकोण बनता जा रहा था।

दुर्भावना के बावजूद राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में मुसलमान भाग लेते रहे। 1887 के तीसरे अधिवेशन के सभापति एक मुसलमान बदरुद्दीन तैयबजी थे। 13 जनवरी 1888 को लिखे एक पत्र में तैयबजी ने सैयद अहमद से अपने दिमाग से इस विचार को निकाल देने को कहा कि कांग्रेस मुसलमानों का अहित चाहती थी। एक दूसरे पत्र में उन्होंने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि सैयद अहमद कांग्रेस को मात्र बंगालियों के प्रभुत्व वाली संस्था समझते हैं। परन्तु इन तर्कों का सैयद अहमद पर कोई असर नहीं पड़ा। बल्कि उन्हीं की विचारधारा के अनुरूप उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के भूस्वामियों का एक वर्ग, जिसमें संडीला का ताल्लुकेदार, बनारस का महाराजा, भिनगा का राजा आदि सम्मिलित थे, कांग्रेस-विरोधी खेमे में शामिल हो गए।

कांग्रेस-विरोधी-अभियान मे एम०ए०कॉलेज के प्रिंसिपल थियोडर बेक के रूप मे सैयद अहमद को एक दुर्लभ सहयोगी मिला। 1883 में प्रिसिपल के पद पर नियुक्त बेक केम्ब्रिज विश्वविद्यालय का एक मेघावी छात्र था और 1899 तक इस पद पर बना रहा। अलीगढ़ के छात्रों को कांग्रेस से यथासंभव दूर रखने के लिए बेक ने छात्रावासों मे जाकर और स्वयं उन्हे अपने निवास-स्थान पर बुलाकर उनको मानसिक रूप से इसके लिए तैयार किया। 23 अगस्त 1886 को अपने एक भाषण में बैंक ने यह घोषणा की कि इस कॉलेज के कुछ विशेष उद्देश्य है - जो मात्र शैक्षणिक नहीं वरन् सामाजिक और राजनीतिक भी है। इसके राजनीतिक उद्देश्यों में मुसलमानों और अंग्रेजो के बीच समझदारी को बढ़ावा देना है।'' कांग्रेस-विरोधी राजनीतिक विचारधारा को इंग्लैण्ड में प्रचारित करने के लिए बेक की सहायता से अगस्त 1888 में यूनाइटेड इंडियन पैट्रियाटिक ऐसोसिएशन की

स्थापना की गई। इसी संगठन के तत्त्वाधान मे 1889 में चार्ल्स ब्रैडलॉं के उस विधेयक के विरुद्ध, जिसका उद्देश्य भारत में प्रतिनिधि प्रणाली का विस्तार करना था, बीस हजार मुसलमानों के हस्ताक्षरों से युक्त एक अपील हाउस ऑफ कॉमन्स को भेजी गई। हस्ताक्षरकर्ताओं में बहुतो को अपील के मन्तव्य का पता नहीं था।

कांग्रेस की नीतियों के विरोध का एकमात्र लक्ष्य यह था कि ब्रिटिश सरकार कांग्रेस की माँगों को स्वीकार न करे। फिर भी 1892 में इंडियन कान्उसिल्स ऐक्ट पारित हो गया। मुसलिम हितों की पुनः रक्षा करने की आवश्यकता पड़ी। इसके लिए 1893 में मुहम्डन एग्लों ओरिएन्टल डिफेन्स एसोसिएशन की तुलना मे इस संगठन की बैठकें न तो सार्वजनिक होनी थी और न ही इसकी कोई शाखा स्थापित की जानी थी। डिफेस एसोसिएशन के उद्घाटन-भाषण में बेक ने यह घोषणा की कि संप्रति देश में दो आन्दोलन चल रहे है - पहला राष्ट्रीय कांग्रेस का और दूसरा गो-हत्या विराधी। एक अन्य लेख में बेक ने ग ह सरकार की इस बात के लिए भर्त्सना की कि वह देशद्रोही आन्दोलनकर्त्ताओं के दबाव में आकर उनकी माँगे स्वीकार करती जा रही है। वस्तुतः उसका प्रभाव कॉलेज के जीवन पर बहुत बढ़ गया था। यह प्रभाव सैयद अहमद के अन्तिम वर्षो मे स्पष्ट परिलक्षित हो रहा था। यहाँ तक कहा जाता है कि 1884 के बाद यह वास्तव में बेक की राजनीति थी जो सैयद अहमद के नाम से विकसित हो रही थी। अपने गिरते हुए स्वास्थ्य के कारण उन्होने अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गजट के समापन का काम बेक को ही सौंप दिया था जिसका लाभ उसने खूब उठाया। परन्तु इन तथ्यों से सैयद अहमद के व्यक्तित्त्व को कम प्रभावहीन नहीं समझना चाहिए। सैयद अहमद की ब्रिटिश राज के प्रति स्वामिभक्ति, प्रतिनिधित्व प्रणाली का विरोध और प्रतियोगी परीक्षाओं का भारत और इंग्लैण्ड में साथ किए जाने के विरुद्ध धारणाएँ बेक के आने से पूर्व ही बन चुकी थी। उनकी द ष्टि में कांग्रेस-आन्दोलन में भाग लेना मुसलमानों के हितों को आघात पहुँचाने के समान था।

मुस्लिम लीग की स्थापना

(क) उग्र हिन्दू धार्मिक आन्दोलन : अलीगढ़ आन्दोलन ने जिस बौद्धिक जागरुकता का विस्तार किया, उससे मुसलमानों को अपनी एक पहचान स्थापित करने में सहायता मिली। इसी जागरुकता से आगे चलकर उन्हें राजनीतिक रूप से संगठित होने का अवसर मिला। पर इस स्थिति को उत्पन्न करने में एक बहुत बड़ा सहयोगी तत्त्व था-हिन्दू उग्रवादी धार्मिक आन्दोलन, जिसके फलस्वरूप मुसलिम सामुदायिक भावनाएँ मुसलिम साम्प्रदायिक भावनाओं में परिवर्तित हो गई।

यद्यपि हिन्दू धार्मिक पुनरुत्थान का सूत्रपात राजा राममोहन राय द्वारा बंगाल में ब्रह्म समाज की स्थापना से हुआ, लेकिन हिन्दू धर्म के जिस रूप ने उत्तर और पश्चिम भारत के बहुसंख्यक हिन्दू समाज को प्रभावित किया उसने प्रतिनिधि स्वामी दयानन्द सरस्वती थे जिन्होनें 1875 में आर्य समाज की स्थाना की। भारत के इस भाग मे आर्य समाज की लोकप्रियता का एक कारण यह भी था कि इस क्षेत्र में अभी भी सामाजिक द ष्टिकोण से मुसलिम प्रभाव विद्यमान था। आर्य समाज जहाँ एक ओर हिन्दू कुरीतियों पर आक्रमण कर रहा था, वही इस आन्दोलन का एक पक्ष था दूसरे धर्मों के प्रति, विशेषकर इस्लाम के प्रति, असहिष्णुता। इस असहिष्णुता का सबसे ज्वलन्त प्रमाण हमें गो-हत्या के विरुद्ध आन्दोलन में मिलता है।

साधारणतः ब्रिटिश अधिकारी वर्ग भारतीय जनता की धार्मिक परम्पराओं मे हस्तक्षेप के विरुद्ध था। गो-हत्या के सम्बन्ध मे वे हिन्दू सामाजिक मान्यताओं से अवगत थे इसलिए मांसाहारियों के लिए गो-हत्या सार्वजानिक स्थानों से दूर सैनिक छावनियों में ही की जाती

थी। इस कारण इस प्रश्न को लेकर नए धार्मिक उग्रवाद की दिशा अंग्रेजो की तरफ नहीं मोड़ी जा सकती थी, पर ऐसा करना मुसलमानों के विरुद्ध सम्भव था। 1882 में दयानन्द ने गौरक्षिणी सभा की स्थापना की, जिसके फल स्वरूप लाहौर, अम्बाला एवं फीरोजपुर में गो-हत्या के विरुद्ध दंगे हुए। 1886 में लुधियाना और दिल्ली में कई दंगे हुए। इस द ष्टि से सबसे दुर्भाग्यपूर्ण वर्ष 1893 सिद्ध हुआ। दंगे पूर्वी उत्तर प्रदेश के मऊ स्थान से प्रारम्भ हुए और जूनागढ़ तथा बम्बई तक फैल गए। सितम्बर 1893 में बम्बई में तीन दिन तक दंगे होते रहे जिनमें 80 जाने गई और 300 मंदिर, मस्जिद और दुकाने नष्ट कर दी गई। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने आप में पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष थी, पर उसके बहुत से सदस्य गोरक्षिणी सभाओं के भी सदस्य थे। उनको अनुशासित करने के लिए कांग्रेस की धर्म निरपेक्षता की छवि पर असर पड़ा। प्रोफेसर जॉन मैक्लेन ने अपनी पुस्तक इंडियन नेशनलिज्म एंड अर्ली कांग्रेस (भारतीय राष्ट्रवाद और आरम्भिक कांग्रेस) में इन दंगों की वजह से कांग्रेस अधिवेशनों में मुसलमानों की गिरती सदस्यता का संकेत दिया हैं। उनके अनुसार 1885 से 1892 तक कांग्रेस अधिवेशन मे कुल 6,413 सदस्यों ने भाग लिया, जिनमें मुसलमानों की संख्या 868 या 13.5 प्रतिशत थी। 1893 से 1905 के बारह वर्षो के काल में कुल सदस्य संख्या 10,677 थी जिसमें 761 अर्थात् 7.1 प्रतिशत मुसलमान थे।

हिन्दू धार्मिक आन्दोलनों की यही आक्रामक प्रव त्ति पश्चिमी भारत, विशेषतः महाराष्ट्र मे दिखाई पड़ती है। इसका नेत त्व बालगंगाधर तिलक ने किया वो स्वयं साम्प्रदायिकतावादी नहीं थे, परन्तु विदेशी सत्ता के विरुद्ध जनमत तैयार करने के लिए उन्होंने जिन राजनीतिक प्रतीकों का प्रयोग किया, उससे हिन्दू मुसलिम विद्वेष में व द्धि हुई। उदाहरणार्थ, उन्होनें शिवाजी महोत्सव का आयोजन किया। शिवाजी को गो-रक्षा के संदर्भ मे तो जाना ही जाता था, अपनी पत्रिकाओं के माध्यम से तिलक ने मुसलिम सुलतानों और मुगल शासकों के विरुद्ध शिवाजी के कारनामों का अतिरंजित रूप प्रस्तुत किया। इसका प्रभाव यह पड़ा कि मुसलिम लेखक बीजापुर और औरंगजेब के समर्थ में तथ्य प्रस्तुत करने लगे।

उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में इसी काल में उर्दू भाषा के भविष्य को लेकर एक विवाद खड़ा हो गया। इस प्रान्त में अरबी लिपि में उर्दू भाषा का प्रयोग, विशेषकर न्यायालयों और शासन के निम्न स्तरों पर, लम्बी अवधि से किया जा रहा था। उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में उर्दू के बदले देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी को शासन की भाषा के रूप में प्रयोग की माँग की जाने लगी। बिहार और मध्य प्रान्त में हिन्दी को आठवें दशक में अपना लिया गया था। मुसलमानों के रुष्ट हो जाने के भय से उत्तर-पश्चिमी प्रान्त मे इस माँग को स्वीकार नहीं किया गया। परन्तु 1900 में प्रान्त के लेफ्टीनेंट गर्वनर ऐन्थनी मैक्डॉनेल ने बिना किसी पूर्व-मन्त्रणा के हिन्दी को न्यायालयों की वैकल्पिक भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया जो हिन्दू-मुसलिम सम्बन्धों के लिए हानिकर सिद्ध हुआ।

(ख) ब्रिटिश नौकरशाही की भूमिकाः 1905 के बंग-विभाजन का राष्ट्रवादी आन्दोलन पर तो प्रभाव पड़ा ही, मुसलिम साम्प्रदायिकता को अग्रसर करने मे भी इसका बहुत योगदान है। लॉर्ड कर्जन ने विभाजन से पूर्व ही पूर्वी बंगाल के मुसलमानों को यह आश्वासन दिया था कि नए सूबे में उनकी वही प्रधानता स्थापित हो जाएगी, जो कभी मुस्लिम सूबेदारों के युग में थी। कर्जन की इसी नीति का पालन नए प्रान्त के लेफ्टीनेंट गर्वनर वैम्पफील्ड फुलर और उसके उत्तराधिकारी लैंसलाट हेयर ने किया। इन आधिकारियों का प्रयास ढाका के नवाब के संरक्षण में एक सरकार परस्त और विभाजन को समर्थन करनेवालों का वर्ग तैयार करना था।

इसी समय इंग्लैड में लिबरल सरकार में भारत सचिव लॉर्ड मॉर्ले ने सांविधानिक सुधारों के सम्बन्ध में घोषणा की। उसने विशेषतः शिक्षा के विस्तार एवं संचार-साधनों के निरन्तर विकास के संदर्भ में भारत में प्रतिनिधि शासन प्रणाली के विस्तार का समर्थन किया। इस घोषणा ने मुसलमानों को विभिन्न विधानसभाओं में अपने भविष्य के प्रति उद्वेलित कर दिया। 1892 के इंडियन काउंसिल्स एक्ट के पंद्रह साल के कार्यान्वयन ने पेशेवर वर्ग, विशेषकर वकील वर्ग का इन सभाओं में आधिपत्य स्थापित कर दिया था। 1893 से 1907 के मध्य केन्द्रीय विधानसभा में केवल 12 प्रतिशत स्थान मुसलमानों को प्राप्त हुए थे जबकि जनसंख्या के वे 23 प्रतिशत थे। सरकारी नौकरियों में भी मुसलमानों की नियुक्ति के प्रश्न पर स्थिति विश्वासजनक नही थी। 1904 में लार्ड कर्जन के आदेशों पर किए गए एक सर्वेक्षण में यह पाया गया कि भारत की सेवा में लगे पचहत्तर रुपए या इससे अधिक वेतन पर करनेवाले हिन्दुओं की संख्या 1427 थी और मुसलमानों की मात्र 213। यह अनुपात सात हिन्दुओं पर एक मुसलमान का पड़ता था जबकि कुल जनसंख्या के वे एक चौथाई थे।

आश्चर्य नहीं कि चुनाव प्रणाली के और भी विस्तार की सम्भावना ने शिक्षित मुसलमानों को 'एक उदासीन' बहुमत की दया पर निर्भर करने की आशंका से भर दिया। इसलिए नए सुधारों में मुसलमानों को समुचित स्थान दिलाने के लिए वाइसराय के सम्मुख उनके विचारों को रखने का निश्चय किया गया। इस प्रयत्न में अलीगढ़ कॉलेज के प्रिंसिपल डब्ल्यू० ए० वी० आर्कबोल्ड ने मुख्य भूमिका निभाई 1 अगस्त 1906 में आर्कबोल्ड शिमला में थे। अलीगढ़ कॉलेज के सेक्रेटरी मोहसिन-उल-मुल्क ने 4 अगस्त 1906 को आर्कबोल्ड को लिखे एक पत्र मे नए सुधारों मे मुसलमानों के पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए वाइसराय को एक स्म ति-पत्र प्रस्तुत करने और उससे प्रमुख मुसलमानों के एक शिष्ट मंडल द्वारा अपने विचारों को व्यक्त करने की उपादेयता पर सलाह माँगी। 8 अगस्त 1906 को लॉर्ड मॉर्ले को लिखे एक पत्र में लॉर्ड मिन्टो ने मोहसिन-उल-मुल्क के पत्र का, जिसमें मुसलमानो के लिए एक प थक् चुनाव प्रणाली की माँग की गई थी, उल्लेख किया है। चार दिनों की अल्प अवधि में ही मोहसिन-उल-मुल्क द्वारा लिखे गए पत्र का उच्चतम अधिकारियों के पत्राचार का विषय बन जाना निश्चित योजना का परिणाम था। इन्हीं अनुकूल परिस्थितियों में 1 अक्तूबर 1906 को आगा खाँ के नेत त्व में एक पैंतीस सदस्यीय शिष्ट मंडल शिमला में वाइसराय से मिला। वाइसराय को दिए गए स्म ति-पत्र में मुसलमानों की देश के हिन्दू समुदाय के साथ कई समान हितों पर कार्य करने की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए उनके कुछ विशिष्ट हितों पर ध्यान आकर्षित किया गया। यह धारणा व्यक्त की गई कि इन विशिष्ट हितों की रक्षा प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा निर्वाचित सदस्य नहीं कर सकते, इसलिए मुसलिम सदस्यों के निर्वाचन के लिए केवल मुसलमानों द्वारा निर्मित प थक् चुनाव मंडलों की स्थापना की माँग की गई। इस तथ्य पर विशेष बल दिया गया कि भविष्य में किए गए किसी सांविधानिक परिवर्तन मे न केवल मुसलमानों की संख्या, वरन् उनके राजनीतिक और ऐतिहासिक महत्त्व का भी ध्यान रखा जाए। लॉर्ड मिन्टो ने अपने उत्तर मे स्म ति-पत्र में कही गई बातों की गंभीरता को स्वीकार किया और अपनी धारणा प्रकट करते हुए यह कहा कि किसी भी ऐसी चुनाव प्रणाली का जिसमें भारत मे बसे अनेक समुदायों की परम्पराओं और मान्यताओं का समुचित ध्यान नहीं रखा गया हो, असफल होना अनिवार्य है। उसने मुसलमानों को, एक समुदाय के रूप में, अपने प्रशासन में किए गए परिवर्तनों में पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन दिया।

लॉर्ड मिन्टो और लॉर्ड मॉर्ले तथा भारत सरकार और प्रान्तीय सरकार के पत्राचार में 1906 में दिए गए प थक् चुनाव सम्बन्धी आश्वासन को नए सांविधानिक परिवर्तन का आधार माना गया था। इसलिए जब भारत सचिव ने नवम्बर 1905 में प थक् चुनाव के स्थान पर मिश्रित चुनाव मंडलों की अपनी योजना प्रस्तुत करनी चाही तो लॉर्ड मिन्टो सहित समस्त मुस्लिम संगठित समुदाय ने इसका धोर विरोध किया। लन्दन में मुस्लिम लीग की शाखा के अध्यक्ष सर अमीर अली के नेत त्व में लॉर्ड मार्ले के सुझावों का इतना योजनाबद्ध प्रचार हुआ कि दबाव में आकर उसे अपने प्रस्ताव वापस लेने पड़े। परिणामस्वरूप 1909 के इंडियन काउन्सिल्स एक्ट के अन्तर्गत ब्रिटिश भारत की प्रत्येक विधानसभा के लिए मुसलमानों को अपने समुदाय पर आधारित चुनाव मंडलों से अपने प्रतिनिधियों को, अपनी जनसंख्या के अनुपात से कहीं अधिक अनुपात में, चुनने का अधिकार मिला। इसके अतिरिक्त उन्हे साधारण चुनाव मंडलों से भी मत देने का अधिकार दिया गया था। यह अधिकार उनके विरुद्ध कटुता फैलाने में सहायक हुआ।

अक्टूबर 1906 के मुस्लिम शिष्टमंडल का संगठन उन्हें एक राजनीतिक दल के रूप में परिवर्तित होने की सफल भूमिका थी। 30 दिसम्बर 1906 को जब ढाका में मुहम्डन एजुकेशन कॉन्फ्रेन्स की बैठक हो रही थी, तभी उस अधिवेशन को ढाका के नवाब की अध्यक्षता मे अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के नाम से घोषित कर दिया गया। 1908 में आगा खाँ को मुस्लिम लीग का स्थायी अध्यक्ष बनाया गया। उसी वर्ष अलीगढ़ के अधिवेशन में चालीस सदस्यीय एक केन्द्रीय समिति की स्थापना की गई। क्रमशः उसकी प्रान्तीय शाखाएँ स्थापित की गई। 1912 से पूर्व, जब बंगाल के विभाजन को रद्द किया गया, मुस्लिम लीग अपने अधिवेशनो में जो प्रमुख माँगे रखती थी उनमें प थक् चुनाव प्रणाली को बनाए रखने की माँग, राष्ट्रीय कांग्रेस के स्वदेशी और बहिष्कार के कार्यक्रमों का विरोध और बंगाल विभाजन का समर्थन करना जैसी माँगे शामिल थी। लीग का नेत त्व नवाबों और जमीदारों के हाथ में था। परन्तु 1911 के बाद अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रभाव के कारण, जिसमें बालकन युद्ध और तुर्की में युवा तुर्क आन्दोलन सम्मिलित थे, भारतीय मुसलमानों मे सर्व इस्लाम की विचारधारा की लोकप्रियता बढ़ी जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटिश शासन के प्रति राजभक्ति के द ष्टिकोण में परिवर्तन होने लगा। मुस्लिम समुदाय का एक युवा वर्ग कांग्रेस के उद्देश्यों के प्रति सहानुभूति रखने लगा और 1913 मे लीग ने अपने संविधान में परिवर्तन करके अपना उद्देश्य भारत में औपनिवेशक स्वशासन (Dominion Status) की माँग करना निश्चित किया। कांग्रेस की नीतियों से क्रमशः निकटता कांग्रेस लीग समझौते मे परिणत हुई।

लखनऊ समझौता (1916)

मित्र राष्ट्रों ने प्रथम विश्वयुद्ध का एक मुख्य उद्देश्य राष्ट्रो में आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को मान्यता देना और लोकतन्त्र की रक्षा करना घोषित किया था। भारत ने उपनिवेश के रूप में इंग्लैंड की बहुत सहायता की थी और मित्र राष्ट्रों के प्रचार के सन्दर्भ में राजनीतिक क्षेत्रो में शासन मे अधिक हिस्सेदारी की माँग की जाने लगी थी। नरम दल के नेता गोपाल कृष्ण गोखले ने, अपनी म त्यु के दो दिन पूर्व फरवरी 1915 में, युद्धोपरान्त भारतीयों की न्यूनतम आकांक्षाओं के प्रतीक के रूप में एक सांविधानिक दस्तावेज प्रस्तुत किया, जिसे गोखले का पोलिटिकल टेस्टामेंट कहा जाता है। 1914 बाल गंगाधर तिलक मांडले से अपने कारावास की अवधि पूरी करके भारत वापस आए। अतीत के उग्रवादी तिलक अब कांग्रेस के दोनो गुटो में एकता स्थापित करने का प्रयास करने लगे इसी नई राजनीतिक गतिविधि का दूसरा पक्ष था कांग्रेस और मुसलिम लीग का एक मंच पर

एकत्रित होकर एक संयुक्त कार्यक्रम प्रस्तुत करना।

कांग्रेस और लीग से समझौते की बातचीत अक्टूबर 1915 से प्रारम्भ हो गई थी। दिसम्बर 1915 में लीग और कांग्रेस के बम्बई में संयुक्त अधिवेशन हुए। जिन्ना के शब्दों में ऐसा दोनों संगठनों का भारत के भविष्य के सम्बन्ध में साथ-साथ सोचने का अवसर देने के लिए किया गया था। 1916 में इन संगठनों के प्रतिनिधियों की नई संयुक्त बैठकें हुई। बातचीत के मुख्य मुद्दे दो थे : प्रथम का सम्बन्ध मुसलमानों को प थक् चुनाव प्रणाली के माध्यम से अपने प्रतिनिधि चुनने की वर्तमान व्यवस्था को बनाए रखने से था और दूसरा प्रश्न ब्रिटिश भारत की विभिन्न विधानसभाओं में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का अनुपान निश्चित करने से था। कांग्रेस नेत त्व का एक वर्ग, जिसमें मालवीय प्रमुख थे, प थक् चुनाव प्रणाली का 1909 से ही तीव्र विरोधी था। उनके विरोध के कारण एक बार तो लीग-कांग्रेस समझौते का भविष्य ही अंधकार में पड़ गया, परन्तु तिलक की मध्यस्थता से स्थिति सँभल गई।

ऐसा प्रतीत होता है कि तिलक और उन्ही के समानधर्मी कांग्रेसजन ब्रिटिश राज पर सांविधानिक माँगों को स्वीकार करने के लिए उचित दबाव डालना चाहते थे और इसके लिए वे लीग को प थक् चुनाव की सुविधा देने को तत्पर थे। यह भी सम्भव है कि 1913 में मुसलिम लीग के संविधान में किए गए परिवर्तन से वे पर्याप्त रूप से प्रभावित थे। इन परिस्थितियों में दिसम्बर 1916 के अन्तिम सप्ताह में लखनऊ में कांग्रेस और लीग की संयुक्त बैठक मे विभिन्न प्रान्तीय विधानसभाओं में जनसंख्या के आधार पर मुसलमानों को निम्नांकित अनुपात के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया गया।

जहाँ तक केन्द्रीय विधानसभा का सम्बन्ध था, वहाँ के लिए यह निश्चय किया गया कि चुनाव के लिए निर्धारित स्थानों में एक तिहाई स्थान मुसलमानों के लिए सुरक्षित रखे जाएँगे।

कांग्रेस-लीग समझौता एक राजनीतिक मोलभाव का परिणाम था। जहाँ एक ओर संयुक्त प्रान्त में मुसलमानों को अपनी जनसंख्या के अनुपात से दुगने स्थान मिले, वहीं बंगाल में हिन्दू कांग्रेसी नेता, मुसलमानों की 52 प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या होने के बावजूद उन्हे 33 प्रतिशत से अधिक स्थान नहीं देना चाहते थे। बहुत कठिनाई के बाद उन्हें 40 प्रतिशत स्थान मिल सके। इस व्यवस्था से उन्हें स्थायीरूप से असन्तोष हुआ।

कांग्रेस लीग समझौता एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक मसौदा है। जब तक भारतीयों को शासन मे भागीदारी न देने की ब्रिटिश नीति बरकरार थी, तब तक प्रतिनिधित्व के साम्प्रदायिक आधार का कोई विशेष महत्त्व नहीं था, परन्तु अगस्त 1917 के बाद स्थिति बदल गई। पहली बार ब्रिटिश राज ने शासन में भारतीयो को क्रमशः उत्तरदायित्व देने की नीति की घोषणा की जिसका अर्थ था कार्यकारिणी का विधायिका के प्रति उत्तरदायी होना। परन्तु नीति-निर्माताओं ने भारत में विधान सभाओं के निर्माण के लिए जिस प्रतिनिधित्व प्रणाली को कार्यान्वित किया, उसका आधार कांग्रेस-लीग समझौता था। कांग्रेस-लीग समझौते के अन्य महत्त्वपूर्ण सुझावों को लागू करने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

खिलाफत आन्दोलन (1919-1922)

1919 के प्रारम्भ के महीनों में भारतीय मुसलमान प्रथम विश्व युद्ध में पराजित तुर्की के भविष्य को लेकर बहुत ही उद्वेलित हो उठे। ब्रिटिश सरकार पर तुर्की के साथ की जानेवाली संधियों में न्यायोचित व्यवहार सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त दबाव डालने के उद्देश्य से भारतीय मुसलमानों के एक बहुसंख्यक वर्ग ने राष्ट्रीय स्तर पर जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया, वह खिलाफल आन्दोलन के नाम से जाना गया। 1922 तक भारतीय राजनीति में खिलाफल आन्दोलन की अपनी स्वतन्त्र भूमिका थी।

खिलाफल का प्रश्न मुसलिम समुदाय को क्यों इतनी व्यापकता से प्रभावित कर सका। इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने के लिए हमें भारतीय मुसलमानों की अन्तर्निहित धार्मिक मान्यताओं को समझना होगा। यहाँ के इस्लाम के अनुयायी देश की सीमा के बाहर रहनेवाले सहधर्मियो से एक सहज भावनात्मक साम्य रखते है। वे सदैव मध्ययुगीन इतिहास के उन अध्यायों से प्रेरणा लेते रहे है, जब इस्लाम के अनुयायी शासकों ने अपना सांस्क तिक गौरव स्थापित किया था। उदाहरणार्थ उम्मैया और अब्बासी खलीफाओं का काल, तुर्की और ईरान मे राजनीतिक उत्कर्ष का काल और भारत में मुगलिया शासन का चरम बिन्दु भारत मे पश्चिमी शिक्षा प्राप्त मुसलिम वर्ग को भावनात्मक प्रेरणा देते रहे हैं। हाली, शिबली, अमीर अली और इकबाल ने अपनी रचनाओं मे इस्लामी, सभ्यता के मुख्य केन्द्रोंः- दिल्ली, बगदाद, मर्दाना दमिश्क और कुस्तुनतुनिया की प्रशंसा की है। वर्तमान काल में तुर्की के प्रति भारतीय मुसलमानों की विशेष आस्था थी। तुर्की का सुलतान न केवल प्रभावशाली अतीत का प्रतीक था, वह मुसलिम विश्व का धार्मिक खलीफा भी था। आम मुसलमान के लिए वह पैगम्बर मुहम्मद का उत्तराधिकारी था जिसे वे अपना आध्यात्मिक नेता अमीर उल मुमीनिन मानते थे। इसके अतिरिक्त वह अरब प्रदेश में स्थित जजीरात अल अरब या पवित्र स्थानों का संरक्षक था। ये पवित्र स्थान मक्का, मदीना, यरूशलम और स्वयं कुस्तुनतुनिया थे। तुर्की साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर इन स्थानों का गैर-इस्लामी हाथों में पड़ने की कल्पना ने भारत के मुसलमानों को शासन के विरुद्ध एक सूत्र मे बाँध दिया।

खिलाफत आन्दोलन का नेत त्व दिसम्बर 1919 तक बम्बई के प्रमुख मुसलिम व्यवसायियों के हाथ में था, जहाँ पर 19 मार्च 1919 को एक खिलाफत कमेटी का निर्माण किया गया। 21 सितम्बर 1919 को आल-इंडिया खिलाफत कॉन्फ्रेन्स की एक बैठक लखनऊ में बुलाई गई जहाँ 7 अक्टूबर 1919 को 'खिलाफत दिवस' के रूप में मनानें का निश्चय किया गया। महात्मा गांधी ने रॉलर बिल के आन्दोलन के ही समय से खिलाफत के प्रश्न को हिन्दू-मुस्लिम एकता को स्वर्णिम अवसर माना था। अब उन्होने खिलाफत दिवस को सफल बनाने की जोरदार अपील की। मुस्लिम जनगण मे खिलाफत के संदेश को पहुँचाने के लिए शुक्रवार की नमाज के अवसर पर एकत्रित भीड़ का उपयोग किया गया। उर्दू भाषा मे कई समाचार-पत्रों का प्रारम्भ किया जा चुका था। खिलाफत दिवस के आयोजन का प्रभाव बम्बई, मद्रास, बंगलौर जैसे नगरो और बंगाल तथा संयुक्त प्रान्त के उपनगरों और कस्बों पर व्यापकरूप से पड़ा, परन्तु यह स्पष्ट हो गया था कि ब्रिटिश सरकार के द ष्टिकोण मे परिवर्तन नहीं हुआ। इसलिए आन्दोलन को तीव्रतर करने की आवश्यकता महसूस की गई और 11 नवम्बर 1919 को बम्बई की खिलाफत कमेटी ने अपना नाम सेंट्रल खिलाफत कमेटी ऑफ इंडिया कर लिया। परन्तु आन्दोलन का नेत त्व अब ऑल-इंडिया खिलाफत कॉन्फ्रेन्स के हाथों में चला गया जिसने 23-24 नवम्बर को अपनी बैठक में ब्रिटेन मे बनी हुई विदेशी वस्तुओं और शान्ति संधियों के सम्बन्ध में मनाए जानेवाले उत्सवों के बहिष्कार का निर्णय लिया। परन्तु गांधी के विरोध के कारण विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का प्रस्ताव वापस ले लिया। सरकारी क्षेत्रों में भी यह स्वीकार किया गया कि इस निर्णय के कारण बम्बई जैसे शहरो में भी पेरिस-शान्ति-समझौते की खुशी में मनाई जानेवाली दीवाली आँशिक थी।

दिसम्बर 1919 में मौलाना अबुल कलाम आजाद और अली बन्धुओं-शौकत अली और मुहम्मद अली को जेल से छोड़ दिया गया। उनके आज ही खिलाफत आन्दोलन का दूसरा तीव्रतर आयाम प्रारम्भ होता है। नेत त्व की द ष्टि से भी अब आन्दोलन बम्बई के व्यापारी वर्ग के स्थान पर पत्रकारों, शिक्षकों और मुल्लाओ के हाथ में चला गया जिससे छोटे शहर और गाँवों मे भी आन्दोलन का संदेश पहुँचा। 14 मई 1920 को तुर्की के साथ सन्धि की शर्तो को प्रकाशित कर दिया गया। जैसी कि आशंका थी, न केवल तुर्की के साम्राज्य को खंड-खंड कर दिया गया, बल्कि इस्लाम में

सम्बन्धित पवित्र स्थानों को गैर-इस्लामी देशों के संरक्षित राज्य (प्रोटेक्टरेट) के अन्तर्गत लाया गया। इलाहाबाद में प्रमुख कांग्रेसी नेताओं के साथ खिलाफत कमेटी की बैठक हुई और मोतीलाल नेहरू, लाजपत राय और चित्तरंजन दास के विरोध के बावजूद खिलाफत के प्रश्न पर असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया गया। कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए एक उपसमिति की स्थापना की गई जिसके अध्यक्ष स्वयं गांधी थे। सितम्बर 1920 में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में गांधी के व्यक्तित्त्व के प्रभाव में असहयोग का प्रस्ताव 804 के विरुद्ध 1826 मतों से पारित हो गया। 1920 के कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में स्वराज्य और खिलाफत के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए 1 जनवरी 1921 से अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया गया।

1921 का वर्ष भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नई जाग ति और चेतना का वर्ष है जिससे समाज का हर वर्ग प्रभावित हुआ था। जहाँ तक मुसलमानों का प्रश्न है, खिलाफत के प्रश्न पर उनको बहुत बड़ी संख्या में सम्मिलित कराने में उलेमा वर्ग की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। परन्तु सामाजिक द ष्टि से लगभग धर्मांध और रूढ़िवादी वर्ग द्वारा नेत त्व प्रदान करने के कुछ दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम भी निकल। ये परिणाम हमे हिजरत और मोपला विद्रोह की घटनाओं मे स्पष्ट दिखाई पड़ते है।

1920 मे मौलाना आजाद ने एक फतवे से ब्रिटिश शासन को काफिरों का शासन मानते हुए भारत को दारूल हर्ब (युद्ध का स्थान) घोषित कर दिया। धार्मिक द ष्टिकोण से मुसलमानों के पास इस स्थिति में या तो जेहाद या किसी अन्य इस्लामी देश में हिजरत (प्रयाण) का विकल्प था। आजाद के द्वारा दिए गए फतवे का सबसे अधिक प्रभाव सिन्ध और पश्चिमोत्तर सीमा के निम्न वर्ग पर विशेषरूप से पड़ा और उन्होने अपने निकट के इस्लामी देश अफगानिस्तान जाने का निर्णय लिया। उन्हे विश्वास था कि अफगानिस्तान उनकी भावनाओं का सम्मान करेगा। हिजरत के लिए यात्रा-व्यय जुटाने के लिए बहुत से गरीब किसानों ने अपनी पैत क संपत्ति बेच दी। आधिकारिक सूत्रो के अनुसार अगस्त 1920 तक 18,000 मुसलमानों ने अफगानिस्तान के लिए यात्रा की, जब कि हिजरत करनेवाले कुल मुसलमानों की संख्या पाँच से बीस लाख तक बताई जाती है। अपनी यात्रा के मार्ग में उन्हें बहुत शारीरिक कष्ट उठाना पड़ा और खैबर के दर्रे को पार करते समय बहुतों की म त्यु हो गई। जब मुहाजिरिन की इतनी बड़ी संख्या अफगानिस्तान पहुँची तो वहाँ के अधिकारी इनके अपने देश में बसने की संभावना से आशंकित हो गए और बलपूर्वक उनको वापस भेज दिया गया। इतनी लम्बी यात्रा से थके और अपनी संपत्ति से वंचित इनकी दुर्दशा अकथनीय थी।

खिलाफत आन्दोलन द्वारा धर्मांधता उभारे जाने के कारण दक्षिण भारत में मालाबार के पश्चिमी किनारे पर भीषण हत्याकांड हुआ, जिसे मोपला विद्रोह कहते हैं। मोपला इस क्षेत्र के निम्न हिन्दू जातियों के वंशज थे, जिन्होने अरब संपर्क के काल से ही इस्लाम स्वीकार कर लिया था। आर्थिक द ष्टि से वे गरीब किसान थे और इनका शोषण ब्रिटिश नीतियों से लाभान्वित नम्बूदिरि जमींदार और नायर साहूकार वर्ग करता था। 1873 और 1885 में मोपला अपनी दयनीय स्थिति के विरुद्ध विद्रोह कर चुके थे और शासन की ओर से एक विशेष पुलिस दस्ता यहाँ रखा गया था। फिर भी 1894 और 1896 मे उनके विद्रोह हुए। 1921 के प्रारम्भ में खिलाफत समर्थक मालाबार पहुँचे और मोपला, जिनकी द ष्टि में ब्रिटिश शासन और हिन्दू शोषक वर्ग मे कोई अन्तर नहीं था भड़क उठे। उन्होने प्रारम्भ मे तो पुलिस और सेना पर आक्रमण किया, परन्तु उनके क्रोध के शिकार सबसे अधिक उनके हिन्दू पड़ोसी हुए। बहुत से हिन्दुओं को बलपूर्वक मुस्लमान बना दिया गया और उनके मन्दिरो और दुकानों को लूट लिया गया। विशेषकर महिलाओं के विरुद्ध अत्याचार किए गए। नवम्बर 1921 तक सेना की सहायता से विद्रोह को कुचल दिया गया। उस समय तक 3000 मोपला किसान अपने प्राण खो चुके थे। हिन्दू मुस्लिम एकता की भावना पर इस विद्रोह का प्रतिकूल प्रभाव

पड़ा।

फरवरी 1922 में गांधी ने असहयोग आन्दोलन वापस ले लिया। खिलाफत समर्थकों को इससे विशेष हताशा हुई। मार्च 1922 में सेंट्रल खिलाफत कमेटी में गांधी के निर्णय की भर्त्सना की गई, परन्तु स्वयं तुर्की में हो रहा घटनाचक्र आन्दोलनकर्ताओं के विरुद्ध जा रहा था मुस्तफा कमाल पाशा ने तुर्की के सुलतान को अपने राजनीतिक और धार्मिक पदों को अलग-अलग रखने के लिए बाध य कर दिया। 3 मार्च 1924 को तुर्की के सुलतान को वहाँ से निष्काषित कर दिया गया और खलीफा का पद ही समाप्त कर दिया गया। इस घटना ने खिलाफत आन्दोलन की कमर तोड़ दी। मुस्लिम नेत त्व कई टुकड़ो में विभक्त हो गया। खिलाफत आन्दोलन मे जो वर्ग उस प्रश्न के धार्मिक पक्ष में बहुत प्रभावित था, उसकी दूरी कांग्रेस नेत त्व से बहुत बढ़ गई और धीरे-धीरे वह साम्प्रदायिकतावादी हो गया। एक अन्य वर्ग जो कांग्रेस की स्वराज पार्टी की नीतियों का समर्थक था, ''नेशनलिस्ट मुस्लिम' के नाम से कांग्रेस मे शामिल हो गया। इसमें हकीम अजमल खाँ, टी० ए० शेरवानी, मौलाना आजाद, एम० ए० अंसारी के नाम आते है। मुल्ला वर्ग की राष्ट्रीय आन्दोलन मे राजनीतिक भूमिका समाप्त हो गई।

मुस्लिम राजनीति (1922-1932)

(क) साम्प्रदायिक हिंसा : खिलाफत आन्दोलन के समाप्त होने के बाद हिन्दू-मुस्लिम सामुदायिक सद्भाव समाप्त हो गया और उसका स्थान साम्प्रदायिक हिंसा ने ले लिया। 1922-26 का काल हिसात्मक साम्प्रदायिक घटनाओं के लिए विशेषरूप से दुर्भाग्यपूर्ण है। आधिकारिक रूप से भी 1923 से 1928 के बीच 88 दंगों का होना, जिनमे चार सौ मौतें हुई, प्रश्न की गम्भीरता का पर्याप्त प्रमाण है। इन दंगो को उभारने में दोनों समुदायों के जिन धार्मिक रीति-रिवाजों का मुख्य साधन है वे मुख्यतः दो थेः

(i) मस्जिदों के सामने बाजे-गाजे के साथ हिन्दू धार्मिक जुलूसों का निकलना और

(ii) मुस्लिम त्यौहार बकरीद के अवसर पर गो-हत्या।

मुसलमान बाजे-गाजे के शोर को न केवल नमाज के समय व्यवधान मानते हैं, बल्कि उसे इसलाम-विरोधी समझते हैं। 1926 का कलकत्ते का दंगा मस्जिद के सामने बाजा बजाने से हुआ था। उसी प्रकार हिन्दू समाज साधारणतया गाय को पूज्य मानता है और उसकी तुलना माता से करता है। स्वयं गाँधी ने 1919 में खिलाफत आन्दोलन में हिन्दू समर्थन के बदले गो-हत्या को बंद करने का प्रस्ताव पारित कराया था। इसके विपरीत बकरीद के पशु-वध औसत मुसलमान के लिए एक धार्मिक बाध्यता है और एक गाय का बलिदान सात मुसलमानों को धर्म लाभ पहुँचा देनेवाला बताया गया है। इस द ष्टि से अन्य पशुओं की तुलना में गाय का बलिदान कम व्यय साध्य हैं। परन्तु इस धार्मिक परम्परा का सबसे आपत्तिजनक रूप वह है, जिसमें बलिदान के लिए चुनी गई गाय को सार्वजनिक ढंग से, जुलूस के साथ, हिन्दू बहुमत वाली बस्तियों से, उनकी भावनाओं को अधिकतम ठेस पहुँचाते हुए, ले जाया जाता है। साम्प्रदायिक हिंसा की अनवरत घटनाओं के बाद 1927 मे इन दोनों प्रश्नों पर एक अधिकारिक नीति अपनाई गई जिससे तनाव कम हो सकें। परन्तु यह स्पष्ट था कि इन प्रश्नों पर सामुदायिक सौहार्द राजकीय आज्ञाओं से अधिक सफल होते है।

ऊपर के सतही कारणों के अतिरिक्त दंगों का एक बहुत बड़ा कारण हिन्दू और मुस्लिम सामाजिक नेताओं के द्वारा एक-दूसरे के प्रति प्रचार, और वैमनस्य भी था। इसी काल में आर्य समाज और हिन्दू महासभा के नेत त्व मे दो अत्यन्त प्रतिक्रियावादी आन्दोलन

चलाए गए जिन्हें ''शुद्धि'' और ''संगठन'' के नाम से जाना गया। ''शुद्धि आन्दोलन के माध्यम से इस्लाम को स्वीकार करनेवाले उन अनुयायियों को हिन्दू समाज में वापस लेना था जो अभी भी अपने को हिन्दू अतीत से मुक्त नहीं कर सके थे। ''संगठन का उद्देश्य मुसलमानों की तथाकथित शारीरिक श्रेष्ठता के विरुद्ध हिन्दुओं में भी व्यायाम आदि साधनों से शारीरिक बल पैदा करना था। इस प्रकार के आन्दोलनों के उत्तर में मुस्लमानों में भी तंजीम (संगठन) और तबलीग (प्रचार) आन्दोलन प्रारम्भ किए गए। जैसा कि स्वाभाविक था, इन परिस्थितियों ने सामाजिक द ष्टिकोण से कटुता का वातावरण तैयार किया जिसमें एक-दूसरे के धार्मिक नेताओं के विरुद्ध कुत्सित प्रचार किए गए। स्वामी श्रद्धानन्द, जो आर्य समाज में अग्रणी थे, 1926 में साम्प्रदायिक हिंसा के शिकार हुए।

एक और महत्त्वपूर्ण धारणा जो हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के लिए उत्तरदायी थी, शुद्ध राजनीतिक थी। 1921 में संविधान के क्रियान्वित होते ही प्रान्तो में ,मताधिकार के माध्यम से, पहली बार भारतीयों के हाथ में राजनीतिक सत्ता आई। पंजाब में अपने बहुमत का प्रयोग करके मुस्लिम मध्यम वर्ग ने वहाँ की स्थानीय संस्थाओं पर अधिकार का प्रयास किया। 1927 में ब्रिटिश सरकार ने साइमन कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की। मुस्लमानों में एक सहज आंशका उत्तरदायी सरकार के सिद्धान्त के और विस्तार की सम्भावना से उठ खड़ी हुई, क्योंकि ब्रिटिश भारत के कुछ भागों को छोड़ इसका अर्थ हिन्दू बहुमत की स्थापना होता। अतः मुस्लिम पक्ष को प्रभावशाली रूप से प्रस्तुत करने के लिए मुस्लिम लीग को पुनर्जीवित किया गया। क्रमशः मुस्लिम राजनीतिक माँगों को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई और इन माँगों को स्वीकार किया जाना राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ सहयोग शर्त बन गया।

(ख) मुस्लिम लीग की नीतिः 1919 से 1923 तक मुस्लिम लीग की एक राजनीतिक दल के रूप में स्वतन्त्र सत्ता समाप्त हो गई थी। परन्तु असहयोग आन्दोलन के समाप्त होने के पश्चात् 1924 में मुहम्मद अली जिन्ना की अध्यक्षता में लाहौर में लीग की स्वतन्त्र बैठक बुलाई गई। लीग के इसी अधिवेशन से उसकी अपनी माँगों के लिए ब्रिटिश राज पर निर्भर रहने की नीति का अन्त होता है। भविष्य में कुछ शर्तों के साथ, कांग्रेस की सांविधानिक माँगो को समर्थन देने का निश्चय किया गया। लाहौर अधिवेशन में भारत के लिए स्वशासन की माँग को स्वीकार किया गया, परन्तु साथ ही मुसलमानों के लिए प थक चुनाव प्रणाली एक आवश्यक शर्त मानी गई। कांग्रेस के प्रारम्भिक अधिवेशनों में स्वीकार किए गए उस प्रस्ताव को फिर से दुहराया गया। जिसके अनुसार किसी भी विधान सभा में किसी समुदाय से सम्बन्धित कोई कानून उस समय तक पारित नहीं किया जा सकता था जब तक कि उस समुदाय के चुने सदस्यों में से तीन-चौथाई उसका विरोध करते हों।

लीग के इसी अधिवेशन में एक अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में मुसलमानों के हितो की रक्षा के लिए दो प्रस्ताव पास किए गए। पहले के अनुसार प्रान्तों को अधिकतम स्वायत्तता प्रदान करने की माँग की गई और भारत के लिए एक संघीय संविधान की कल्पना की गई जिसमें केन्द्रीय सरकार का कार्य क्षेत्र सीमित और साधारण हितों के विषय हो। दूसरे शब्दो में, ब्रिटिश राज के अन्तर्गत सशक्त, एकात्मक केन्द्रीय सरकार की व्यवस्था लीग को मान्य नहीं थी। दूसरे प्रस्ताव के अनुसार, यह माँग की गई कि भविष्य के किसी पुनर्गठन में ऐसा परिवर्तन न किया जाए जिससे मुसलमानों का बंगाल, पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त का बहुमत घटकर अल्पमत हो जाए। इस प्रस्तावों में केन्द्र में

उत्तरदायी सरकार की स्थापना की स्थिति में हिन्दू बहुमत के विरुद्ध सुरक्षा प्राप्त करने की भावना स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

जिन्ना के नेत त्व में लीग ने अगले कुछ वर्षों तक केन्द्रीय विधानसभा में स्वराज्य पार्टी के साथ 1919 के संविधान को परिवर्तित करने की माँग का पूर्ण समर्थन किया। इसी समर्थन का परिणाम 1924 में अलेक्जेंडर मुडिमैन की अध्यक्षता में रिफार्म्स एन्क्वायरी कमेटी की स्थापना था। इस कमेटी ने जहाँ एक ओर संविधान परिवर्तन के लिए गोलमेज सम्मेलन बुलाने की माँग को अस्वीकार कर दिया, वही दूसरी ओर 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत ही नियमों के हेर-फेर से उसके कार्यान्वयन को सरल बनाने का सुझाव दिया। सितम्बर 1925 मे मोतीलाल नेहरू के एक प्रस्ताव में, जिसको 'राष्ट्रीय माँग' भी कहा जाता है, इस प्रतिवेदन को अस्वीकार कर दिया गया। जिन्ना और उनके सहयोगियों ने भी लेजिस्लेटिव असेंबली में सरकार के विरुद्ध मत दिया।

उधर ब्रिटेन में 1919 के अधिनियम में परिवर्तन की सर्वसम्मत भारतीय माँग को वहाँ की सरकारों द्वारा इस आधार पर अस्वीकार किया जाता रहा कि 1919 के संविधान के अल्पकालिक अनुभव को देखते हुए उस पर पुनर्विचार असम्भव है। परन्तु 1927 में कंजर्वेटिव सरकार में भारत सचिव ने अचानक 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत निर्धारित दस वर्षों से पूर्व ही, संविधान के द्वारा स्थापित उत्तरदायी सरकार के व्यावहारिक कार्यान्वयन पर विचार करने के लिए, सर साइमन की अध्यक्षता में इंडियन स्टेट्यूटरी कमीशन की नियुक्ति की घोषणा कर दी। सात सदस्यीय इस कमीशन में एक भी भारतीय नहीं था। फलस्वरूप भारत में इस 'पूर्णरूपेण-गोरे' कमीशन की नियुक्ति को राष्ट्रीयता की भावना को एक चुनौती देने क रूप मे माना गया और इसके बहिष्कार का निर्णय किया गया। मुस्लिम लीग बहिष्कार की नीति पर विभाजित हो गई। जिन्ना के प्रभाव वाली लीग ने अन्य राजनीतिक संगठनों की भाँति इस कमीशन के साथ असहयोग की नीति अपनाई, परन्तु मुहम्मद शफी के नेत त्व के अन्तर्गत लीग के एक वर्ग ने सहयोग करने का निश्चय किया।

(ग) नेहरू रिपोर्ट और मुस्लिम राजनीतिक द ष्टिकोणः 1924 से ही मुस्लिम लीग ने नियमित रूप से अपना वार्षिक अधिवेशन प्रारम्भ कर दिया था, परन्तु राजनीतिक शक्ति के रूप में कांग्रेस की तुलना में अभी भी वह बहुत दुर्बल थी। सामाजिक द ष्टिकोण से भी लीग अभी मुस्लिम उच्च वर्ग की ही प्रतिनिधि थी। राजनीतिक द ष्टि से जागरूक मुस्लिम मत कई खेमों मे बँटा था, जिसका आधार सिद्धान्त नहीं वरन् व्यक्तित्त्व का संघर्ष था - उदाहरणार्थ जिन्ना और शफी के नेत त्व वाली लीग की शाखाएँ। एक अन्य वर्ग 'राष्ट्रीय मुसलमानों' का था जो कांग्रेस के साथ सहयोग में विश्वास करता था, परन्तु जिन पर न तो साम्प्रदायिकतावादी मुसलमानों को विश्वास था, और न हिन्दू महासभा से सहानुभूति रखनेवाले प्रतिक्रियावादी कांग्रेस के सदस्यों का। 1928 में रिपोर्ट के प्रतिवेदनों को लेकर जो विवाद उठ खड़ा हुआ, उससे विभिन्न द ष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करनेवाले मुस्लिम मतो में एकता स्थापित हो गई।

साइमन कमीशन की नियुक्ति की घोषणा करने से पूर्व भारत सचिव लॉर्ड बर्कनहेड ने भारतीय नेताओं को एक सर्वमान्य संविधान बनाने की चुनौती दी थी। नेहरू संविधान इसी चुनौती का परिणाम था। फरवरी 1928 में दिल्ली में एक सर्वदलीय कान्फ्रेंस बुलाई गई। इसकी दूसरी बैठक बम्बई में मई 1928 में बुलाई गई। यही पर संविधान निर्माण के कार्य में तीव्रता लाने के लिए मोती लाल नेहरू की अध्यक्षता मे एक समिति बनाई गई, जिसका

कार्य संविधान के साम्प्रदायिक पहलुओं का भी समाधान करना था। इस कमेटी के अन्य सदस्य थे-सर अली इमाम, शोयेब कुरेशी, एम०एस० अणे, डॉ० एम० आर० जयकर, जी० आर० प्रधान, सरदार मंगल सिंह, तेज बहादुर सप्रु और एन०एम० जोशी। नेहरू कमेटी के सम्मुख सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न था भारत के लिए सांविधानिक उद्देश्य निश्चित करना। रूसी क्रान्ति के बाद से ही भारत में समाजवादी विचारधारा का प्रभाव निरन्तर बढ़ रहा था और ऐसी ही विचारधारा के फलस्वरूप 1927 में राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्देश्य 'स्वतन्त्रता' प्राप्त करना निश्चित किया गया था। नेहरू कमेटी ने बहुमत से भारत के संविधान का लक्ष्य 'डोमिनियन संविधान पर आधारित पूर्ण उत्तरदायित्व की सरकार' की स्थापना करना बताया। संविधान से ही सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण विषय यह था कि संविधान एकात्मक हो या संघीय। जिस संविधान की रूपरेखा नेहरू कमेटी ने प्रस्तुत की उसमें ब्रिटिश राज की ही भाँति एक सशक्त केन्द्रीय सरकार की कल्पना की गई थी।

साम्प्रदायिक समस्या पर कमेटी ने कुछ सीमा तक एक लचीला द ष्टिकोण अपनाया। उदाहरणार्थ सिन्ध को एक अलग मुस्लिम-बहुल प्रान्त बनाने की माँग स्वीकार की गई थी, साथ ही यह भी मान लिया गया कि पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त को अन्य प्रान्तो की भाँति सांविधानिक स्थान प्रदान किया जाएँ। अल्पसंख्यकों के धार्मिक-सांस्क तिक हितों की रक्षा करने के लिए संविधान में ''अधिकारों की घोषणा'' का भी प्रावधान था। परन्तु कमेटी प थक्-चुनाव प्रणाली का अधिकर अल्पसंख्यकों को देने के पक्ष में नहीं थी। कमेटी अल्पसंख्यकों के लिए मिश्रित चुनाव प्रणाली में स्थान सुरक्षित करने की सीमा तक जाने को तैयार थी।

1924 के लाहौर अधिवेशन से ही केन्द्र में एक सीमित कार्य करनेवाली केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय स्वायत्तता और प थक् चुनाव प्रणाली की व्यवस्था को समर्थन देने के लिए प्रतिबद्ध थी। 1928 के दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में जब ऑल-पार्टीज नेशनल कन्वेंशन की बैठक हुई तो जिन्ना ने नेहरू कमेटी के प्रस्तावों पर तीन संशोधन रखे। पहले संशोधन के अनुसार केन्द्रीय विधान सभा में एक तिहाई स्थान मुसलमानों के लिए सुरक्षित रखने को कहा गया, दूसरे के अनुसार पंजाब और बंगाल में जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधत्व की माँग की गई और तीसरे के अनुसार संविधान में अवशिष्ट शक्ति प्रान्तों को देने की बात कही गई। लेकिन जिन्ना नेशनल कनवेंशन में मुसलमानों के एक विभक्त वर्ग का ही प्रतिनिधित्व कर रहे थे, इसलिए उनके विचारों का उसकी कार्यवाही पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उनके संशोधन रद्द हो गए।

उधर मुहम्मद शफी के नेत त्व वाली लीग ने प्रारम्भ से ही नेहरू कमेटी और नेशनल कन्वेंशन का बहिष्कार किया। अपना विरोध प्रकट करने के लिए दिल्ली में आगा खाँ की अध्यक्षता में 31 दिसम्बर 1928 और 1 जनवरी 1929 को ऑल पार्टीज मुस्लिम कॉन्फरेंस की बैठक बुलाई गई। नेहरू कमेटी के प्रायः सभी प्रतिवेदनों के विरुद्ध प्रस्ताव पारित किए गए। जिन्ना ने कान्फ्रेंस में भाग नहीं लिया परन्तु मार्च 1929 में मुस्लिम लीग के अधिवेशन में उन्होनें अपना चौदह-सूत्री सिद्धान्त रखा। यह सिद्धान्त जिन्ना की राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा अवहेलना किए जाने का परिणाम था। इसमें संघीय संविधान, प्रान्तीय स्वायत्तता, पंजाब और बंगाल में मुस्लिम बहुमत की स्थापना, केन्द्रीय विधान सभा और प्रान्तीय मन्त्रिमंडलों मे मुसलमानों के लिए एक तिहाई स्थान सुरक्षित करने की माँगे आदि सम्मिलित थी।

ब्रिटिश सरकार ने अगस्त 1932 में 'कम्यूनल अवार्ड' की घोषणा की। इस साम्प्रदायिक

निर्णय के अधीन मुस्लिम, यूरोपीयन, सिख, इंडियन, क्रिश्चियन, एंग्लो-इंडियन समुदायों को विभिन्न प्रान्तीय विधानसभाओं में अपने समुदाय के प्रतिनिधियों को प थक् चुनाव प्रणाली के माध्यम से चुनने का अधिकार दिया गया। इतना ही नहीं, हिन्दू जाति-व्यवस्था के उस अंग को भी, जिसे दलित वर्ग (डिप्रेस्ड क्लासेज) कहा जाता था, डॉ० अम्बेडकर के प्रयत्नों के कारण, अपने प्रतिनिधियों को चुनने के लिए प थक् चुनाव प्रणाली की सुविधा दी गई। गाँधी ने इस व्यवस्था के विरुद्ध आमरण अनशन का मार्ग अपनाया, तब उनके जीवन की रक्षा के लिए 'पूना समझौता' के द्वारा आपत्तिजनक अंग को साम्प्रदायिक निर्णय से हटाया गया। तीसरे गोलमेज सम्मेलन दिसंबर 1932 में एक 'पूरक' साम्प्रदायिक निर्णय द्वारा केन्द्रीय विधानसभा में मुसलमानों के लिए एक तिहाई स्थान सुरक्षित करने की घोषणा की गई। ब्रिटिश सरकार की इसी हिमायती नीति का परिणाम यह हुआ कि 1935 के अधिनियम में फेडरल असेम्बली के 250 स्थानों में मुसलमानों के लिए 82 स्थान सुरक्षित किए गए थे। यह अनुपात कुल स्थानों का एक तिहाई था, जबकि मुसलमान कुल जंनसंख्या के चतुर्थांश थे। यह कहना कि ब्रिटिश सरकार अपने निर्णयों में लखनऊ समझौते का पालन कर रहीं थी, इस अर्थ में असंगत सिद्ध होता है कि लखनऊ समझौता अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व को, चाहे वे हिन्दू हो या मुस्लिम, जनसंख्या के अनुपात से अधिक निश्चित रखने के पक्ष में था, लेकिन ब्रिटिश सरकार इसका उपयोग केवल मुसलमानों के सम्बन्ध में अपना कर्तव्य पूरा करने के लिए कर रही थी।

हिन्दू महासभा

हिन्दू साम्प्रदायिकता का विकास

1922 के बाद के वर्षो में जब राजनीति का साम्प्रदायिकीकरण हो रहा था, हिन्दू साम्प्रदायिक शक्तियाँ संगठित राजनीतिक दल के रूप में उभर रही थी। इस संबंध में जो दो संगठन प्रमुख थे उनमें एक हिन्दू महासभा और दूसरा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ था। हिन्दू महासभा की स्थापना 9 अप्रैल 1915 को हरिद्वार में की गई थी और इसके प्रारम्भिक वर्षों मे इसके साथ राष्ट्रीय आन्दोलन के उन सभी प्रमुख नेताओं का सम्बन्ध था, जिन्हे साधारणतः 'नरमपंथी' साप्रदायिक नेता कहा जाता है। इनमें प्रमुख मदनमोहन मालवीय और लाजपत राय थे। हिंदू महासभा के प्रथम अध्यक्षीय भाषण में महाराजा मर्नींद्र चंद्र नंदी ने यह आशंका प्रकट की थी कि धर्म परिवर्तन की सुविधा के अभाव में देश की जनसंख्या में कहीं हिन्दू अल्पमत में न हो जाएँ। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उग्रवादी साम्प्रदायिक राष्ट्रीयता का प्रारम्भ यहीं से हो जाता है। अभी भी हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय कांग्रेस की सदस्यता साथ-साथ रखी जा सकती थी। मदनमोहन मालवीय हिन्दू महासभा के सबसे प्रतिष्ठित नेताओं में से थे और 1923 के अधिवेशन में उन्होंने हिन्दुओं को संगठित होने का आह्वान किया। बनारस के इसी अधिवेशन में 'शुद्धि' जैसे आन्दोलनों का स्वागत किया गया। इसी प्रकार राष्ट्रवादी होते हुए भी लाजपत राय ने हिन्दू महासभा के साथ अपने को सक्रिय बनाए रखा। अन्य प्रमुख नेताओं में मुकुंद राव जयकर और राजा नरेन्द्रनाथ के नाम आते हैं। 1930-32 तक हिन्दू महासभा कट्टर संकीर्णता की राजनीति से अलग रहीं और हिन्दुओं के अधिकारों की माँग करते हुए भी अन्य समुदायों के साथ भारत को ब्रिटिश प्रभुत्व से मुक्त कराने के प्रयासों में सहयोग के लिए उद्यत थी। हिंदू महासभा का जनाधार भी सीमित था और इसके प्रमुख समर्थक उच्च जातियों के साथ भूस्वामी वर्ग के थे।

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ

हिन्दू राष्ट्र' की स्थापना के उद्देश्य से 'संघ परिवार' के सदस्यों में रा० स्व० सं० सबसे महत्त्वपूर्ण

इकाई है और साम्प्रदायिक हिंसा के वातावरण मे संघ के सदस्यों के आक्रामक रूख पर पिछले एक दशक में बहुत विशद् साहित्य की रचना हुई है। इसी साहित्य को द ष्टिगत रखते हुए यह विवरण किया जा रहा है।

इस संगठन का जन्म असहयोग आन्दोलन की असफलता और 1922 में इसके वापस लिए जाने के तुरंत बाद हुआ। संघ के संस्थापक डॉ०के०बी० हेडगेवार के अनुसार आन्दोलन के वापस लिए जाने के बाद जिस सामाजिक और राजनीतिक अस्थिरता और दिशाहीनता का वातावरण उत्पन्न हो गया था। उसके कारण हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों में बहुत गिरावट आ गई और सारा देश साम्प्रदायिक दंगो का क्षेत्र बन गया। हेडगेवार ने विशेषतः मालाबार में हुए हिन्दू जमींदारों के विरुद्ध मोपला किसानों के विद्रोह को साम्प्रदायिक विद्वेष का जीता जागता उदाहरण बताया। रा० स्व० सं० के आधिकारिक इतिहास में यह स्पष्ट लिखा है कि इस घटना के बाद डॉ० हेडगेवार ने हिन्दू युवकों को संगठित करने का निर्णय लिया और विजयादशमी के पवित्र दिन इस संगठन की नागपुर मे स्थापना हुई।

यह विचारणीय है कि रा० स्व० सं० का जन्म और विकास ब्रिटिश भारत के उस क्षेत्र में हुआ जो लोकमान्य तिलक के राजनीतिक कार्यकलापों और आदर्शों से बहुत प्रभावित था। जैसा सर्वविदित है, अपन-अपने आरम्भिक राजनीतिक अभियानों में तिलक ने हिन्दू धार्मिक प्रतीको का खुलकर प्रयोग किया था। पूर्व मध्य भारत (सेंट्रल प्राविन्सेज) में मराठी प्रभुत्व वाला नागपुर का क्षेत्र संघ की कार्यवाहियों का केन्द्र बना। गाँधी जी की भारतीय राजनीति में वर्चस्व का एक प्रभाव यह हुआ कि इस क्षेत्र मे तिलकवादियों का महत्त्व नगण्य हो गया। ब्राह्मणवादी परम्पराओं पर पोषित यह राजनीतिज्ञों का वर्ग गैर-ब्राह्मणवादी मध्य वर्ग के उत्तरोत्तर विकास से अपने को असहाय अनुभव करने लगा था। फिर असहयोग आन्दोलन में मुसलमानों की भारी भागीदारी का भी उन्होंने आशंका से देखा था। डॉ० हेडगेवार के शब्दों में ''असहयोग आन्दोलन के दूध पर यवन-सर्पो का पोषण हुआ था और वे क्रोधित होकर सारे देश में दंगे फैला रहे थे''। तिलकवादी भारत सरकार अधिनियम 1919 में मुसलमानों को साम्प्रदायिक आधार पर स्थान सुरक्षित करने के भी विरुद्ध थे, विशेषकर जबकि बंगाल, पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में बहुमत के कारण मुसलमान वहाँ अत्यन्त प्रभावशाली थे। तिलकवादियों के लिए इन प्रतिकूल राजनीतिक परिस्थितियों का एक ही उत्तर था और वह यह कि हिदुत्व के सिद्धान्तों पर राजनीतिक चेतना का विकास और संगठन। कांग्रेस के प्रभाव को कम करने का उनके अनुसार यही एकमात्र उपाय था। प्रसिद्ध 'तिलकवादी' डॉ० बी० एस० मुंजे ने 1923 में नागपुर में हिन्दू महासभा की एक शाखा की स्थापना की। नमाज के वक्त मस्जिदों के समाने से गाजे-बाजे के साथ जुलूस निकालने के प्रश्न पर नागपुर में 1923 में हुए दंगों में इस संगठन का खुलकर इस्तेमाल किया गया। मध्य भारत के गवर्नर सर फ्रैंक स्लाई को अंततः इन दंगो के सामने झुकना पड़ा और अब तक इस प्रकार के जुलूसों पर लगे प्रतिबन्ध को हटाना पड़ा। अपनी सफलता से प्रोत्साहित होकर मुंजे ने 1926 में अंकोला में भी इसी प्रश्न को लेकर आन्दोलन किया और वहाँ भी मस्जिदों के सामने से जुलूस निकालने की अनुमति दे दी गई। यहाँ यह भी याद दिलाना अनुपयुक्त नहीं होगा कि स्वराजिस्ट राजनीतिक कार्यक्रमों के विरुद्ध इन्हीं तिलकवादियों ने सकारात्मक सहयोग (Responsive Cooperation) की नीति का अनुसरण किया था। द्वैध शासन (Diarchy) के संविधान के साथ सहयोग करके हिन्दू हितों की रक्षा करना चाहते थे।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना, उसके विकास और उसके लिए की गई सेवाओं के सम्बन्ध में डॉ० हेडगेवार की भूमिका को संस्था के विषय पर लिखनेवाले सभी लेखक निर्विवाद स्वीकार करते है। इसलिए 1925 की विजयादशमी क दिन यद्यपि चार और व्यक्ति डॉ० बी० एस० मुंजे०,

डॉ० एल० बी० परांजपे, डॉ० बी० बी० ठाकुर और बाबूराव सावरकर उपस्थित थे, फिर भी संघ की स्थापना का श्रेय केवल हेडगेवार को दिया जाता है। ये चारों व्यक्ति हिन्दू महासभा से संबंधित थे और 1923 के दंगो में उनका सक्रिय सहयोग था। प्रारम्भ से ही हिन्दू महासभा और रा० स्व० सं० के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत स्पष्ट नहीं थे। परन्तु यह निश्चित था कि 1925 में नागपुर में संघ की स्थापना कोई अप्रत्याशित घटना नहीं थी। उसके लिए पहले से ही उचित साम्प्रदायिक भूमि तैयार की जा चुकी थी।

महाराष्ट्र में राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षिक क्षेत्रों में कुछ अपवादों को छोड़कर, किसी भी नए आन्दोलन का नेत त्व वहाँ पर सामाजिक शिखर पर स्थित ब्राह्मण वर्ग-उसमें भी चितपावन ब्राह्मणों का रहा है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ भी इसका अपवाद नहीं है। 1925 से 1944 तक नेत त्व की परंपरा ब्राह्मणों के हाथ में रही है। संभवतः इसीलिए सामाजिक द ष्टि से हिन्दू नीची जातियों के प्रति संघ एक दुराव का द ष्टिकोण रखता है। वस्तुतः संघ की विचारधारा के दो प्रमुख स्तंभ हैं-मुसलमानों के प्रति वैमनस्य और हिन्दू नीची जातियों के प्रति दुर्भावना।

प्रांरभ से ही डॉ० हेडगेवार ने शैशव काल के युवको को संघ में आकर्षित करने पर बल दिया। इन युवको में शरीरिक व्यायाम के प्रति रुचि और संघ के नेता के प्रति अंध स्वामिभक्ति और निष्ठा की भावना फूट-फूट कर भरने का प्रयास किया जाता था। ऐसे ही युवकों ने नागपुर में एक भूमि खंड को साफ करके खेल के मैदान में परिवर्तित कर दिया और 1926 के प्रारंभ से ही संघ के प्रसिद्ध शाखा-कार्यक्रम का प्रारम्भ हुआ।

1926 में ही रामनवमी के दिन लंबे विचार-विमर्श के बाद हेडगेवार और उनके सहयोगियों ने नई संस्था का नामकरण राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के रूप में किया। संघ के लिए एक भगवा रंग का झंडा और शाखा के कार्यक्रम के समाप्त होने पर की जानेवाली एक प्रार्थना को भी स्वीक ति दी गई। प्रारम्भ से ही संगठन के ऊपर मराठी भाषा और नेत त्व को बहुत प्रभाव रहा। 1927 के अप्रैल और जून के महीनों में संघ ने अपना पहला प्रशिक्षण शिविर संगठित किया जिसमें लाठी, भाला और छूरे के प्रयोग का अभ्यास किया जाता था। ये हथियार वैसे तो आधुनिक शस्त्रों की तुलना में निरर्थक थे, परन्तु गलियों में अचानक और असंदिग्ध परिथितियों में किसी व्यक्ति पर आक्रमण करने के लिए प्रयोग किए जा सकते थे। 1927 के नवम्बर मे नागपुर के साम्प्रदायिक दंगो मे रा० स्व० स० ने हिन्दुत्व के दर्शन का व्यावहारिक परिचय दिया। इन दंगो मे जिस प्रकार स्वयं सेवकों ने तथाकथित मुस्लिम आक्रामकता का प्रति उत्तर दिया उससे संघ का आत्मविश्वास बढ़ गया और महाराष्ट्र से बाहर भी वह अपने कार्यकलापो को बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित हो गया। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में मदनमोहन मालवीय ने शाखा की कार्यवाहियों के लिए एक क्रीडा मंडप का भी निर्माण करा दिया।

1930 में प्रारम्भ सविनय अवज्ञा आन्दोलन में संघ की भूमिका नहीं के बराबर रही। उसी प्रकार मुस्लिम संप्रदायवादी शक्तियों के बढ़ते प्रभाव के कारण मुसलमानों की भी साझेदारी नगण्य रही। लेकिन ज्यों ही राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव दुर्बल होता, रा०स्व०स० अपने प्रभाव-विस्तार में तत्परता से जुट जाता। विशेषतः 1937 से 1940 का काल, जब उत्तर भारत हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक तनाव से ग्रस्त था, संघ के विस्तार के लिए एक स्वर्णिम अवसर था। हेडगेवार के ही शब्दो में, "जहाँ 1938 मे स्वयं सेवकों की संख्या 40,000 थी, 1940 में यह बढ़कर एक लाख हो गई।"

20 जून 1940 को हेडगेवार की म त्यु हो गई और सरसंघचालक के रूप मे एम०एस० गोलवलकर ने पद संभाला। इसके पहले 1938 में उन्होनें अपनी पुस्तक 'वी आर आवर नेशनहुड डिफाइंड' (हम

या हमारी राष्ट्रीयता की परिभाषा) प्रकाशित की। इस पुस्तक की विचारधारा हिटलर की नाजी पार्टी की राष्ट्रीयता की विचारधारा के सन्निकट है। पुस्तक में उन्होनें स्पष्टरूप से गैर-हिन्दुओं को या तो हिन्दू राष्ट्रीयता की परिभाषा को स्वीकार करने के लिए कहा या नागरिक अधिकारों से वंचित रहने का विकल्प बताया। स्वयं गांधी जी ने, जिन पर कुछ लोग हिन्दू साम्प्रदायिकता के साथ समझौता करने का आरोप लगाते हैं, यह कहा कि रा० स्व स० एक साम्प्रदायिक और अधिनायकवादी संस्था है। यह भी एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि जहाँ पर संघ हर गैर-हिन्दू को विदेशी मानता है, वह वास्तविक रूप से विदेशी उपनिवेशिक शासन के सम्बन्ध में रहस्यमय चुप्पी साध लेता है। 1940 से आरम्भ और विदेशी सत्ता के 1947 मे समाप्त होने तक के किसी भी राष्ट्रीय आन्दोलन में संघ की कोई भूमिका नही है। केवल संघ ही नही, परन्तु पाकिस्तान की माँग का समर्थन करनेवाले मुसलिम समुदाय का बहुसंख्यक भाग द्वितीय विश्व युद्ध के वर्षो में खूब फला फूला। राष्ट्रीय कांग्रेस को छोड़कर और कोई भी राजनीतिक दल ब्रिटिश दमनकारी नीतियों के प्रकोप का शिकार नही बना। वस्तुतः दोनो ही प्रकार के सम्प्रदायवादी एक-दूसरे का पोषण कर रहे थे। इस क्रम में कलकत्ता में 1946 का अगस्त हत्याकांड और उसकी प्रतिक्रिया में घटी घटनाएँ इन तत्त्वों के लिए एक स्वर्ण अवसर थी। ब्रिटिश राज के अन्तिम वर्षो में मुस्लिम आक्रामकता ने उत्तर भारत और विशेषतः पंजाब मे रा० स्व० स० के प्रति सहानुभूति और विश्वास सा उत्पन्न कर दिया था। स्वतन्त्रता के बाद विशेषकर राजनीतिक और सामाजिक अस्थिरता के परिपेक्ष्य में, कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं मे भी जिनमें सरदार पटेल का नाम लिया जा सकता है। संघ के प्रति थोड़ा झुकाव हो गया था। परन्तु कहने का अर्थ यह नही है कि पटेल कभी भी सम्प्रदायवादी थे। इतिहासकार प्रो० एस० गोपाल ने पटेल के 1948-50 के कार्यकलापों के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए कहा है कि इस काल में उनका व्यक्तित्त्व महानता की ऊचाइयों तक पहुँच गया था। यहाँ यह भी बताना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जवाहर लाल नेहरू प्रारम्भ से ही रा० स्व० स० से सशंकित थे। नेहरू संघ को यूरोप में फाँसीवाद की प्रतिछाया के रूप में देखते थे। दिसम्बर 1948 में लिखे एक पत्र में उन्होंने कहा था कि संघ एक गुप्त संघटन है, इसकी सदस्यता में कोई नियम नही है, परन्तु उसका कोई लेखा-जोखा नहीं है। इसके पहले 30 सितम्बर 1947 को सरदार पटेल को लिखे पत्र में उन्होनें कहा था कि कुछ सिख और हिन्दू फाँसीवाद तत्त्व सरकार को नष्ट करना चाहते हैं, कम-से-कम उसके धर्म-निरपेक्ष रूप को समाप्त करना चाहते है। इसलिए स्वतन्त्रता के बाद के तनावयुक्त वातावरण में जब नाथूराम गोडसे ने 30 जनवरी 1948 को गाँधी जी की हत्या कर दी तो साधारण जनता ने एक स्वर से इसके लिए रा०स्व०स० को दोषी ठहराया, यद्यपि स्वयं गोडसे घटना के समय संघ का सदस्य नहीं था। जनता के मत के आगे सरकार को झुकना पड़ा और 4 फरवरी 1948 को संघ को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। गोलवलकर ने संघ से प्रतिबन्ध हटाने के लिए जी तोड़ प्रयास किया और अन्त में कुछ शर्तों के साथ, जिन्हे संघ के लिए अपमान-जनक ही कहा जा सकता है। 12 जुलाई 1949 को रा० स्व० स० को पुनः कानूनी मान्यता प्रदान की गई।

अध्याय-10
आजाद हिन्द फौज का स्वतन्त्रता संघर्ष में योगदान

आजाद हिन्द फौज

जापान ने 7 दिसम्बर 1941 को अमेरिका के समुद्री अड्डे पर्ल हार्बर पर आक्रमण कर दिया। इसके उपरान्त उसने सदूर पूर्व (For East) में फ्रांसीसी, हॉलैण्ड के और अंग्रेजों के साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। अंग्रेजी सेना ने मलेशिया तथा सिंगापुर मे अत्यन्त अपमानजनक हार का मुँह देखा और जापान के हाथों मे 45,000 युद्धबन्दी, जिनमें अधिकतर सैनिक भारतीय थे, वे छोड़कर भाग गए। पहली आजाद हिन्द फौज के गठन का श्रेय कैप्टन मोहन सिंह की हैं जब वह जापानियों से बच रहे थे, उनका सम्पर्क सरदार प्रीतम सिंह से हुआ। सरदार प्रीतम सिंह, मोहन सिंह व जापानी सैनिक अधिकारी मेजर फूजीवारा के प्रयासो से पहली आजाद हिन्द फौज की स्थापना हुई। कैप्टन मोहन सिंह ने अन्य युद्धबन्दियों को भी इस स्वतन्त्रता संग्राम मे सम्मिलित होने का निमंत्रण दिया। उन्होंने 1 सितम्बर 1942 को आजाद हिन्द फौज का पहला डिवीजन बना दिया। मोहन सिंह की आजाद हिन्द फौज बहुत सफल नहीं हो सकी क्योंकि मोहन सिंह का जापानी अधिकारियों से सेना की संख्या, सेना को बर्मा में भेजने तथा सेना का साम्राज्यवाद विरोधी भूमिका क्या होगी सम्बन्धी प्रश्नों पर मतभेद हो गए।

2 जुलाई 1944 सुभाष चन्द्र बोस 29,000 किलोमीटर की समुद्री यात्रा करके जर्मनी से सिंगापुर पहुँचे तथा इसके उपरान्त आजाद हिन्द फौज पुनः गतिशील हो गई। सुभाष बोस के नेत त्व वाली आजाद हिन्द फौज, इस फौज का दूसरा चरण था। सुभाष बोस ने आजाद हिन्द सरकार (स्वतंत्र भारत की अस्थाई सरकार) गठित की। छलांग लगाते हुए बाघ (Tiger) को आजाद हिन्द फौज का झण्डा घोषित किया गया तथा कांग्रेस के झण्डे को इस नई सरकार का झण्डा घोषित किया और एक नया जय घोष (Slogan) ''जय हिन्द'' अपने सैनिकों का दिया। सुभाष बोस ने सेना का पुनर्गठन किया। सदूर पूर्व में बसे भारतीयों की इस सेना मे भरती होने को आमंत्रित किया तथा सेना के व्यय के लिए उन्हें धन देने को भी कहा। वह स्वयं इस सेना के मुखिया बने और सैनिकों का आह्वान किया ''तुम मुझे रक्त दो, मैं तुम्हे आजादी दूँगा''। आजाद हिन्द फौज का युद्ध उद्घोष था, ''दिल्ली चलो''।

''भारत छोड़ो'' आन्दोलन ने दक्षिण पूर्व एशिया में रहनेवाले भारतीयों को भी प्रभावित किया। देश में सभी प्रमुख काग्रेसी नेता जेल में बन्द थे। अन्तर्राष्ट्रीय प ष्ठभूमि में मित्र देशों की विजय दिखाई दे रही थी। सम्भवतः इन्हीं तथ्यों को सामने रखकर बोस ने गांधी जी के नाम सिंगापुर स्थित आजाद हिन्द रेडियो से एक अपील जारी की और कहाः-

''भारत का अन्तिम स्वतन्त्रता संग्राम छिड़ चुका है.....है हमारे राष्ट्रपिता, हम भारतीय स्वतन्त्रता के पवित्र युद्ध में आपके आशीर्वाद की तथा शुभकामनाओं की आशा करते हैं।''

आजाद हिन्द सेना भारतीय सीमाओं की ओर बढ़ रही थी। इस इम्फाल युद्ध में मई 1944 में ही इस सेना की पहली बटालियन ने मौडोक (Mowdok) जो चाटगांव (आधुनिक बंगला देश) के दक्षिण पश्चिम में एक बाहरी चौकी थी, पर अधिकारकर भारत भूमि पर तिरंगा फहरा दिया था। दूसरी ओर उत्तर में शाह नवाज खां के अधीन एक बटालियन ने जापानी सहायता से नागालैण्ड स्थित कोदिया नगर पर आक्रमण कर दिया। अगला निशाना मणिपुर स्थित इम्फाल था। योजना यह थी कि शीघ्रता से ब्रह्मपुत्र नदी पार कर बंगाल पर आक्रमण कर दिया जाए।

इस अभियान को केवल सीमित सफलता ही मिली। दुर्भाग्य से विश्वयुद्ध का पाँसा पलट चुका था। जर्मनी तथा जापान दोनों ही हार के द्वार पर खड़े थे। जापानी सेना को दक्षिणी प्रशान्त महासागर मे अमेरिकी सेनाओं का प्रतिरोध करने के लिए अपनी सेना को भारत की सीमाओं से वापिस बुलाना पड़ा। आजाद हिन्द सेना अब पीछे हटने लगी, मानसून की मार, यातायात के साधनों के अभाव, इंग्लैण्ड व अमेरिकी हवाई ताकत के चलते आजाद हिन्द फौज को पीछे हटना पड़ा। मध्य 1944 तथा 1945 तक यूरोप मे मित्र देशों की सेनाओं ने जर्मनी व इटली को पूर्णरूप से हरा दिया। जापान के समर्पण के पश्चात् आजाद हिन्द फौज को भी अंग्रेजो के आगे हथियार डालने पर विवश होना पड़ा।

सुभाष बोस सिंगापुर से जापान की ओर निकल पड़े और कहा यह जाता है कि वह ताईपह हवाई अड्डे पर एक विमान दुर्घटना में 18 अगस्त 1945 को मारे गए। आजाद हिन्द सेना के वे सैनिक जो एक समय में अंग्रेजी सेना का भाग थेः उन पर अंग्रेजों का यह आक्षेप था कि उन्होनें अपनी राजभक्ति की प्रतिज्ञा तोड़कर अंग्रेजी सम्राट के विरुद्ध युद्ध किया है। सैनिक कानून में इसकी सजा म त्युदण्ड है, इतने लोगों को म त्युदण्ड देना सम्भव नहीं था, अतएव सरकार ने तीन प्रमुख नेताओं कैप्टन पी० के० सहगल, कैप्टन शाह नवाज खां, तथा लैफ्टिनेंट गुरबख्श सिंह ढिल्लो (हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख) पर मुकद्दमें चलाए। कोर्ट मार्शल की कार्यवाही लालकिले में हुई।

आजाद हिन्द फौज के मुकद्दमें

आजाद हिन्द फौज के सैनिकों के भविष्य के मुद्दे ने लोगों की भावना को सबसे ज्यादा उद्वेलित किया। वे युद्धबंदी के रूप में नजरबंद थे और सरकार उनके खिलाफ क्रूरता का मुकदमा चलाने जा रही थी। नेहरू ने इन ''गुमराह देशभक्तों'' के प्रति उदारता दिखाने की अपील की। कांग्रेस ने आजाद हिंद फौज बचाव समिति का गठन किया और रिहा कर दिए गए फौजियों को आर्थिक सहायता देने तथा उनके लिए रोजगार की व्यवस्था करने के लिए ''आजाद हिन्द फौज राहत तथा जाँच समिति'' भी बनाई। जब लाल किले में यह ऐतिहासिक मुकद्दमा शुरू हुआ तो भूलाभाई देसाई बचाव पक्ष के वकीलों की अगुवाई कर रहे थे। सप्रू, काटजू और आसफ अली उनके सहायकों में थे। कार्यवाही के पहले दिन नेहरू भी वकीलों की पोशाक पहन अदालत में मौजूद थे।

आजाद हिन्द फौज को लेकर चलाए जा रहे आन्दोलन के साथ जनता का गहरा जुड़ाव था। सरकार के विरुद्ध जन रोष तरह-तरह से व्यक्त हो रहा था। छात्र सबसे ज्यादा सक्रिय थे। वे कक्षाओं का बहिष्कार कर रहे थे, सभाओं और प्रदर्शनों का आयोजन कर रहे थे, हड़ताल करा रहे थे, कोष जमा कर रहे थे और पुलिस से संघर्ष भी कर रहे थे। दुकानदारों ने अपनी दुकानें बंद कर दी थी। उनमें से बहुत-से सभाओं और जुलूसों में भी जाते थे। जिनमें इतना साहस नहीं होता था, वे चंदा देते थे और दूसरों से दिलवाते थे। जिला बोर्डों, नगर पालिकाओं, प्रवासी भारतीयों, गुरुद्वारा समितियों, कैम्ब्रिज मजलिस, बंबई और कलकत्ता के गुरुद्वारे आजाद हिन्द फौज के सैनिकों के पक्ष में प्रचार के केंद्र बन गए थे। पंजाब के बहुत से शहरों में उस साल दिवाली नहीं मनाई गई।

सामाजिक और भौगोलिक द ष्टि से भी इस आन्दोलन का दायरा काफी बढ़ा था। गुप्तचर ब्यूरों के निदेशक ने भी स्वीकार किया कि ''शायद ही कोई और मुद्दा हो जिसमें भारतीय जनता ने इतनी दिलचस्पी दिखाई हों' और यह कहना गलत नहीं होगा कि जिसे इतनी व्यापक सहानुभूति मिली हो। आन्दोलन के सामाजिक दायरे का कुछ संकेत ऊपर बताए गए तथ्यों से मिलता है। भौगोलिक दायरा भी कम विस्त त नहीं था। दिल्ली, पंजाब, बंगाल, संयुक्त प्रांत, बंबई और मद्रास में तो आन्दोलन उग्र था ही, कुर्ग, बलुचिस्तान, अजमेर, असम, ग्वालियर और दूर-दूर के गाँवों में भी संवेदना और समर्थन का वातावरण था।

सभी राजनीतिक दलों ने इस आन्दोलन का समर्थन किया। लेकिन इनमें कांग्रेस वायसराय के अनुसार, सबसे ज्यादा मुखर थी। मुस्लिम लीग भी आन्दोलन के साथ थी, लेकिन मुख्यतः एक मुसलमान फौजी रशीद अली के कारण। कम्युनिस्ट पार्टी शुरू में अपने सक्रिय समर्थन देने में हिचकिचा रही थी, लेकिन अनेक साम्यवादी खासकर कलकत्ता के छात्र नेता गौतम चट्टोपाध्याय और सुनील मुंशी व्यक्तिगत रूप से, मोर्चे की पहली पंक्ति में थे। यूनियनवादी, अकाली, जस्टिस पार्टी, हिन्दू महासभा और सिख लीग तथा अहरार तो साथ थे ही।

आजाद हिन्द फौज आन्दोलन की व्यापक गिरफ्त का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जिन समूहों को अब तक ब्रिटिश राज का परम्परागत समर्थक माना जाता था, वे भी इसमें शामिल थें-मसलन अपने को 'राज' के प्रति वफादार माननेवाले सरकारी कर्मचारी और सशस्त्र सेनाओं के लोग। आन्दोलन के इस पहलू से अधिकारी विशेष तौर से चितित थे। उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त के राज्यपाल कनिंघम ने वायसराय को चेतावनी दी कि ''ब्रिटिश विरोधी शिविर मे शामिल होनेवाले अच्छे-भले लोगों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।''

उसका मानना था कि आजाद हिन्द फौज के लोग आमतौर पर उन्हीं परिवारों से आए हैं, जो पीढ़ियों से सरकार के प्रति वफादार रहे हैं। के० पी० सहगल पंजाब के उच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश दीवान अछरू राम के बेटे थे। सरकारवदियों और उदारवादियों, दोनों ने सरकार से अपील की कि वह भारत और ब्रिटेन के अच्छे सम्बन्धों को बनाए रखने के लिए ये मुकद्दमें उठा ले। सरकारी कर्मचारियों को न केवल अभियुक्तों से सहानुभूति थी, बल्कि वे सरकार विरोधी सभाओं में जाया करते थे और पैसे भी भेजते थे।

रॉयल इंडियन एयर फोर्स के लोगों को कोहाट में शहनवाज का भाषण सुनने और संयुक्त प्रान्त तथा पंजाब मे सैनिकों को आजाद हिन्द फौज के समर्थन में होनेवाली सभाओं में देखा जा सकता था। बहुत से सैनिक तो अपनी वर्दी भी पहने होते थे। कानपुर, कोहाट, इलाहबाद, बमरौली और कलकत्ता की एयर फोर्स की इकाइयों ने आर्थिक सहयोग भेजा। सभी सैनिक इस बात के कायल थे कि आजाद हिन्द फौज के साथ नरमी दिखाई जानी चाहिए। कमांडर-इन-चीफ ऑचिनलेक का कहना था कि भारतीय अधिकारियों में शतप्रतिशत की और जवानों में अधिकांश की सहानुभूति आजाद हिन्द फौज के साथ है। इस टिप्पणी से सेना के अधिकारियों को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि उन्होंने यही सोचकर इस मामले में कड़ा रुख अपनाया था कि नरमी को सेना के लोग 'एक बड़ा अपराध' समझेंगे। वास्तविक स्थिति का ज्ञान होने पर इस आधार पर नीति संशोधित कर ली गई कि ''भारतीय सेना की विश्वसनीयता बनाए रखने के लिए यही सर्वोत्तम है'' और इसके लिए मंत्रिमंडल की मंजूरी भी दे दी गई।

इस तरह आजाद हिन्द फौज के आन्दोलन ने केवल यह स्थापित किया कि भारतीयों से संबंधित मामले तय करने का अधिकार भारतीयों को ही है, बल्कि उसके द्वारा यह अधिकार हासिल भी कर लिया गया। भारत में अपने कानून चलाने के ब्रिटिश अधिकार के आगे प्रश्न चिह्न लग गया।

''भारत बनाम ब्रिटेन'' का मुद्दा अब बिल्कुल साफ हो चुका था। देश का एक ही नारा था-'भारत छोड़ो'।

आजाद हिन्द मुकद्दमों का प्रभाव-विद्रोह की तीन घटनाएँ

पहली आजाद हिन्द फौज के मुकद्दमे को लेकर 21 नवम्बर 1945 को कलकत्ता में, दूसरी कलकत्ता में 11 फरवरी 1946 के रशीद अली के खिलाफ मुकदमें को लेकर और तीसरी 18 फरवरी 1946 को बंबई में जब रॉयल इंडियन नेवी के नाविकों ने हड़ताल कर दी। तीनों जगह पैटर्न एक जैसा ही था-प्रारंभिक चरण में छात्रों व नाविकों के किसी समूह द्वारा अधिकारियों की बात मानने से इनकार कर देना और फिर उनका दमन, दूसरे चरण में पूरे शहर के लोगों का उनकी माँगों में शामिल हो जाना और फिर तीसरे चरण में देश के दूसरे हिस्से के लोगों द्वारा उनके प्रति सहानुभूति और एकजुटता की अभिव्यक्ति।

पहले चरण की शुरुआत छात्रों और नाविको द्वारा प्रशासन को दी चुनौती से हुई और दमन से उसका अन्त हुआ। विद्रोह की पहली घटना 21 नवम्बर 1945 को हुई। छात्रों का जुलूस, जो मुख्यतः फारवर्ड ब्लाक का था, लेकिन जिसमें छात्र फेडरेशन और इसलामिया कालेज के छात्र भी थे, डलहौजी स्क्वायर की तरफ बढ़ा, जहाँ कलकता में सरकारी सत्ता का केन्द्र था। पुलिस द्वारा लाठी चार्ज पर छात्र नहीं गए, पथराव करने पर पुलिस ने गोली चलाई जिसमें दो की म त्यु हो गई और 52 छात्र घायल हो गए। 11 फरवरी 1946 को आजाद हिन्द फौज के कैप्टन अब्दुल रशीद को सात साल के कारावास का दंड दिए जाने के फैसले से है। इस बार जूलूस का नेत त्व मुस्लिम लीग के छात्रों ने किया, हालाँकि कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी के छात्र संगठन भी इसमें शामिल हुए। छात्रों ने धारा 144 का उल्लंघन किया जिसके कारण गिरफ्तारियाँ हुई और लाठी चार्ज भी किया गया।

इन विद्रोहों के दूसरे चरण में, जब शहर के प्रायः सभी लोग आन्दोलनकारियों के साथ हो गए ब्रिटिश-विरोधी भावना इतनी उग्र हो गई कि कलकत्ता और बंबई का सारा कामकाज ठप्प हो गया। शुरू में आदोलनकारियों के प्रति सहानुभूति-प्रदर्शन के लिए सभाएँ और जुलूस, हड़ताल और फिर जनता द्वारा जगह-जगह खड़े किए गए अवरोध, गलियों और मकानों की छतों से रुक-रुक कर होनेवाली लड़ाई, यूरोपियनों पर हमला, थानों, डाकघरों, बैंकों, अनाज की दुकानों पर हिंसक हमले।

विद्रोह का तीसरा चरण था देश के अन्य हिस्सों के लोगों द्वारा एकजुटता का प्रदर्शन। आन्दोलनकारी छात्रों और नाविकों के साथ संवेदना व्यक्त करने तथा सरकारी दमन की भर्त्सना करने के लिए छात्रों ने केवल कक्षाओं का बहिष्कार किया, बल्कि जुलूसों और प्रदर्शनों का आयोजन भी किया।

सरकार से इस सीधी, उग्रवादी हिंसक मुठभेड़ की कुछ सीमाएँ भी थी। इसमें समाज के सापेक्षिक रूप से ज्यादा लड़ाकू हिस्से ही शामिल हो सकते थे। इन कार्यवाइयों में उन उदारवादी तथा परम्पराप्रिय समूहों के लिए कोई जगह नही थीं, जिन्होनें आजाद हिन्द फौज के युद्धबंदियों का साथ दिया था। ये विद्रोह अल्पकालिक भी साबित हुए क्योंकि जनता का गुस्सा तेजी से उमड़ता, लेकिन जल्द ही शांत हो जाता था।

इन विद्रोहों के सिलसिले में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी उभरकर आया कि 1946 की शुरुआत तक यद्यपि नौकरशाही और सेना में काफी अस्थिरता आ गई थी, फिर भी दमन करने की ब्रिटिश क्षमता अक्षुण्य थी और उसके कठोर इस्तेमाल का इरादा भी बना हुआ था। सेना द्वारा और जनसामान्य द्वारा काफी विरोध किए जाने पर आजाद हिन्द फौज के खिलाफ मुकद्दमा चलाने के

निर्णय पर पुनर्विचार करना एक बात थी तथा कानून और व्यवस्था के समक्ष चुनौती उपस्थित होने पर उसका सामना करने की जरूरत बिल्कुल दूसरी बात।

पुनर्वेक्षणः आजाद हिन्द फौज मुकदमें में इन लोगों के शुद्ध अथवा अशुद्ध आचरण का प्रश्न नहीं रहा था मूलभूत प्रश्न यह बन गया था कि क्या अंग्रेजों को यह अधिकार है कि जो प्रश्न केवल भारतीयों से सम्बन्ध रखता है; उसका निर्णय क्या अंग्रेज करेंगे? लगभग सभी दलों के नेताओं तथा सदस्यों ने, यहाँ तक कि भारत सरकार के कर्मचारियों तथा सैनिकों ने भी इन लोगों को देश-भक्तों की संज्ञा दी। ब्रिटिश सरकार को इस बात का बोध हो गया कि अब भारत पर राज करना कठिन हो जाएगा।

UNIT–III

अध्याय-11

असहयोग और खिलाफत आन्दोलन

(Non–Co–operation and Khilafat Movement)

गांधी जी द्वारा 1920 ई० में असहयोग आन्दोलन को प्रारम्भ किया गया, जिसके निम्नलिखित कारण थे -

(i) **युद्ध का परिणामः** प्रथम विश्व युद्ध के समय ब्रिटेन ने कहा था कि वह लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए युद्ध में भाग ले रहा है। ब्रिटेन की इस घोषणा के कारण भारतीय यह सोचने लगे कि जब ब्रिटेन लोकतन्त्र की रक्षा के लिए युद्ध में भाग ले रहा है तो युद्ध की समाप्ति के बाद वह भारत में लोकतन्त्र की स्थापना अवश्य ही करेगा। लेकिन जब युद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत को पूर्ण स्वराज्य नहीं दिया तो सभी राष्ट्रवादियों को काफी निराशा हुई और लोग ब्रिटिश सरकार के इरादों पर सन्देह करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि युद्ध के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वरूप बदल गया और उसने एक नई दिशा अपनाई।

(ii) **शोचनीय आर्थिक स्थितिः** 1917 से ही देश की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। युद्ध काल में भारत को डेढ़ अरब पौण्ड युद्ध का भार सहन करना पड़ा था। इससे भारत की स्थिति बहुत अधिक खराब हो गई थी। देश में वस्तुओं का अभाव होने के कारण आवश्यक वस्तुओं के मूल्य में भारी व द्धि हो गई, जिसके कारण जन-साधारण के लिए जीवन निर्वाह करना कठिन हो गया। भुखमरी की नौबत आ गई और किसानों तथा मजदूरों की दशा और भी दर्दनाक हो गई। ऐसी स्थिति में सरकार ने देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने के स्थान पर जनता से और अधिक कर वसूलना आरम्भ कर दिया जिससे सर्वत्र विरोध की लहर उत्पन्न हो गई।

(iii) **अकाल तथा महामारीः** भारतीय जनता की आर्थिक दशा तो पहले ही शोचनीय थी, परन्तु अकाल तथा महामारी ने उनकी दशा को और भी अधिक शोचनीय बना दिया। 1917 में पर्याप्त वर्षा न होने के कारण समस्त देश में अकाल पड़ा, अनेक व्यक्ति अकाल के ग्रास बने। परन्तु सरकार ने जनता के दुख को दूर करने के लिए कोई पर्याप्त प्रयास नहीं किया। इसी प्रकार महामारी के कारण बहुत से लोगों को जान से हाथ धोना पड़ा, परन्तु सरकार ने उसकी भी रोकथाम के लिए पर्याप्त कदम नहीं उठाए। शासन के इस उपेक्षापूर्ण द ष्टिकोण से भारतीयों में असन्तोष का उत्पन्न होना नितान्त स्वाभाविक था।

(iv) **भर्ती तथा वसूलीः** ब्रिटिश सरकार ने प्रथम विश्व युद्ध के दौरान सेना में भर्ती करने तथा युद्ध व्यय के लिए धन व्यय की वसूली करने के लिए जो उपाय काम में लिए वे अन्यायपूर्ण थे। अधिकारियों ने गाँव-गाँव का दौरा और प्रत्येक कुटुम्ब से दो-दो तीन-तीन व्यक्तियों को अनिवार्य रूप से सेना में भर्ती किया गया। मुजफ्फरपुर के न्यायाधीश मि० कोल्ड स्ट्रीम

ने लिखा, ''युद्ध ऋण उगाहने के लिए तथा सैनिकों की भर्ती के लिए जो उपाय काम में लाए गए, वे बहुधा अनाधिक त, आपत्तिजनक तथा अत्याचारपूर्ण थे। सरकार के इन कार्यों के विरुद्ध भारतीय जनता के मन में कटुता उत्पन्न होना स्वाभाविक था।

(v) **सरकार का दमन चक्रः** एक ओर सरकार जनता को राजनीतिक सुधारों का आश्वासन दे रही थी और दूसरी ओर देश में चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने के उद्देश्य से ही सरकार ने प्रेस अधिनियम और राजद्रोहात्मक अधिनियम पास किए। बंगाल और पंजाब में सरकार आन्दोलनकारियों को निर्ममतापूर्वक कुचल रही थी। सरकार के इन दमनकारी कार्यों का परिणाम यह हुआ कि क्रान्तिकारी एकता के सूत्र में बँध गए। पंजाब के सम्बन्ध में श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने लिखा है, ''सर माईकेल ओडवायर ने कठोर और दमनकारी शासन, उनके अत्याचारी भर्ती के तरीकों, उनके जबरदस्ती वसूल किए गए युद्ध सहायता, धन और तमाम राजनीतिक नेताओं के ऊपर किए गए उनके अत्याचारों के असन्तोष में जलते हुए अंगारों को सिर्फ रोक रखा था, जो ज्वाला में फूट पड़ने को तैयार थे।

(vi) **छटनी की नीतिः** प्रथम विश्व युद्ध के दौरान सरकार ने सेना में भर्ती के लिए अनुचित तरीके अपनाए। सरकार ने जितनी तेजी से भर्ती की, उतनी ही तेजी से युद्ध के अन्तिम चरण में छटनी प्रारम्भ कर दी। इससे बहुत लोग बेकार हो गए। जिससे बेकारी की समस्या उत्पन्न हो गई। सरकार की इस नीति के विरुद्ध जनता में असन्तोष की भावना उत्पन्न हुई।

(vii) **1919 के सुधारों के प्रति असन्तोषः** प्रथम विश्व युद्ध में भारतीयों ने ब्रिटिश सरकार की बहुमूल्य सेवाएँ की थी। युद्ध काल में सरकार ने इन सेवाओं के बदले बहुमूल्य रियायतें देने का आश्वासन दिया था। इस कारण जनता को यह विश्वास था कि युद्ध के बाद इन्हें कुछ प्राप्त होगा, किन्तु माण्टफोर्ड ने उनकी आशाओं पर पानी फेर दिया। इस योजना ने उत्तरदाई सरकार की स्थापना नहीं की, भारत सरकार पर ग ह सरकार का नियन्त्रण पूर्ववत् बना रहा और प्रान्तों में उत्तरदायित्व शासन की स्थापना नहीं की गई। अगस्त 1918 ई० कांग्रेस अधिवेशन में इन सुधारों को 'अपर्याप्त', 'असन्तोषजनक' तथा निराशाप्रद मानकर स्वीकार करने के लिए अयोग्य ठहराया।

(viii) **रोलट एक्टः** युद्ध में क्रान्तिकारियों के दमन के लिए 'भारत सुरक्षा अधिनियम' पारित किया गया, किन्तु यह अधिनियम केवल युद्ध काल के लिए ही था। जबकि युद्ध के बाद भी क्रान्तिकारी सक्रिय थे, जिन्हें दबाने के लिए सरकार को एक कानून की आवश्यकता थी। संक्षेप में ब्रिटिश सरकार भारत की राष्ट्रीय भावना को कुचलना चाहती थी। अतः उन्होंने 1917 ई० में न्यायाधीश सर सिडनी रोलट की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की, जिसे आतंकवादियों को कुचलने के उपाय बताने को कहा गया। इस कमेटी ने 1918 ई० में अपना प्रतिवेदन दे दिया। कमेटी की सिफारिश पर सरकार ने केन्द्रीय विधानमण्डल में फरवरी 1919 में दो विधेयक प्रस्तुत किए जिन्हें रोलट विधेयक कहा जाता है। इसके विरुद्ध सारे देश ने आवाज उठाई परन्तु सरकार ने इस विरोध की ओर ध्यान नहीं दिया। इस सम्बन्ध में श्री सी.वाई. चिन्तामणि ने लिखा है, ''इन दोनों विधेयकों का विरोध परिषद के गैर-सरकारी, भारतीय सदस्यों, निर्वाचित सदस्यों और मनोनीत सदस्यों सभी ने समान रूप से किया। परन्तु सरकार अपनी बात पर अड़ी रही और तनिक भी नहीं झुकी।'' सरकार ने भारतीय जनता के विरोध की बिल्कुल परवाह नहीं की उसने दो विधेयकों में से एक को 18 मार्च 1919 ई० को कानून का रूप दे दिया, जिसे रोलट एक्ट कहा गया।

रोलट एक्ट के अनुसार मजिस्ट्रेटों को यह अधिकार प्राप्त हुआ कि वे संदिग्ध क्रान्तिकारियों

की मामूली जाँच पड़ताल के बाद ही नजरबन्दी का आदेश जारी कर सकते थे। इसका अर्थ यह हुआ कि सरकार किसी व्यक्ति को बिना कारण बताए और बिना उस पर मुकद्दमा चलाए जेल में डाल सकती थी और उसको चाहे जितने समय जेल में रख सकती थी। यहाँ तक कि किसी व्यक्ति के सन्देह मात्र होने पर भी उसे बन्दी बनाया जा सकता था। इस प्रकार इस कानून के आधार पर सरकार किसी भी व्यक्ति को तंग कर सकती थी और उसे अपने पक्ष में अपील या वकील का अधिकार न था। साराँश यह है कि इस अधिनियम से भारतीयों की स्वतन्त्रता निरर्थक एवं महत्त्वहीन हो गई इस कारण भारतीय नेताओं ने रोलट एक्ट को 'काला अधिनियम' (Black Act) तथा आतंकवादी और अपराध अधिनियम (Anarchist and Revolutionary Crimes) की संज्ञा दी। मोतीलाल नेहरू के अनुसार, इस कानून द्वारा अपील, वकील और दलील व्यवस्था का अन्त कर दिया।'' सी.आर. दास ने इस अधिनियम के बारे में लिखा है, ''इसने भारतीय शासन को किसी भी राजनीतिक आन्दोलन या सरकार विरोधी कार्य का दमन करने के लिए असाधारण शक्तियाँ प्रदान कर दी। इसके द्वारा सरकार बिना मुकद्दमा दायर किए किसी व्यक्ति को बन्दी बना सकती थी। इससे 'साक्षी अधिनियम' (Evidence Act) की वह धारा भी समाप्त कर दी गई जिसके अनुसार किसी पुलिस अधिकारी के सम्मुख दी गई गवाही नहीं मानी जा सकती थी।''

महात्मा गांधी ने रोलट अधिनियम का विरोध किया। उन्होंने देशव्यापी हड़ताल का आह्वान किया। कहीं-कहीं 30 मार्च को और कहीं-कहीं 6 अप्रैल 1919 को शोक दिवस तथा हड़ताल मनाई गई। इसमें हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने समान रूप से भाग लिया। उनमें अपूर्व एकता देखने को मिली। सारे देश में हड़तालें शान्तिपूर्ण हुई और लोगों ने उपवास किए। सिर्फ कहीं-कहीं कानून ने हिंसात्मक रूप ले लिया। दिल्ली में जनता और पुलिस में झगड़ा हो गया। पुलिस ने गोली चलाई जिसमें आठ व्यक्ति हताहत हुए। जनता उत्तेजित हो उठी। गांधीजी की गिरफ्तारी के समाचार ने आग में घी का काम किया। वे स्थिति को शान्त करने के लिए दिल्ली जा रहे थे जबकि उन्हें रास्ते में ही गिरफ्तार कर बम्बई भेज दिया गया। गांधी जी की गिरफ्तारी से जनता का रोष उमड़ पड़ा फिर भी आन्दोलन आमतौर पर शान्त ही रहा। लेकिन सरकार ने अपना दमन चक्र चालू कर दिया। बड़ी कठोरता और निर्ममता से आन्दोलन को दबाया जाने लगा। पंजाब के गवर्नर डायर ने आन्दोलन को कुचलने का द ढ़ निश्चय किया। डा० किचलु और डा० सत्यपाल को बन्दी बनाकर अज्ञात स्थान पर भेज दिया गया। स्वभावतः पंजाब की जनता उत्तेजित हो उठी। अम तसर के नागरिकों ने जुलूस निकाला। पुलिस ने शान्तिपूर्ण जुलूस पर गोली चलाई, दस व्यक्ति मरे और कई आहत हुए। जनता की उत्तेजना और भी बढ़ गई। वह शवों के साथ नगर की ओर चल पड़ी, रास्ते में कई अंग्रेजों की हत्या कर दी और कई सार्वजनिक भवनों में आग लगा दी।

(ix) **जलियाँवाला बाग हत्याकांडः** अम तसर की उत्तेजित जनता को कुचलने के लिए नगर को सेना के अधिकार में सौंप दिया गया। इसका सर्वेसर्वा जनरल डायर था। 12 अप्रैल को शहर में सार्वजनिक सभा करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया जिसकी पूरी जानकारी जनता को नहीं कराई गई। 13 अप्रैल को बैशाखी का त्यौहार पड़ता था। उसी दिन सरकार की नीति का विरोध करने के लिए जलियाँवाला बाग में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया। बाग शहर के बीच में था और चारों ओर से दीवारों से घिरा हुआ था। इसके आने-जाने के लिए केवल एक ही सकरी गली थी। हजारों की संख्या में स्त्री, पुरुष और बच्चे सभा में एकत्रित हुए थे। जब सभा का कार्य शान्तिपूर्वक चल रहा था जनरल डायर ने 200 देशी और 50 गोरे सिपाहियों को साथ लेकर बाग के एकमात्र दरवाजे को रोक लिया

और निहत्थी जनता पर गोलियों की बौछार शुरू कर दी। सिपाहियों ने गोली चलाना तभी बन्द किया जब कारतूस समाप्त हो गए। आतंकग्रस्त भीड़ तुरन्त तितर-बितर होने लगी थी। लेकिन दस मिनट तक निहत्थी भीड़ पर गोलियों की बौछार होती रही। जनरल डायर तो एक हथियार लैस गाड़ी भी गोली चलाने के लिए ले गया था लेकिन तंग रास्ते के कारण गाड़ी बाग में न जा सकी। इसमें लगभग 400 आदमी मारे गए और लगभग 2000 आदमी घायल हुए। हण्टर कमीशन के सामने बयान श्री गिरधारी लाल ने बताया, ''मैंने सैकड़ों व्यक्तियों को मरे हुए देखा, सबसे खराब बात यह थी कि गोली ऊपर दरवाजे की ओर से चलाई जा रही थी जिससे होकर लोग भाग रहे थे। बहुत से लोग भागते हुए भीड़ में पैरों के तले कुचले गए और मारे गए। खून की धारा बह रही थी। अधिकारियों ने म तकों और घायलों की देखभाल के लिए कोई प्रबन्ध नहीं किया था। म तकों में बड़ी उम्र के आदमी और छोटे लड़के थे। कुछ की आँखों पर गोलियाँ लगी थी और नाक, छाती, बाँह, टाँगे छितरा गई थी। मेरा यह अनुमान है कि उस समय एक हजार से ज्यादा म तक और आहत व्यक्ति थे।''

(x) **सैनिक शासनः** इस अन्यायपूर्ण और अमानुषिक कार्य के केवल दो दिन बाद ही पंजाब के पाँच जिलों में सैनिक शासन लागू कर दिया गया। जनता से बड़ी न शंसतापूर्ण तथा कठोरतापूर्ण व्यवहार किया गया। लोगों को डण्डों से पिटवाया गया। कुछ स्थानों पर उन्हें पेट के बल रेंगकर जाने के लिए मजबूर किया गया। छात्रों को विभिन्न स्थानों पर दिन में कई फौजी अफसरों के सामने हाजिरी देने के लिए बाध्य किया गया। यह आदेश दिया गया कि हिन्दुस्तानी अंग्रेज अफसरों को सलाम करें। उनके सामने कोई घोड़े या सवारी पर न चढ़े तथा छाता न लगाए। इस प्रकार जनता पर तरह-तरह के अमानुषिक कार्य किए गए।

(xi) **हंटर समितिः** सरकार के लाख प्रयत्न के बाद भी अम तसर की घटनाओं पर अधिक दिनों तक पर्दा न हटा। देश के कोने-कोने से इसके विरोध में आवाजें उठने लगी। इसकी जाँच के लिए माँग की गई, जनता की जोरदार माँग पर सरकार को झुकना पड़ा। उसने लार्ड हन्टर की अध्यक्षता में एक समिति बनाई जिसके सदस्य तीन अंग्रेज और दो भारतीय सर चिमनलाल सितलवाद और पण्डित जगत नारायण थे।

हण्टर समिति की रिपोर्ट निष्फल नहीं हुई। उसने अधिकारियों के न शँस कार्यों पर पर्दा डालने का प्रयास किया। सत्याग्रह को दोषी ठहराया गया। डायर के कार्य को उचित बताया गया। लेकिन समिति ने इतना स्वीकार किया कि डायर ने अनुचित साधनों का प्रयोग किया था और अधिकारियों ने जनता पर पाशविक अत्याचार किया था।

कांग्रेस ने भी जाँच पड़ताल के लिए एक समिति का गठन किया। इसके अध्यक्ष महात्मा गांधी और सदस्य चितरन्जन दास, मोतीलाल नेहरू और डा० जयकर को समिति ने अपनी रिपोर्ट में अधिकारियों के अमानुषिक कार्यों की घोर निन्दा की।

पंजाब की घटनाओं की जाँच पड़ताल का कोई विशेष परिणाम नहीं निकला। केवल जनरल डायर को नौकरी से अलग कर दिया गया, लेकिन पंजाब के गवर्नर तथा भारत के वायसराय के कार्यों की सराहना की गई। लार्ड सभा में जनरल डायर को माफ कर देने के लिए प्रस्ताव लाया गया, उसे ब्रिटिश साम्राज्य का शेर कहा गया और उसे 'प्रतिष्ठा की तलवार' तथा 2000 पौण्ड की भेंट दी गई। इससे भारतीयों के दिलों पर गहरा आघात पड़ा। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति रही-सही राजभक्ति जाती रही। भारतीय जनता अब ब्रिटिश सरकार में विश्वास तथा उससे न्याय की आशा करने के लायक नहीं रही। महात्मा गांधी पर इस घटना

का तत्काल प्रभाव पड़ा और वे कट्टर असहयोगी बन गए।

(xi) **खिलाफत आन्दोलनः** टर्की का सुल्तान संसार भर के मुसलमानों का खलीफा (धर्मगुरु) था। भारत के मुसलमानों की उसके प्रति अगाध श्रद्धा थी। प्रथम विश्वयुद्ध टर्की अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ा था। मुसलमानों का यह आशंका थी कि यदि टर्की युद्ध में हार गया तो उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएँगे और खलीफा की सारी शक्ति नष्ट कर दी जाएगी। अतः जब अंग्रेजों ने युद्ध काल में भारतीय मुसलमानों से सहयोग माँगा तो उन्होंने सहयोग करने में आनाकानी कर दी। युद्ध में भारतीय मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करना भी आवश्यक था। अतः ब्रिटिश प्रधानमंत्री लायड जार्ज ने भारतीय मुसलमानों को वचन दिया कि 'युद्ध की समाप्ति के पश्चात इंग्लैण्ड टर्की के विरुद्ध प्रतिरोध की नीति नहीं अपनाएगा और न ही टर्की साम्राज्य को छिन्न-भिन्न होने देगा। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री के आश्वासन पर भारतीय मुसलमानों ने ब्रिटिश सरकार को हर प्रकार की सहायता की। युद्ध में टर्की हार गया तो अंग्रेज अपने वायदे से मुकर गए। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् ब्रिटेन ने भारतीय मुसलमानों को दिए गए वचन की परवाह किए बिना टर्की साम्राज्य का विघटन करने का निश्चय किया। ब्रिटेन के इस विश्वासघात से भारतीय मुसलमानों में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध भारी असन्तोष उत्पन्न हो गया।

गांधीजी ने इस अवसर को हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए सुनहरा अवसर समझा। अतः उन्होंने खिलाफत के प्रश्न पर मुसलमानों में पूर्ण सहानुभूति दिखाई और अंग्रेज सरकार के विश्वासघात का विरोध किया। 24 नवम्बर 1919 ई० दिल्ली में 'अखिल भारतीय खिलाफत सम्मेलन' हुआ, इसकी अध्यक्षता महात्मा गांधी ने की। इस अवसर पर गांधी जी ने हिन्दुओं से कहा कि वे मुसलमानों की सहायतार्थ खिलाफत सम्बन्धी अहिंसात्मक आन्दोलन में सम्मिलित हो जाएं।

गांधी जी ने खिलाफत आन्दोलन का समर्थन इसलिए किया था क्योंकि उनकी द ष्टि में टर्की के प्रति अंग्रेजों की नीति विश्वासघात की थी। इसके अतिरिक्त सहयोग आन्दोलन में मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के लिए उनकी माँगों का समर्थन करना जरूरी था। यही कारण था कि मुसलमानों ने भी गांधी जी के असहयोग आन्दोलन का समर्थन किया था।

गांधी जी की सलाह पर 19 फरवरी 1920 ई० को डा० अन्सारी के नेत त्व में एक प्रतिनिधि मण्डल वायसराय से मिलने हेतु इंग्लैण्ड गया, किन्तु उसे अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली। इसके बाद मार्च 1920 ई० में मौलाना शौकतअली और मुहम्मदअली के नेत त्व में एक शिष्ट मण्डल इंग्लैण्ड गया। यद्यपि इस शिष्टमण्डल को भारत मन्त्री लार्ड मान्टेग्यू का समर्थन प्राप्त था, परन्तु उसको भी सफलता नहीं मिली। शिष्ट मण्डल निराश होकर भारत लौट आया।

ब्रिटिश सरकार ने भारत की खिलाफत समिति की माँग की ओर ध्यान नहीं दिया और 30 अगस्त 1920 ई० को 'सेवर्स की सन्धि' पर हस्ताक्षर कर दिए जिसके अनुसार टर्की का विभाजन कर दिया गया। उसके थ्रेस और एशिया माईनर के सम द्ध प्रदेश छीन लिए गए। टर्की के अरब, इराक, सीरिया तथा मिश्र आदि क्षेत्रों को ब्रिटेन तथा फ्राँस द्वारा आपस में बाँट लिया गया, और उसके कुछ प्रदेश को स्वतन्त्र राज्य बना दिया गया। टर्की के सुल्तान को बन्दी बनाकर कस्तुतुनियाँ में भेज दिया गया। ब्रिटेन के इस विश्वासघात से भारतीय मुसलमानों की भावना को गहरी ठेस पहुँची अतः उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध एक आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया जिसे खिलाफत आन्दोलन कहते हैं। खिलाफत समर्थकों की माँग थी कि

''टर्की साम्राज्य का संधारण किया जाए तथा ऐहिक और आध्यात्मिक संस्था के रूप में खिलाफत का अस्तित्व बना रहे।'' इस आन्दोलन के प्रमुख नेताओं शौकत अली, मुहमद अली और अब्दुल कलाम आजाद ने सारे देश में खिलाफत कमेटियाँ स्थापित की और इसे लोकप्रिय बनाने का काम जोर-शोर से शुरू कर दिया। गांधी जी ने इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए देश का दौरा किया। उन्होंने हिन्दुओं को इसे सहयोग देने का परामर्श दियां इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से हिन्दू खिलाफत कमेटियों के सदस्य बन गए और धन से भी मुसलमानों की सहायता की। इधर बहुत से मुसलमान भी कांग्रेस के सदस्य बन गए। दोनों सम्प्रदायों ने महात्मा गांधी को अपना नेता मान लिया। गांधी जी ने खिलाफत समिति को ब्रिटिश सरकार के प्रति असहयोग की नीति अपनाने की सलाह दी। समिति ने इस सलाह को स्वीकार कर लिया। उसने इसे कार्यरूप देने का निश्चय किया। डा० राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है ''मौलाना लोगों ने भी धार्मिक रीति से इसका जोरों से समर्थन किया और फतवा निकाला, जिसके द्वारा सरकार के साथ किसी के सहयोग को हराम ठहराया गया।''

महात्मा गांधी ने अगस्त 1920 ई० में भारत के वायसराय को पत्र लिखा, ''पिछले महीने जो घटनाएं घटी हैं उनसे मेरी यह धारणा पुष्ट हुई है कि खिलाफत के मामले में साम्राज्य की सरकार का रवैया बहुत अनैतिक, असंगत और अन्यायपूर्ण रहा है और अपनी अनैतिकता को छुपाने के लिए सरकार ने एक गलती के बाद दूसरी गलती की और बढ़ती रही। ऐसी सरकार के लिए मेरे पास न आदर शेष रह सकता है और न स्नेह। महामहिम द्वारा सरकारी अपराधों की अवहेलना, सर माईकल ओ-डायर को दोषमुक्त करना, मॉण्टेग्यू का प्रेषण तथा सबसे अधिक पंजाब की घटनाओं से अनभिज्ञता और हाउस आफ लार्डस द्वारा भारतीयों की भावना के कठोर अनादर से मेरा मन साम्राज्य के भविष्य के बारे में घोर सन्देहों से भर गया है। वर्तमान सरकार से पूरी तरह मैं विलग हो गया हूँ और मेरे लिए अब यह सब पूर्ण सहयोग देना असम्भव हो गया, जो मैं अब बार-बार देता रहा था।....... मैं समझता हूँ कि मेरा आचरण सत्य के विरुद्ध होगा। यदि मैं सरकार को राक्षसी सरकार न कहूँ जो धोखाधड़ी, हत्या और घोर क्रूरता की अपराधी हो और जो फिर पश्चाताप करने की बजाए अपने पापों को छिपाने के लिए अधिकाधिक असत्य का सहारा लेती जा रही हो।''

निष्कर्ष: इस प्रकार रोलट एक्ट, जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड, हण्टर कमेटी की रिपोर्ट और खिलाफत आन्दोलन के कारण महात्मा गांधी सहयोगी से असहयोगी बन गए। इन्हीं कारणों का महात्मा गांधी ने 1922 ई० में ब्रह्म फोल्ड के न्यायालय में इस प्रकार वर्णन किया था, ''मुझे सर्वप्रथम आघात रोलट एक्ट से लगा जिसका निर्माण जनता की स्वतन्त्रता का अपहरण करने के लिए किया गया था। मुझे अपनी अन्तरात्मा की ओर से प्रेरणा मिली कि इसके विरुद्ध तीव्र आन्दोलन चलाना चाहिए। इसके उपरान्त मेरे सामने पंजाब के अत्याचार आए, जो जलियाँवाला बाग के कत्लेआम के साथ प्रारम्भ हुए थे और पेट के बल चलने के आदेशों, खुलेआम कोड़े लगाए जाने तथा इसी प्रकार की अन्य अवर्णनीय अपमान और तिरस्कारों के साथ समाप्त हुए, मैंने यह भी अनुभव किया कि ब्रिटिश प्रधानमंत्री द्वारा टर्की की स्वाधीनता और इस्लाम के स्थानों की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में दिए गए आश्वासन कदाचित कभी पूर्ण नहीं होंगे। परन्तु मित्रों की भविष्यवाणी और डरावनी चेतावनी के बावजूद, 1919 की अम तसर कांग्रेस में सरकार से सहयोग करने तथा मयण्ट फोर्ड सुधारों को क्रियान्वित करने के लिए लड़ा। केवल इस आशा से कि ब्रिटिश प्रधानमन्त्री भारतीय मुसलमानों से की गई अपनी प्रतिज्ञा को शीघ्र पूरा करेंगे, पंजाब के घाव भर जाएँगे और सुधार चाहे वे कितने ही अपूर्ण तथा असन्तोषजनक क्यों न हों। भारतीय जीवन में आशा का एक नया युग प्रारम्भ करेंगे। मगर यह आशा पूरी न हो सकी। खिलाफत की प्रतिज्ञा के पूरी होने की कोई आशा नहीं थी। पंजाब के

अपराधों पर लीपा-पोती की गई, अधिकाँश अपराधियों को दण्डित भी न किया गया, वे अपने पदों पर पूर्ववत बने रहे, कुछ भारतीय कोष से पेन्शन लेते रहे और कुछ को तो पुरस्क त भी किया गया। मैंने यह भी अनुभव किया कि सुधारों ने केवल हृदय परिवर्तन ही नहीं किया वरन् वे भारत के आर्थिक शोषण तथा दासता को स्थाई रखने के साधन तथा उपाय थे।''

असहयोग आन्दोलन (1920-22)

कांग्रेस का कलकत्ता अधिवेशन (सितम्बर 1920): 1920 के मध्य तक यह स्पष्ट हो गया कि पंजाब के अत्याचारों पर हिन्दू और टर्की की समस्या पर मुसलमान अंग्रेजी शासन के तीव्र विरोधी हो गए हैं। अतः गांधी जी ने सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन चलाने का निश्चय किया। असहयोग आन्दोलन के कार्यक्रम पर विचार करने के लिए सितम्बर 1920 में कलकत्ता में कांग्रेस महासमिति का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया। जिसकी अध्यक्षता लाला लाजपतराय ने की। प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए महात्मा गांधी ने कहा, ''अंग्रेजी सरकार शैतान है, जिसके साथ सहयोग सम्भव नहीं। बिना स्वराज्य के पंजाब तथा खिलाफत की भूलों की पुनराव ति को नहीं रोका जा सकता। अंग्रेज सरकार को अपनी भूलों पर कोई दुख नहीं है, अतः हम कैसे स्वीकार कर सकते हैं कि नवीन व्यवस्थापिकाएँ हमारे स्वराज्य का मार्ग प्रशस्त करेंगी, स्वराज्य की प्राप्ति के लिए हमारे द्वारा प्रगतिशील, अहिंसात्मक सहयोग की नीति अपनाई जानी चाहिए।'' प्रस्ताव में आगे कहा गया, ''ब्रिटिश सरकार ने खिलाफत के बारे में दिए गए वचनों का पालन नहीं किया और न केवल पंजाब के निर्दोष लोगों की अत्याचारी अधिकारियों से रक्षा की, बल्कि उनकी बर्बरतापूर्ण कार्यवाहियों को भी क्षमा कर दिया। इसलिए इस कांग्रेस का यह विचार है कि कांग्रेस भारत में तब तक कोई सन्तोष नहीं हो सकता, जब तक कि ए दोनों गलतियाँ ठीक न कर दी जाए और भविष्य में ऐसी गलती की पुनराव त्ति को रोकने तथा राष्ट्रीय सम्मान को प्रदर्शित करने के लिए केवल सबसे प्रभावशाली तरीका यही है कि स्वराज्य की स्थापना की जाए।'' प्रस्ताव में आगे कहा गया है, ''भारत के लोगों के पास अब इसके सिवाय कोई चारा नहीं रहा कि वे महात्मा गांधी द्वारा बताए हुए प्रगतिशील अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन को स्वीकार करे और तब तक चलाए, जब तक कि ऊपर कही हुई गलतियाँ ठीक न हो जाएँ और स्वराज की स्थापना न हो जाए।''

महात्मा गांधी के इस प्रस्ताव का उदारवादियों और कुछ दूसरे प्रमुख नेताओं द्वारा विरोध किया गया क्योंकि वे नितान्त संवैधानिक मार्गों को ही उचित समझते थे। श्रीमती एनी बेसेन्ट का कहना था, ''यह प्रस्ताव भारतीय स्वतन्त्रता का सबसे बड़ा धक्का, एक मूर्खतापूर्ण विरोध तथा समाज और सभ्य जीवन के विरुद्ध संघर्ष की घोषणा था।'' सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी ने भी कहा था, ''असहयोग आन्दोलन को राष्ट्रीय कार्यक्रम के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि जनता पारस्परिक हिंसा और घ णा के द्वारा आपस में ही सहयोग कर रही थी।'' पं० मदनमोहन मालवीय, श्रीमती ऐनी बेसेन्ट, देशबन्धु, चितरन्जनदास, बिपिनचन्द्रपाल, श्री जिन्ना, सर नारायण चन्दावरकर, शंकर नायर आदि इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे और लाला लाजपतराय को भी इस प्रस्ताव से विशेष सहानुभूति नहीं थी। फिर भी मोतीलाल नेहरू और अली बन्धुओं ने गांधी के इस प्रस्ताव का जोरदार समर्थन किया, जिसके कारण यह प्रस्ताव बहुमत से पास हो गया। इसके बाद गांधी जी ने देश का भ्रमण कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया और जनता में नई उत्तेजना का संचार किया।

गांधी जी का प्रस्तावः गांधी जी के जिस प्रस्ताव द्वारा असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया गया, उसका सार इस प्रकार है-

''क्योंकि खिलाफत के प्रश्न पर भारत तथा ब्रिटेन दोनों देशों की सरकारें भारत के मुसलमानों के प्रति अपना फर्ज निभाने में पूर्णतया असफल रही हैं और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने जान बूझकर उन्हें दिए हुए

वायदे को तोड़ा है और क्योंकि गैर मुस्लिम भारतीय का फर्ज है कि वह अपने मुसलमान भाई पर आई धार्मिक विपत्ति को दूर करने में प्रत्येक उचित उपाय से सहायता करे।''

''और क्योंकि अप्रैल 1919 की घटनाओं के मामले में उक्त दोनों सरकारों ने पंजाब की बेकसूर जनता की रक्षा करने में और उन अधिकारियों को सजा देने में, जो पंजाब की जनता के प्रति असभ्य तथा सैनिक धर्म के विरुद्ध आचरण करने के दोषी ठहरे हैं, घोर लापरवाही की है, इसलिए इस कांग्रेस की यह राय है कि जब तक उक्त भूलों का सुधार न हो जाए और स्वराज्य की स्थापना न हो जाए, भारतवासियों के लिए इसके सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है कि वे गांधी जी द्वारा संचालित क्रमिक अहिंसात्मक असहयोग की नीति को स्वीकार करे और अपनाए।''

''और क्योंकि इसका प्रारम्भ उन लोगों को ही करना चाहिए, जिन्होंने अब तक लोकमत को नहीं बनाया है, और क्योंकि सरकार अपनी शक्तियों का संगठन लोगों की दी हुई उपाधियों और सम्मान से, सरकार द्वारा नियंत्रित स्कूलों में तथा अपनी अदालतों और परिषदों द्वारा करती है और चूँकि आन्दोलन चलाने के लिए यह वाँछनीय है कि कम से कम खतरा रहे और अभीष्ट उद्देश्य की सिद्धि के लिए आवश्यक त्याग कराया जाए, यह कांग्रेस आग्रहपूर्ण परामर्श देती है कि-

(1) सरकारी नौकरियाँ, अवैतनिक सरकारी पदों तथा सरकारी उपाधियों का त्याग कर दिया जाए और म्यूनिसिपल बोर्ड एवं अन्य स्थानीय समस्याओं में जो लोग नामजद हुए हों, वे त्याग पत्र दे दें।

(2) सरकार आदि द्वारा किए जानेवाले सरकारी तथा अर्द्धसरकारी उत्सवों में भाग लेने से इन्कार कर दिया जाए।

(3) सरकारी तथा अर्द्धसरकारी स्कूलों तथा कालेजों से छात्रों को धीरे-धीरे निकाल लिया जाए और उनके स्थान पर भिन्न-भिन्न प्रान्तों राष्ट्रीय स्कूल तथा कालेजों की स्थापना की जाए।

(4) वकीलों तथा मुवक्किलों द्वारा ब्रिटिश अदालतों का धीरे-धीरे बहिष्कार किया जाए और आपसी झगड़ों को तय करने के लिए पंचायती अदालतों की स्थापना की जाए।

(5) असैनिक क्लर्क तथा मजदूरी करनेवाले लोग मेसोपोटामिया में नौकरी करने के लिए भर्ती होने से इन्कार करें।

(6) नई परिषदों के लिए खड़े उम्मीदवार अपना नाम वापस ले लें और मतदाता अपने मतों का प्रयोग न करें।

(7) विदेशी माल का बहिष्कार किया जाए।

''और चूँकि असहयोग को अनुशासन तथा आत्मत्याग के साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसके बिना कोई भी राष्ट्र सच्ची उन्नति नहीं कर सकता, और क्योंकि असहयोग के पहले दौर में ही हर स्त्री-पुरुष व बालक को इस प्रकार के अनुशासन व आत्मत्याग का अवसर मिलना चाहिए, यह कांग्रेस सलाह देती है कि एक बड़े पैमाने पर स्वदेशी वस्त्रों को अपनाया जाए और हर एक घर में हाथ की कताई तथा हाथ की बुनाई को पुनर्जीवित करके बड़े पैमाने पर वस्त्रों की उत्पत्ति को तुरन्त बढ़ाया जाए।''

कांग्रेस का नागपुर अधिवेशन (दिसम्बर 1920): कांग्रेस का नियमित अधिवेशन दिसम्बर 1920 ई० में नागपुर में हुआ, जिसमें अनुमानतः बीस हजार प्रतिनिधियों ने भाग लिया, इस अधिवेशन में गांधी जी के असहयोग प्रस्ताव को पुनः विचारार्थ रखा गया। प्रस्ताव भारी बहुमत से स्वीक त हुआ। सी. आर. दास तथा लाला लाजपत राय जैसे अन्य नेताओं ने अपना विरोध वापस ले लिया। असहयोग

प्रस्ताव के पारित होने से कांग्रेस के विधान में दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, प्रथम, अब तक कांग्रेस का लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासन की प्राप्ति था। परन्तु अब स्वराज्य प्राप्ति हो गया, जिसका अर्थ महात्मा गांधी के अनुसार यह था, ''इसका तात्पर्य यह हुआ कि आवश्यकता पड़ने पर ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है। इसके परिणामस्वरूप कांग्रेस के दोनों प्रकार की विचारधाराओं के लोग साम्राज्य के अन्तर्गत या उसके बाहर रहकर साम्राज्य प्राप्त करनेवालों को सन्तोष हुआ। द्वितीय, एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कांग्रेस सारे शान्तिपूर्ण और उचित उपायों को भविष्य में अपना सकेगी। इसके पहले कांग्रेस अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए केवल वैधानिक साधनों का प्रयोग ही कर सकती थी किन्तु अब वह अन्य साधनों का प्रयोग भी कर सकेगी। केवल शर्त यह है कि वे साधन शान्तिपूर्ण तथा उचित हों। अब कांग्रेस केवल स्वराज्य प्राप्ति के लिए प्रार्थना पत्र ही नहीं भेज सकती थी, बल्कि कर नहीं देने का आन्दोलन भी शुरू कर सकती थी। इस परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि उदारवादी और उग्रवादियों में मेल हो गया, इस प्रकार कांग्रेस में पुनः एकता स्थापित हो गई। जिन्ना, ऐनी बेसेन्ट तथा पाल कांग्रेस के इस कार्यक्रम से सहमत नहीं थे, इसलिए उन्होंने कांग्रेस को छोड़ दिया।

कांग्रेस और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में नागपुर अधिवेशन को विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस अधिवेशन में कांग्रेस ने एक नया द ष्टिकोण अपनाया, संवैधानिक साधनों का परित्याग किया तथा सरकार का सक्रिय विरोध करने का निश्चय किया। डा० पट्टाभि सीतारमैया के अनुसार ''नागपुर कांग्रेस अधिवेशन से वास्तव में भारत के इतिहास में एक नवीन युग का प्रादुर्भाव होता है। निर्बल, क्रोध और आग्रहपूर्ण प्रार्थनाओं का स्थान उत्तरदायित्व के एक नवीन भाव तथा स्वावलम्बन की एक नवीन भावना ने ले लिया। जनता ने अनुभव कर लिया कि यदि उसे स्वतन्त्र होना है तो इसके लिए उसे स्वयं प्रयास करना पड़ेगा।''

असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रमः कांग्रेस प्रस्ताव के अनुसार असहयोग आन्दोलन के निम्नलिखित प्रस्ताव निर्धारित किए गए-

(1) सरकारी उपाधियों तथा अवैतिक पदों का त्याग।

(2) सरकारी तथा सरकारी मान्यता प्राप्त स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार करना।

(3) सरकारी दरबारों, उत्सवों और स्वागत समारोह में सम्मिलित न होना।

(4) सरकारी अदालतों का बहिष्कार करना।

(5) विदेशी माल का बहिष्कार एवं स्वदेशी माल का प्रचार।

(6) मनोनीत सदस्य स्थानीय संस्थाओं से त्याग पत्र दे दें।

(7) 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत होनेवाले चुनावों का बहिष्कार।

(8) सैनिकों, क्लर्कों तथा मजदूरों द्वारा मेसोपोटामिया के लिए अपनी सेवाओं को अर्पित करने से इन्कार करना।

इन बहिष्कारों द्वारा गांधी जी सरकार के साथ पूर्ण असहयोग करके सरकारी तन्त्र को विफलकर देना चाहते थे। इस बहिष्कार के साथ-साथ गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन को सफल बनाने के लिए रचनात्मक कार्यक्रम भी अपनाया था, जिसकी मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित थी-

(1) शराब का बहिष्कार करना।

(2) हिन्दु मुस्लिम एकता व अहिंसा पर बल देना।

(3) बच्चों की शिक्षाओं के लिए राष्ट्रीय स्कूल तथा कालेजों की स्थापना करना।

(4) पारस्परिक झगड़ों को सुलझाने के लिए निजी पंचायतों की स्थापना करना।

(5) छुआछूत को दूर करना।

(6) स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग तथा खादी बुनने के लिए घर में चर्खा चलाना और सूत कातना।

(7) कांग्रेस के झण्डे के नीचे देश का संगठन।

(8) दमनकारी कानूनों की सविनय अवज्ञा।

(9) करो का न देना।

आन्दोलन की प्रगतिः असहयोग आन्दोलन का सूत्रपात गांधीजी ने 'केसर-ए-हिन्द' के पदक को वापस देकर किया। इसी प्रकार सेठ जमनालाल बजाज ने भी अपनी 'राय बहादुर' की उपाधि का परित्याग कर दिया। सैकड़ों व्यक्तियों ने देखते ही देखते अपनी उपाधियों तथा पद्वियों को छोड़ दिया। जगह-जगह असंख्य विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलों तथा कालेजों का बहिष्कार कर दिया। इन विद्यार्थियों के अध्ययन हेतु आन्दोलनकारी नेताओं द्वारा देश में कई राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गई, जिनमें बिहार विद्यापीठ, बंगाल के रानव विद्यापीठ, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ एवं मुस्लिम यूनिवर्सिटी अलीगढ़ आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। अनेकों वकीलों ने अपनी वकालत छोड़कर आन्दोलन में भाग लिया। इन वकीलों में बंगाल के देशबन्धु चितरन्जन दास, उत्तर प्रदेश के मोतीलाल नेहरू और जवाहरलाल नेहरू, पंजाब के लाला लाजपत राय, गुजरात के विट्ठलभाई पटेल, तथा वल्लभभाई पटेल, बिहार के राजेन्द्र प्रसाद, मद्रास के चक्रवर्ती राजगोपालाचारी एवं दिल्ली के आसफ अली मुख्य थे। सेठ जमनालाल बजाज ने असहयोग आन्दोलन में भाग लेनेवाले वकीलों की सहायता के लिए एक लाख रुपया प्रदान किया।

डा० अन्सारी, मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, शौकत अली व मुहम्मद अली आदि मुस्लिम नेताओं ने भी असहयोग में बढ़-चढ़कर भाग लिया। इस वातावरण में हिन्दु-मुस्लिम एकता को विशेष बल मिला। इस समय जैसी हिन्दू मुस्लिम एकता दिखाई दी, ऐसी कभी भी नहीं दिखाई दी थी। नेहरू ने लिखा है, ''सर्वत्र हिन्दू मुस्लिम जय का बोलबाला था।''

राष्ट्रवादियों ने व्यवस्थापिका सभाओं का बहिष्कार किया जो काफी सफल रहा। कोई भी कांग्रेसी विधानमण्डल के चुनाव में खड़ा नहीं हुआ और मतदान केन्द्रों पर बहुत कम लोग गए। इसका परिणाम यह हुआ कि जन-प्रतिनिधियों के स्थान पर व्यवस्थापिका सभाएँ सरकार के वफादारों से भर गईं। आन्दोलन के कार्यक्रम के अनुसार विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया। स्थान-स्थान पर विदेशी कपड़ों की होलियाँ जलाई गईं। स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने पर बल दिया गया, जिसमें हाथ की कताई तथा बुनाई को विशेष प्रोत्साहन मिला।

1921 में महात्मा गांधी के आहवान पर लोगों ने 'तिलक स्वराज फण्ड' में एक करोड़ से भी अधिक रुपया दिया। कांग्रेस द्वारा तीस लाख स्वयंसेवकों की सूची तैयार की गई और बीस हजार चरखे तैयार किए गए। लोगों ने पंचायती अदालतों की स्थापना की और उनके द्वारा अपने मुकदमों के फैसले करवाए। जब ड्यूक ऑफ कन्नौट 1919 के सुधारों का उद्घाटन करने के लिए भारत आए तो उनका सफलतापूर्वक बहिष्कार किया गया, हड़तालों से उसका स्वागत हुआ। आन्दोलन की इस प्रगति को देखकर लार्ड चेम्सफोर्ड ने कहा था, ''इस आन्दोलन से मैं घबरा गया हूँ, चक्कर में पड़ गया हूँ।''

सरकार का दमन चक्रः प्रारम्भ में असहयोग के आन्दोलन के प्रभाव को दूर करने के लिए सरकार ने स्थान-स्थान पर शान्ति सभाएँ स्थापित करने की चेष्टा की परन्तु इससे आन्दोलन की गति पर

कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सरकार की समझ में नहीं आ रहा था कि इस आन्दोलन का कैसे सामना किया जाए। आन्दोलन को निरन्तर प्रगति की ओर बढ़ता देखकर सरकार ने क्रूर दमन चक्र का आश्रय लेना प्रारम्भ कर दिया। स्थानीय अधिकारियों को बिना किसी हिचकिचाहट के दमन का आदेश दिया गया। सरकार ने राजद्रोह सभा अधिनियम का खुलकर प्रयोग किया तथा आन्दोलन के नेताओं को गिरफ्तार करना प्रारम्भ कर दिया।

देशबन्धु चितरन्जनदास को मेमनसिंह में एक सभा में भाषण देने से रोक दिया गया। इसी प्रकार डा० राजेन्द्र प्रसाद के आगरा में एवं लाला लाजपत राय के पेशावर में प्रवेश करने पर रोक लगा दी गई। कुछ स्थानों पर सरकार ने आवश्यकता से अधिक दमन चक्र चलाया जिससे हिंसात्मक घटनाएँ घटित हुईं। इस प्रकार की घटनाओं में ननकाना काण्ड विशेषरूप से उल्लेखनीय है। 4 मार्च 1921 को गुरुद्वारा में कुछ लोग एकत्रित हुए। सभी की कार्यवाही शान्तिपूर्ण तरीके से चल रही थी कि उन पर अंग्रेज सैनिकों द्वारा गोलियाँ चलाई गई। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार इस दुर्घटना में सत्तर व्यक्ति मारे गए। इस समय अली बन्धुओं ने ऐसे ओजपूर्ण भाषण दिए, जिनसे हिंसा को प्रोत्साहन मिलता था। इस समय अप्रैल 1921 ई० की गांधी रीडिंग (भारत के वायसराय) भेंट के बाद अली बन्धुओं ने यह बयान दिया कि वे भविष्य में ऐसे भाषण नहीं देंगे, जिनसे कि हिंसा को प्रोत्साहन मिलता हो।

1921 में प्रिंस आफ वेल्स भारत आनेवाले थे। उस समय लार्ड रीडिंग शान्ति स्थापित करने के इच्छुक थे। इसलिए उन्होंने पं० मदनमोहन मालवीय की मध्यस्थता से कांग्रेस से बातचीत की। लेकिन असहयोग आन्दोलन तीव्र गति से बढ़ता जा रहा था, इस कारण 1921 में स्वदेशी वस्त्रों के बहिष्कार आन्दोलन में तीव्रता आ गई। सरकार अपने वायदे से मुकर गई और अली बन्धुओं को बन्दी बना लिया गया। सरकार ने गांधी जी से समझौता करना चाहा, लेकिन उन्होंने कहा कि जब तक अली बन्धुओं को मुक्त नहीं कर दिया जाता, तब तक कोई समझौता नहीं हो सकता। समझौता असफल होने पर कांग्रेस ने यह निर्णय लिया कि 'प्रिंस आफ वेल्स' के आगमन पर सारे देश में हड़ताल रखी जाएगी। लार्ड रीडिंग ने पुनः समझौते की बातचीत की। सरकार ने सत्याग्रहियों को रिहा करना स्वीकार कर लिया लेकिन अली बन्धुओं की रिहाई के प्रश्न पर वार्ता भंग हो गई। अतः कांग्रेस ने प्रिंस आफ वेल्स के बहिष्कार का निर्णय किया।

17 नवम्बर 1921 ई० को जब प्रिंस आफ वेल्स बम्बई में उतरे तो उनका स्वागत बहिष्कार से किया गया और उस दिन बम्बई में पूर्ण हड़ताल रही, दुकानें और बाजार बंद हो गए, शहर चारों ओर से सूनसान नजर आने लगा। अन्य स्थानों पर भी युवराज जहाँ-जहाँ गए, जीवनहीन नगरों ने उनका स्वागत किया और अनेक विदेशियों को उस दिन विवश होकर व्रत रखना पड़ा। क्योंकि होटल और नौकर भी हड़ताल पर थे। इस समय बम्बई में प्रिंस आफ वेल्स का स्वागत करनेवालों और बहिष्कार करनेवालों के बीच कुछ झगड़ा हो गया और दोनों तरफ से हिंसात्मक साधनों का आश्रय लिया गया। महात्मा गांधी ने हिंसात्मक साधनों की घोर निन्दा की और प्रायश्चित्त के रूप में पाँच दिन का उपवास किया।

युवराज के अपमान से क्रुद्ध होकर सरकार ने दमन नीति को अपनाया। कांग्रेस दल और खिलाफत कमेटी को गैर कानूनी संस्थाएं घोषित कर दिया गया और उन पर बड़ी सख्तियाँ की गई। सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। दिसम्बर 1921 ई० तक चितरन्जनदास, मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, मौलाना आजाद और गांधी जी को छोड़कर प्रायः सभी कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। इस समय गिरफ्तार नेताओं की संख्या 60 हजार थी। जगह-जगह मारपीट, लाठी चार्ज और गोलीकाण्ड सरकार के लिए रोजमर्रा की घटनाएँ हो गईं। इतना होने पर भी जनता का उत्साह कम नहीं हुआ और आन्दोलन तीव्र गति से फैलता गया। डा० राजेन्द्र प्रसाद लिखते हैं, ''जब से भारत का ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध स्थापित हुआ था, इसके इतिहास में जनता का क्षोभ और उत्साह इस सीमा

तक पहले कभी नहीं पहुँचा था।'' जनता के उत्साह के बारे में पं० जवाहरलाल ने लिखा है, ''किशोर और नवयुवक पुलिस की गाड़ियों में जा बैठते और उतरने से इन्कार कर देते। पुलिस और जेल अधिकारी इन असाधारण घटनाओं से चकित और किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे।''

कांग्रेस का अहमदाबाद अधिवेशन (दिसम्बर 1921): सरकार द्वारा चलाए गए दमन चक्र, मुख्य नेताओं की गिरफ्तारी एवं जनता के अदम्य साहस के इस वातावरण में दिसम्बर 1921 ई० में अहमदाबाद में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में कांग्रेस ने असहयोग आन्दोलन को तेज करने एवं सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाने का निश्चय किया। इस हेतु महात्मा गांधी को कार्यकारी अधिकारी नियुक्त किया गया।

जनवरी 1922 ई० में कांग्रेस और सरकार के बीच समझौते के लिए सर्वदलिय सम्मेलन के रूप में प्रयत्न किया गया, लेकिन इसमें सफलता नहीं मिली। पहली फरवरी 1922 को महात्मा गांधी ने भारत के गवर्नर जनरल लार्ड रीडिंग को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने सरकार की कठोर दमन नीति की निन्दा की और उसे यह चेतावनी दी कि यदि सात दिन में अपनी दमन नीति का परित्याग कर हृदय परिवर्तन न किया तो वे इस अवधि के बाद 'कर नहीं दो आन्दोलन' प्रारम्भ कर देंगे। इसी बीच बारदौली और गन्तुर में इस आन्दोलन की पूरी तैयारी भी की जा चुकी थी लेकिन सात दिन की अवधि के समाप्त होने से पूर्व ही 5 फरवरी 1922 को एक ऐसी घटना हुई जिसमें सम्पूर्ण राजनीतिक स्थिति को परिवर्तित कर दिया।

चौरी चौरा घटना और आन्दोलन का स्थगन: गांधी जी द्वारा दिया गया सात दिन का समय बीतने भी नहीं पाया था कि गोरखपुर जिले में चौरी चौरा नामक स्थान पर एक ऐसी भयंकर दुर्घटना हो गई जिसने सम्पूर्ण स्थिति को बदल दिया। 5 फरवरी 1922 ई० को चौरी चौरा ग्राम में कांग्रेस की ओर से तीन हजार लोगों का एक विशाल जुलूस निकाला गया। पुलिस ने जुलूस को रोकने की कोशिश की, जिससे जनता और पुलिस में मुठभेड़ हो गई। उत्तेजित भीड़ ने पुलिस चौकी को आग लगा दी जिसमें एक थानेदार तथा 21 सिपाही आग में जलकर मर गए। गांधीजी इससे पूर्व मद्रास में ऐसी घटना होने से पहले ही खिन्न थे। इस घटना के समाचारों से उन्हें बहुत दुख हुआ। उन्होंने यह अनुभव किया कि आन्दोलन हिंसात्मक रूप ले रहा है। अतः उन्होंने 11 फरवरी 1922 ई० को बारदौली में आन्दोलन स्थगित करने की घोषणा की और रचनात्मक कार्यक्रम पर बल दिया। डा० पट्टाभिसीतारमैया के शब्दों में रचनात्मक कार्यक्रम, ''जिसमें कांग्रेस के लिए एक करोड़ सदस्य भरती करना, चर्खे का प्रचार, राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना, मादक द्रव्य निषेध, पंचायतें संगठित करना आदि शामिल थे।'' इस प्रकार गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन को समाप्त कर दिया।

आन्दोलन के स्थगन पर प्रतिक्रियाएँ: महात्मा गांधी द्वारा आकस्मिक रूप से आन्दोलन को स्थगित करने का जो निर्णय लिया गया, उसकी देश के प्राय सभी नेताओं ने कड़ी आलोचना की। मोतीलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, लाला लाजपत राय, अली बन्धु और चितरन्जन दास जैसे नेताओं ने भी गांध ी जी द्वारा जल्दबाजी में लिए गए इस निर्णय के प्रति असन्तोष प्रकट किया। लाला लाजपत राय और मोतीलाल नेहरू ने जेल से ही गांधी जी को लम्बे पत्र लिखे, इसमें उन्होंने गांधी जी को 'किसी एक स्थान के पाप के कारण सारे देश को दण्ड देने के लिए आड़े हाथों लिया।' सुभाष चन्द्र बोस जो स्वयं में थे, ने इस निर्णय पर अपनी भावना को व्यक्त करते हुए कहा, ''ठीक उस समय जबकि जनता का उत्साह चरमोत्कर्ष पर था, वापस लौटने का आदेश देना राष्ट्रीय दुर्भाग्य से कम न था।'' सुभाष चन्द्र बोस ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन स्ट्रगल' में देशबन्धु चितरन्जन दास को यह कहते हुए उद्धत किया है, ''महात्माजी किसी अभियान का आरम्भ बड़े शानदार ढंग से करते हैं, उसे निपुणतापूर्वक आगे बढ़ाते हैं, उन्हें एक के बाद एक सफलता मिलती जाती है यहाँ तक कि वे अपने

अभियान के चरम शिखर पर पहुँच जाते हैं, लेकिन तब उनकी हिम्मत छूट जाती है और वे लड़खड़ाने लगते हैं।''

कांग्रेस के साधारण कार्यकर्ताओं ने भी गांधी जी के इस निर्णय को राष्ट्रीय अपमान समझा और इसी कारण जब 24 फरवरी को दिल्ली की कांग्रेस की विषय समिति की बैठक हुई तो डा० भुजे तथा जे. एम. सेनगुप्त ने गांधी के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पेश किया। इस समय कुछ कांग्रेसी कार्यकर्ताओं ने गांधी जी की आलोचना करते हुए उनके विरुद्ध भाषण भी दिए। मुसलमानों पर भी इस निर्णय का विपरीत प्रभाव पड़ा। श्री पोलक ने इस सम्बन्ध में लिखा है, ''इसके बाद वे कांग्रेस से खिंचते चले गए और एक बार फिर उस विश्वास और बन्धुत्व की प्रतिष्ठा करना असम्भव हो गया, जो अल्पकाल में इन दोनों जातियों के बीच देखी गई थी।''

गांधी जी अहिंसात्मक तरीके से असहयोग आन्दोलन चलाना चाहते थे, परन्तु जब इसने हिंसात्मक रूप धारण कर लिया तो उन्होंने उसे समाप्त कर दिया। उनका यह कदम सही था, जनता नियंत्रण के बाहर हो रही थी। हिंसात्मक घटनाएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी। गांधी जी का यह मानना था कि यदि इसी तरह हिंसात्मक घटनाएँ घटित होती रही तो सरकार का दमन चक्र और भी तेज हो जाएगा जिसमें खून खराबा होगा और जनता में आतंक फैल जाएगा। जनता सरकार के आतंक को सहन नहीं कर सकेगी। इन समस्त बातों को ध्यान में रखते हुए गांधीजी ने आन्दोलन को समाप्त करने का आदेश दिया। यद्यपि क्षणिक आवेश में गांधी जी के उक्त निर्णय का सर्वत्र विरोध हुआ परन्तु बाद में कुछ नेताओं ने गांधी जी के उक्त निर्णय के औचित्य को स्वीकार भी किया। उनमें जवाहर लाल नेहरू का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पं० नेहरू ने इस सम्बन्ध में लिखा है, ''आन्दोलन केवल चौरी-चौरा के कारण स्थगित नहीं किया गया, वरन् वास्तविकता यह थी कि हालाँकि बाहर से आन्दोलन शक्तिशाली दिखाई देता था और वह बड़ी प्रगति कर रहा था, परन्तु आन्दोलन अन्दर से छिन्न-भिन्न हो रहा था। यदि आन्दोलन स्थगित नहीं किया जाता तो शासन के द्वारा खूनी पद्धति से आन्दोलन का अन्त कर दिया जाता और आतंक का ऐसा राज स्थापित हो जाता जो जनता के उत्साह को समाप्त ही कर देता।''

कारण जो भी हो किंतु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि गांधी का यह निर्णय दुर्भाग्यपूर्ण था, इसने जनता को किंकर्तव्यविमूढ़ कर दिया। इस निर्णय से गांधी जी की लोकप्रियता बहुत घट गई। डा० आर.सी. मजूमदार लिखते हैं, ''गांधी जी का असहयोग आन्दोलन को इस प्रकार स्थगित करना भारी भूल थी। इससे राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति को एक गहरी चोट लगी। यदि उनमें इस बात का अनुमान लगाने की भी दूरदर्शिता न थी कि इतने बड़े देश में आन्दोलन के समय हिंसात्मक घटना घट जाती है, तो वे निश्चय ही मानवीय चरित्र के अच्छे पारखी न थे। या तो उन्हें इस बात का विश्वास कर लेने के बाद कि तीस करोड़ भारतीय उनके और उनके सिद्धान्तों के सच्चे अनुयायी हैं, आन्दोलन शुरू करना चाहिए था, या शुरू कर लेने के बाद एक हिंसात्मक घटना के कारण चाहे वह कितनी बुरी क्यों न थी, आन्दोलन स्थगित नहीं करना चाहिए था।''

गांधीजी की गिरफ्तारीः आन्दोलन स्थगित किए जाने के कारण गांधी जी को चारों ओर से विरोध का सामना करना पड़ा। जनता में उनकी लोकप्रियता कम हो गई। सरकार ने इसे सुनहरा अवसर समझा और मार्च 1922 ई० में महात्मा गांधी को गिरफ्तार कर लिया। 18 मार्च 1922 ई० को सत्र न्यायाधीश ब्रम्सफील्ड की अदालत में उन पर यंग इण्डिया में प्रकाशित लेखों के आधार पर मुकद्दमा चलाया गया। न्यायाधीश ने तिलक का द ष्टान्त देते हुए शासन के विरुद्ध जनता में असन्तोष फैलाने के अपराध में गांधी जी को छः वर्ष के कारावास का दण्ड दिया। सरकार के इस कार्य पर टिप्पणी करते हुए सी.एफ. एंड्रूज ने लिखा, ''गांधी जी ने तो सत्याग्रह स्थगित कर अपनी महानता का परिचय

दिया। सरकार ने नीचे उतरकर आन्दोलन की गड़बड़ स्थिति का फायदा उठाकर ओछा और कायरतापूर्ण हमला कर दिया।'' 5 फरवरी 1924 को बीमारी के कारण गांधीजी को छः वर्ष पूरे होने से पहले ही छोड़ दिया।

आन्दोलन की दुर्बलताएँ: असहयोग आन्दोलन लगभग एक वर्ष चला और स्वराज्य प्राप्ति के उद्देश्य को पूरा किए बिना समाप्त हो गया। वस्तुतः इस आन्दोलन में अनेक दुर्बलताएँ विद्यमान थी, जिनकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है-

(1) असहयोग आन्दोलन द्वारा 1921 में होनेवाले विधानमंडलों के चुनाव का बहिष्कार किया गया। यह ठीक है कि कांग्रेस ने उनमें भाग नहीं लिया। परन्तु इसका कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, क्योंकि कांग्रेस की अनुपस्थिति में उदारवादी, अवसरवादी और राजभक्त लोग चुनाव जीतकर विधानसभाओं में पहुँच गए। फलतः कांग्रेस के देशभक्त नेता विधानमण्डलों में नहीं जा सके, इसलिए चुनाव के बहिष्कार से कांग्रेस को कोई फायदा नहीं हुआ।

(2) दूसरी सबसे बड़ी भूल यह थी कि महात्मा गांधी ने हिन्दू-मुस्लिम सहयोग को बढ़ाने के लिए राजनीति में धर्म का समावेश कर दिया। जिसका दूरगामी परिणाम हिन्दू-मुस्लिम तनाव के रूप में प्रकट हुआ। पोलक ने इस सम्बन्ध में लिखा है, ''खिलाफत आन्दोलन की बुनियाद गलत थी, इधर तो भारतीय मुसलमान इस्लामी थियोक्रेसी की पुरानी दुनिया की रूमानी परम्पराएँ पुनर्जीवित कर रहे थे। भारतीय मुसलमानों का विश्वास था कि वे टर्की के निवासियों के हित में ऐसा कर रहे हैं लेकिन टर्की के लोग इसका मजाक बनाते थे और इस मध्ययुगीन भोण्डापन कहते थे।''

कांग्रेस का असहयोग आन्दोलन विशुद्ध रूप से एक राजनीतिक आन्दोलन था, जिसका उद्देश्य भारत के लिए स्वराज प्राप्त करना था। इसके विपरीत मुसलमानों का खिलाफत आन्दोलन मूलतः एक धार्मिक आन्दोलन था, जिसका उद्देश्य टर्की के सुल्तान के सम्मान की रक्षा करना था। महात्मा गांधी ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने और हिन्दू-मुस्लिम एकता को पक्का करने के लिए खिलाफत प्रश्न को अपना समर्थन दिया था। यह प्रश्न ऐसा था जिसमें टर्की के मुसलमानों की भी कोई रुचि नहीं थी। अधिकाँश कांग्रेसी और गैर मुस्लिम जनता भी इसमें रुचि नहीं रखती थी। 1922 ई० में टर्की कमालपाशा के नेत त्व में एक धर्म निरपेक्ष राज्य बन गया। इसके साथ ही खिलाफत का अन्त कर खलीफा को देश से बाहर निकाल दिया गया। कमालपाशा को पुनजीर्वित करने के प्रश्न को मध्य युग का नारा कहा। इस प्रकार भारत में खिलाफत आन्दोलन की जड़ ही कट गई।

(3) कांग्रेस के सहयोग से खिलाफत की आड़ में मुसलमान असाधारण रूप से संगठित हो गए। मुसलमानों ने भविष्य में इसका साम्प्रदायिक लाभ उठाया। जब महात्मा गांधी ने एकदम असहयोग आन्दोलन को स्थगित कर दिया, तो मुस्लिम लीग ने यह प्रचार किया कि गांधी जी ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मुसलमानों को बेवकूफ बनाया। इससे मुसलमान हिन्दुओं के विरुद्ध हो गए। परिणामस्वरूप असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद देश में बड़े पैमाने पर हिन्दू मुस्लिम दंगे हुए। आर.सी. मजूमदार लिखते हैं, ''गांधीजी द्वारा हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए चुना गया आधार बहुत कमजोर था।''

(4) गांधीजी ने जिस विशाल पैमाने पर आन्दोलन चलाया था, इसके कारण छुट-पुट हिंसात्मक घटनाएँ घटित हुई थी। इसलिए गांधीजी को इस सबकी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेने की बजाय सरकार के ऊपर फेंकनी चाहिए थी। किन्तु ऐसा न कर गांधी जी ने आन्दोलन को ही वापस ले लिया, तो इसका भारतीयों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। सुभाष

चन्द्र बोस ने इस सम्बन्ध में लिखा है, ''एक वर्ष में स्वराज्य प्राप्त करने का वचन न केवल अविवेकपूर्ण, वरन् बालक सद श था।'' वी.पी. मेनन लिखते हैं, ''यदि गांधी जी द्वारा असहयोग आन्दोलन उस समय समाप्त नहीं कर दिया जाता, जबकि यह शासन के अत्यधिक चिन्ता का विषय बन रहा था, तो सम्भवतया सरकार भारतीय जनमत को संतुष्ट करने के लिए कोई कार्य करने को बाध्य हो जाती।''

(5) आन्दोलन को सहसा स्थगित कर देना अबुद्धिमत्तापूर्ण ही था। यदि यह आन्दोलन कुछ समय और चलता तो ब्रिटिश सरकार को कुछ न कुछ समझौता अवश्य करना पड़ता और कांग्रेस की माँगे माननी पड़ती। चूँकि गांधी जी ने बिना अपने सहयोगियों की सलाह के अचानक इस आन्दोलन को समाप्त कर दिया, इसलिए वे ब्रिटिश सरकार से न तो पंजाब की गलतियों को ठीक करवा सके और न ही एक वर्ष में स्वराज्य प्राप्त कर सके। परिणामस्वरूप जनता में निराशा छा गई और गांधीजी के सहयोगियों ने भी इस नीति की कटु आलोचना की, जिसके कारण गांधीजी की लोकप्रियता घट गई। सरकार ने इस अवसर का लाभ उठाकर उन्हें बन्दी बना लिया।

आन्दोलन का महत्त्वः यद्यपि असहयोग आन्दोलन जन साधारण की आशाओं को पूरा नहीं कर सका, तथापि इसने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

(1) इसने आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप प्रदान किया। इस आन्दोलन से पहले कांग्रेस का प्रभाव शिक्षित तथा मध्यम वर्ग के लोगों तक सीमित था। अब उसने जन आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। आन्दोलन का महत्त्व इस बात में भी निहित है कि इसके परिणामस्वरूप देश में राजनीतिक जाग ति उत्पन्न हो गई। अब स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए कांग्रेस केवल प्रार्थना पत्रों पर ही निर्भर रहने के लिए तैयार नहीं थी बल्कि प्रत्येक प्रकार का त्याग और बलिदान के लिए कटिबद्ध थी। सारांश यह है कि यह पहला जन आन्दोलन था जो राष्ट्रीय स्तर पर चलाया गया था। इस आन्दोलन में मजदूर, किसान तथा जन साधारण ने सक्रिय रूप से भाग लिया था।

(2) आन्दोलन के द्वारा लोगों को निर्भीकता प्रदान की गई। पहले जनता जेलों से बहुत डरती थी। सरकार की आलोचना करना सबसे बड़ा अपराध समझा जाता था। इस आन्दोलन का यह परिणाम निकला है कि जनता निर्भीक हो गई और उसके ह्रदय में सरकार का पहला सा भय न रहा। उसमें सरकार को ललकारने का उत्साह उत्पन्न हुआ। जेल भरना अब सबसे बड़ी देशभक्ति मानी जाती थी। अब सार्वजनिक सभाओं में सरकार की आलोचना करना साधारण सी बात हो गई थी और बच्चे-बच्चे की जबान से स्वराज्य का शब्द सुनाई देने लगा।

(3) इस आन्दोलन का एक लाभ यह हुआ कि तब तक आन्दोलन चलता रहा सरकार ने जनता से सहयोग प्राप्त करने का हर सम्भव प्रयास किया। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसने 1919 के सुधारों को उदारतापूर्ण कार्यान्वित किया। इसके अतिरिक्त उदारवादियों को हर प्रकार का सहयोग दिया।

(4) महात्मा गांधी ने आन्दोलनकारियों को सत्याग्रह के रूप में अहिंसा का अस्त्र प्रदान किया था, उसका सरकार के पास वास्तव में कोई उत्तर नहीं था। अब सरकार ने शांत सत्याग्रहियों पर लाठियाँ बरसाई अथवा गोलियाँ चलाई तो जन साधारण की सहानुभूति उनके साथ हो गई और ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध असन्तोष बढ़ा। वास्तव में महात्मा गांधी के सत्याग्रह ने ब्रिटिश सरकार की दमनकारी चक्र को कण्ठित कर दिया। यह कहना गलत न होगा कि

आन्दोलन से स्वराज्य निकट आया।

(5) असहयोग आन्दोलन के दौरान कांग्रेस ने जो रचनात्मक कार्यक्रम अपनाया जैसे खादी, चर्खा कातना, राष्ट्रीय शिक्षण संस्थानों का संचालन, विदेशी माल का बहिष्कार एवं स्वदेशी माल का प्रयोग। इससे भी जनता में अभूतपूर्व चेतना उत्पन्न हुई और देश को भारी लाभ हुआ। आन्दोलन के दौरान विदेशी माल का बहिष्कार किया गया। एक ओर इससे ब्रिटिश सरकार की आर्थिक शोषण की नीति में रुकावट पैदा हो गई, दूसरी ओर स्वदेशी माल के प्रयोग पर बल दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि हजारों बेरोजगार जुलाहों को काम मिला। राष्ट्रीय शिक्षण संस्थानों से देशभक्त उत्पन्न होने लगे, जिससे कांग्रेस को कार्यकर्ताओं की कमी महसूस नहीं हुई। सुभाषचन्द्र बोस ने आन्दोलन की सफलताओं के बारे में लिखा है, ''1921 के वर्ष ने देश को निसंदेह एक सुव्यवस्थित पार्टी संगठन प्रदान किया। इससे पूर्व कांग्रेस एक वैधानिक दल और वह भी मुख्यतया बात करने वाली संस्था थी। महात्माजी ने यह नया विधान दिया और देशव्यापी बनाया। इन्होंने इसके संगठन में अनेक परिवर्तन किए। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक एक जैसे नारे लगाए जाने लगे, एक जैसी नीति और एक जैसी विचारधारा हर जगह दिखाई देने लगी। अंग्रेजी भाषा का महत्त्व जाता रहा और कांग्रेस ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया। खादी अब कांग्रेसियों की नियमित पोशाक बन गई।

लार्ड चेम्सफोर्ड ने असहयोग आन्दोलन के बारे में कहा था कि यह एक मूर्खतापूर्ण योजना थी, परन्तु उपर्युक्त तर्कों के आधार पर हम कह सकते हैं कि लार्ड चेम्सफोर्ड का कथन बिल्कुल भी सही नहीं है।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930-31)

(Civil Disobedience Movement)

आन्दोलन के कारण: गांधी जी ने 1930 ई० में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया, जिसके प्रमुख कारण निम्नलिखित थे-

(1) ब्रिटिश सरकार ने नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। अतः भारतीयों के सामने संघर्ष के अलावा कोई अन्य विकल्प नहीं रह गया था।

(2) इस समय विश्व के दूसरे देशों के समान भारत भी आर्थिक मंदी का शिकार हुआ, जिसके कारण क षकों की दशा बहुत खराब हो गई थी। बढ़ती हुई कीमतों के कारण क षकों की दशा इतनी दयनीय हो गई थी कि वे कर या लगान चुकाने की स्थिति में नहीं थे।

(3) सरकारी नीति से औद्योगिक और व्यवसायिक वर्ग भी संतुष्ट थे। सरकार ने अंग्रेजों को लाभ पहुँचाने के लिए रूपए की कीमत सोलह पैसे बढ़ाकर अठारह पैसे कर दी। अतः इन वर्गों ने सरकार के विरुद्ध कांग्रेस द्वारा संचालित आन्दोलन में भाग लेना शुरू कर दिया।

(4) औद्योगिक क्षेत्र में कार्य कर रहे मजदूरों की दशा भी शासन की दमन नीति के कारण बहुत शोचनीय हो गई थी। कल-कारखानों में हड़ताल आम बात हो गई थी। सरकार ने 1929 में मजदूर संगठनों के सबसे अधिक प्रभावशाली 36 नेताओं को गिरफ्तार कर लिया था और उनको मेरठ जेल में बन्द करके उन पर केस चलाना शुरू कर दिया था। यह केस 'मेरठ षडयन्त्र' के नाम से प्रसिद्ध है। यह केस चार वर्ष तक चलता रहा, इसमें सोलह लाख रूपए खर्च हुए और 27 श्रमिक नेताओं को राजद्रोह के अपराध में सख्त कैद की सजा दी गई।

सरकार के इस कार्य से श्रमिक वर्ग के असंतोष में अत्यधिक व द्धि हुई।

(5) ब्रिटिश सरकार भारत को न तो पूर्ण स्वराज्य देना चाहती थी और न ही अधिराज्य स्थिति के संविधान बनाने के लिए गोलमेज सम्मेलन बुलाने के लिए तैयार थी। अतः कांग्रेस के पास पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के लिए सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं था।

(6) ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध किसानों ने बारदौली में एक सत्याग्रह किया, जिसका नेत त्व सरदार पटेल ने किया था। इस सत्याग्रह में उनको सफलता हाथ लगी थी। डा० राजेन्द्र प्रसाद लिखते हैं कि, ''लोगों में उन दिनों असाधारण उत्साह था। सभी जगहों पर सत्याग्रह की चर्चा हो रही थी, बारदौली में सत्याग्रह की विजय हाल ही में हो चुकी थी। इसलिए भारतीयों का उत्साह और अधिक बढ़ गया था और वे इस बात की प्रतीक्षा कर रहे थे कि कब और किस तरह सत्याग्रह का प्रारम्भ किया जाए।''

(7) 1930 के प्रारम्भ में चारों तरफ उत्तेजनापूर्ण वातावरण था। हिंसात्मक संघर्ष की सम्भावना अधिक हो गई थी। गांधी जी ने समय को पहचानते हुए अपने मित्र आर. रेलनाल्डस के माध्यम से वायसराय को एक पत्र लिखकर चेतावनी दी। पत्र में उन्होंने लिखा कि, ''हिन्सात्मक दल अपनी जड़ जमा रहा है और इसका प्रभाव बढ़ रहा है। उनके द्वारा आयोजित हिंसात्मक आन्दोलन न केवल ब्रिटिश शासन की हिंसात्मक शक्ति बल्कि बढ़ते हुए हिंसात्मक दल का भी सामना करेगा।'' पत्र के उत्तर में वायसराय ने सिर्फ इतना ही कहा था कि, ''मुझे दुख है कि गांधीजी वह रास्ता अख्तियार कर रहे हैं, जिसमें कानून और सार्वजनिक शान्ति भंग होना अनिवार्य है।'' गांधी जी ने इस जवाब के बाद कहा, ''मैंने घुटने टेककर रोटी मांगी थी, पर मुझे पत्थर मिला। ब्रिटिश राज्य केवल शक्ति को पहचानता है इसलिए मुझे वायसराय के उत्तर से आश्चर्य नहीं हुआ है। हमारे राष्ट्र के भाग्य में जेल की शांति ही एकमात्र शांति है। समस्त भारतवर्ष एक विशाल कारागार है। मैं इस कानून को नहीं मानता और उद्गार प्रकट करने में असहाय राष्ट्र ह्रदय को मसलने वाली इस लादी गई शांति को शोकमय एकरसता को भंग करना अपना पुनीत कर्तव्य मानता हूँ।''

आन्दोलन का आरम्भः फरवरी 1930 ई० में साबरमती में कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने एक प्रस्ताव पास कर महात्मा गांधी को सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने के सम्पूर्ण अधिकार दिए। प्रस्ताव में कहा गया कि, ''गांधीजी एक निश्चित तिथि पर अपने कुछ साथियों सहित साबरमती आश्रम से निकल पड़ेंगे। प्रायः एक महीना पैदल चलकर सूरत जिले के दाण्डी नामक ग्राम में समुद्र के किनारे पहुँचेंगे। वहाँ वे समुद्र के पानी से नमक तैयार करके नमक कानून को तोड़ेंगे और फिर उसके बाद उनका हुक्म मिलने पर शेष देशवासी नमक कानून तोड़ेंगे।''

महात्मा गांधी ने आन्दोलन करने से पूर्व अपने साप्ताहिक पत्र 'यंग इण्डिया' में एक लेख प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने वायसराय को अपनी ग्यारह माँगे बताई और आश्वासन दिया कि यदि सरकार उन्हें स्वीकार कर लेगी तो सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ नहीं किया जाएगा। वे ग्यारह माँगे निम्नलिखित हैं-

(1) सम्पूर्ण मदिरा निषेध।

(2) मुद्रा विनियम की दर में कमी कर एक शिलिंग चार पैसे के बराबर माना जाए।

(3) मालगुजारी को आधा कर दिया जाए और उसे विधानमण्डल के नियन्त्रण में रखा जाए।

(4) नमक कर को समाप्त कर दिया जाए।

(5) सैनिक व्यय में कम से कम पचास प्रतिशत कमी हो।

(6) बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियों का वेतन आधा कर दिया जाए।

(7) विदेशी वस्तुओं पर तटकर लगाया जाए, ताकि देशी उद्योग का संरक्षण हो।

(8) भारतीय समुद्र तट केवल भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित रहे।

(9) सभी राजनीतिक बन्दी रिहा कर दिए जाएँ और सभी मुकदमे वापस ले लिए जाएँ और भारत में निर्वासित किए गए सभी लोगों को भारत आने दिया जाए।

(10) गुप्तचर विभाग को तोड़ दिया जाए या उस पर जनता का नियन्त्रण रखा जाए।

(11) आत्म रक्षा के लिए हथियार रखने के लाइसेंस दिए जाएँ।

सरकार की ओर से इसका कोई उत्तर नहीं मिलने पर गांधी जी ने 2 मार्च 1930 ई० को वायसराय को एक पत्र लिखकर समझौता करना चाहा, परन्तु सरकार पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। ऐसी परिस्थिति में गांधी के सम्मुख आन्दोलन प्रारम्भ करने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं था। गांधी जी ने कहा, ''मैंने रोटी माँगी थी पर लाठी मिली। अतः आन्दोलन आरम्भ करने के अतिरिक्त मेरे सामने कोई चारा नहीं रहा। आन्दोलन शुरू कर दिया गया।''

गांधी जी नमक कानून को अन्यायपूर्ण समझते थे। उनका मानना था कि नमक गरीबों का सबसे बड़ा मित्र है। अतः उन्होंने निश्चय किया कि वे स्वयं दाण्डी समुद्र तट पर शासन की आज्ञा प्राप्त किए बिना नमक बनाएँगे और इस प्रकार कानून का उल्लंघन करेंगे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सरकार ने 1923 में नमक कर दुगना कर दिया और इसे समुद्र के पानी से तैयार करना भी कानूनी अपराध घोषित कर दिया था।

गांधी जी ने कोई कार्य जल्दी नहीं किया था। लाहौर अधिवेशन के बाद गांधी जी ने अपने कार्यकर्ताओं को सत्याग्रह की ट्रेनिंग दी थी। 1 मार्च 1930 को साबरमती के मैदान में 75 हजार व्यक्तियों ने एकत्रित होकर प्रतिज्ञा की कि जब तक भारत स्वतन्त्र नहीं हो जाता, तब तक न तो हम स्वयं चैन लेंगे और न सरकार को चैन लेने देंगे।

दाण्डी यात्राः सविनय अवज्ञा आन्दोलन का आरम्भ 'दाण्डी यात्रा' की ऐतिहासिक घटना से हुआ। 12 मार्च 1930 को महात्मा गांधी और उसके द्वारा चुने गए 79 कार्यकर्ता साबरमती आश्रम से दाण्डी समुद्र तट की ओर चल पड़े। दो सौ मील की लम्बी यात्रा पैदल चलकर चौबीस दिनों में तय की गई। सरकार वल्लभ भाई पटेल ने आगे-आगे चलकर लोगों को गांधी जी के स्वागत के लिए तैयार किया। इस महान यात्रा के मार्ग में जगह-जगह हजारों नर-नारियों ने गांधी जी का हार्दिक अभिनन्दन कियां गांधी जी ने उन्हें बलिदान और अहिंसा का उपदेश दिया। लोगों में देशभक्ति का जैसा उत्साह उस समय दिखाई दे रहा था, वैसा कभी भी नहीं दिखाई दिया। सुभाष चन्द्र बोस के अनुसार, ''गांधीजी की दाण्डी यात्रा एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसकी तुलना एलबा से लौटने पर नेपोलियन के पेरिस अभियान और राजनीतिक सत्ता हथियाने के उद्देश्य से मुसोलिनि के रोम अभियान से की जा सकती है। जन-साधारण में देशभक्ति की ऐसी प्रबल भावना इससे पहले कभी देखने में नहीं आई थी। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास से यह घटना एक महान आन्दोलन का महान आरम्भ मानी जाएगी।'' पं० जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में, ''जैसे-जैसे दिन-प्रतिदिन जनता इस सत्याग्रही जनता का साथ देती गई, देश में उत्तेजना की मात्रा बढ़ती गई।''

गांधी जी और उनके साथी 5 अप्रैल 1930 को दाण्डी पहुँच गए और 6 अप्रैल को उन्होंने प्रातःकाल प्रार्थना के बाद दाण्डी समुद्र तट पर समुद्र के पानी से नमक तैयार किया। इस प्रकार उन्होंने नमक

कानून का उल्लंघन कर सविनय अवज्ञा आन्दोलन का श्रीगणेश कर दिया।'' गांधी जी का अनुसरण करते हुए हजारों लोगों ने स्थान-स्थान पर नमक बनाया। इसी समय गांधी जी को चुपके से गिरफ्तार कर नर्मदा की जेल में भेज दिया गया। बन्दी होने के पूर्व गांधी जी ने आन्दोलन के सम्बन्ध में अपने देशवासियों को एक सन्देश दिया जिसमें उन्होंने कहा, ''मेरे कैदी होने पर मेरे साथियों और देशवासियों को हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। संघर्ष का संचालन करने वाला ईश्वर है, मैं नहीं। वह सबके हृदय में निवास करता है। यदि हमें उसमें विश्वास है तो वह ईश्वर ही हमारा पथ-प्रदर्शन करेगा। हमारा मार्ग निश्चित है।'' इस अवसर पर गांधी जी ने आन्दोलन की रूपरेखा पर प्रकाश डालते हुए कहा कि, ''गाँव-गाँव को नमक बनाने के लिए निकल पड़ना चाहिए। बहनों को शराब, अफीम और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना देना चाहिए। विदेशी वस्तुओं को जला देना चाहिए। हिन्दुओं को अस्प श्यता त्याग देनी चाहिए। विद्यार्थी सरकारी शिक्षण संस्थाएँ छोड़ दें और सरकारी नौकर अपनी नौकरी से त्याग पत्र दे दें।''

आन्दोलन का कार्यक्रमः इस आन्दोलन के मुख्य कार्यक्रम निम्नलिखित थे-

(1) जगह-जगह नमक कानून तोड़कर नमक बनाया जाए।

(2) विद्यार्थी सरकारी स्कूलों और राजकर्मचारी सरकारी दफ्तरों को छोड़ दें।

(3) स्त्रियाँ शराब, अफीम और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना दें।

(4) विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया जाए और उन्हें जलाया जाए।

(5) जनता सरकार को टैक्स न चुकाए।

आन्दोलन का प्रचारः गांधी जी ने नमक कानून को तोड़कर इस आन्दोलन का सूत्रपात किया था। यहीं से सारे देश में अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। जिसका प्रभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। गांधीजी का अनुसरण करते हुए हजारों लोगों ने नमक कानून का उल्लंघन करते हुए स्थान-स्थान पर नमक बनाया। संयुक्त प्रान्त, मद्रास, मध्य प्रान्त, बम्बई और बंगाल प्रान्त में नमक कानून को तोड़ा गया, जहाँ नमक बनाना सम्भव न था वहाँ लोगों ने अन्य कानूनों का तोड़ा।

उदाहरणस्वरूपः मध्य प्रान्त में 'जंगल कानून' और कलकत्ता में 'लेडीसन कानून' का उल्लंघन किया गया। विदेशी वस्तु व अन्य सामान का बहिष्कार व शराब की दुकानों पर धरना भी सफलतापूर्वक प्रारम्भ किया गया। आन्दोलन आरम्भ होने के एक माह के भीतर सैकड़ों पटेलों, पटवारियों और सरकारी नौकरों ने अपने पदों से इस्तीफा दे दिया। ब्रिटिश वस्त्र के बहिष्कार को महान सफलता प्राप्त हुई। एच.एल. ब्रेल्सफोर्ड के अनुसार, ''1930 की शरद तक कपास के कपड़ों का आयात पूर्व वर्ष के इन्हीं महीनों के आयात की तुलना में तिहाई या चौथाई के बीच रह गया था। बम्बई में अंग्रेज व्यवसायियों की सोलह मिलें बन्द हो गई थी और बीस हजार मजदूर बेरोजगार थे। इसके विपरीत भारतीय व्यवसायियों की मिलें दुगनी गति से कार्य कर रही थीं।'' आन्दोलन की विशेष बात यह थी कि औरतों ने सराहनीय पार्ट अदा किया। स्त्रियों ने पर्दा प्रथा को त्यागकर आन्दोलन में खुलकर भाग लिया। उन्होंने शराब, अफीम और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना देकर आन्दोलन को सशक्त बनाया। दिल्ली में 1600 नारियों ने शराब की दुकानों पर धरना दिया, जिसके कारण मिल-मालिकों को विवश होकर अपनी दुकानें बन्द करनी पड़ी। विदेशी वस्त्रों की होलियाँ जलाई गई। भारतीय नर-नारी बिना दण्ड की परवाह किए सत्याग्रह आन्दोलन को चलाने में प्रयत्नशील रहे। परिणामस्वरूप कुछ ही महीनों में हजारों सत्याग्रही जेलों में गए।

सरकार का दमन चक्रः सरकार ने आरम्भ में आन्दोलन की ओर विशेष ध्यान न दिया और अंग्रेज तथा ऐँग्लो इण्डियन समाचार पत्रों ने भी इसे महत्त्वहीन समझकर इसका उपहास उड़ाया। स्टेट्समैन

के सम्पादक ने नमक सत्याग्रह पर व्यंग्य कसते हुए यह शब्द लिखे, ''औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति तक गांधी जी समुद्र से पानी को निरन्तर उबाल सकते हैं।'' इसी प्रकार अंग्रेज पत्रकार मि० ब्रेल्सफोर्ड ने कहा, ''एक बर्तन में समुद्र का पानी उबालने से इंग्लैण्ड नरेश को गद्दी से उतारा नहीं जा सकता।'' लेकिन जब यह आन्दोलन द्रुत गति से फैलने लगा तो सरकार ने इसको कुचलने के लिए दमन नीति को अपनाया। अकेले दिल्ली में लगभग 1600 महिलाओं को शराब की दुकानों पर धरना देने के अपराध में गिरफ्तार कर लिया गया, जिसके विरोध में बम्बई, कलकत्ता तथा अन्य स्थानों पर पूर्ण हड़ताल रखी गई। बम्बई में अनेक कारखानों के मजदूर भी काम छोड़कर हड़ताल में शामिल हो गए। पानामा-सुभागा और नेरोवी के प्रवासी भारतीयों तथा फ्राँस व जर्मनी के अनेक यूरोपीयनों ने गांधी जी की गिरफ्तारी का विरोध किया।

इस आन्दोलन को कुचलने के लिए गवर्नर जनरल ने दर्जनों अध्यादेश जारी किए, प्रदर्शनों और सार्वजनिक सभाओं को निर्दयता पूर्वक तितर-बितर किया जाने लगा। अब लाठी और गोलियों की बौछार आम बात हो गई। धरापाना में 2500 सत्याग्रहियों ने नमक के गोदाम पर चढ़ाई की और वे पाश्विक लाठी प्रहार के शिकार हुए। जमीन पीड़ा से कराहते हुए आदमियों से पट गई। किसी का कन्धा टूट गया था और किसी की खोपड़ी। लोगों के सफेद कपड़े खून से तर थे।'' धारासाना में पुलिस अत्याचार की चर्चा करते हुए 'न्यू फ्रीमैन' (New Freeman) समाचार पत्र के संवाददाता वेब मिलर ने लिखा था, ''अठारह वर्ष तक बाइस देशों में संवाद संग्रह के काम में मैंने असंख्य उपद्रव, संघर्ष, गली कूचों में जमकर लड़ाईयाँ और विद्रोह देखे हैं। लेकिन धारासाना जैसे रोंगटे खड़े कर देने वाले मर्मभेदी द श्य मैंने कभी नहीं देखे। कभी-कभी ऐसी पीड़ा के द श्य कि मुझे थोड़ी देर तक के लिए आँखें हटा लेनी पड़ती। स्वयंसेवकों का अनुशासन आश्चर्यजनक था। लगता था कि उन्होंने गांधी जी की अहिंसा को घोलकर पी लिया है।'' धारासाना के बाद जब सत्याग्रहियों ने बडाला के नमक डिपो पर चढ़ाई की तो पुलिस ने यहाँ पर भी धारासाना जैसी ही पाश्विक लाठी का प्रहार किया था। इसी प्रकार बारीसाल में पाँच सौ व्यक्ति एक ही लाठीचार्ज में घायल हुए।

कभी-कभी पुलिस मामूली सी बातों पर छात्रों का पीछा करती हुई उनकी कक्षाओं में घुस जाती थी और उन्हें तथा उनके अध्यापकों को लाठियों का शिकार बनाती थी। उदाहरणस्वरूप लाहौर में एक कालेज के भीतर पुलिस ने विद्यार्थियों और अध्यापकों पर लाठियाँ बरसाई। अलीपुर जेल (कलकत्ता) में सत्याग्रहियों को जिनमें सुभाष बाबू भी शामिल थे इतना पीटा गया कि कई देशभक्तों को एक घण्टा तक होश नहीं आया। कांग्रेस को भी अवैध संगठन घोषित कर दिया। इस आन्दोलन में लगभग साठ हजार व्यक्तियों को जेलों में भेजा गया। इतनी भारी संख्या में पहले लोगों ने कभी भी अपने आपको गिरफ्तारी के लिए पेश नहीं किया था। ''बोरसद में पुलिस ने 21 जनवरी 1931 को औरतों को गिराकर अपने बूटों से उनके सीने कुचलकर आखिरी नरक के दर्शन कराए।'' सारे देश में दमनकारी कानूनों को बोलबाला था। कर नहीं देने वालों की सम्पत्ति जब्त कर ली गई, पुलिस के इन जुल्मों के परिणामस्वरूप कई गाँव बिल्कुल उजड़ गए।

पुलिस की ज्यादतियों से तंग आकर जनता ने कुछ स्थानों पर हिंसात्मक कार्यवाहियाँ की। शोलापुर में एक भीड़ ने उत्तेजित होकर छः थाने जला दिए। पुलिस ने बदले की भावना से 25 व्यक्तियों को गोली से भून दिया और बहुत से व्यक्तियों को घायल कर दिया। पेशावर में अप्रैल 1930 में इससे भी भयंकर घटनाएँ हुई और 24 अप्रैल से 4 मई तक पेशावर में अंग्रेजी हुकूमत का शासन समाप्त कर दिया गया। इस अवधि में पेशावर की शासन व्यवस्था खुदाई खिदमतगारों के हाथ में रही। सरकार ने पुनः इस शहर पर अधिकार कर लिया और अनेक खुदाई खिदमतगारों को मशीनगन से भून दिया। इस आन्दोलन के दौरान एक महत्त्वपूर्ण घटना यह घटी कि एक गढ़वाली प्लेटून ने अपने निहत्थे मुस्लिम देशवासियों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया।

समझौते का असफल प्रयत्नः जिस तरह आन्दोलन तीव्र गति पर था, उस समय पत्रकार मि० सोलोकोम्ब और डा० जयकर तथा सर तेज बहादुर सप्रू आदि उदारवादी भारतीय नेताओं ने कांग्रेस और सरकार के बीच समझौता कराने के प्रयत्न किए, लेकिन वे सफल न हो सके। मि० सोलोकोम्ब ने गांधी जी से जेल में भेंट की और आन्दोलन स्थगित करने के बारे में बातचीत की। गांधी जी ने कहा वे उस समय तक सत्याग्रह आन्दोलन वापिस नहीं लेंगे, जब तक कि उनको यह निश्चित आश्वासन न मिल जाए कि गोलमेज में भारत को सार रूप से स्वतन्त्रता प्रदान की जाएगी। इस सम्बन्ध में सोलोकौम्ब ने मोतीलाल नेहरू तथा जवाहरलाल नेहरू से भी नेवी जेल में भेंट की। मि० सोलोकोम्ब के इस कार्य को डा० जयकर और सप्रू ने आगे बढ़ाया। जुलाई 1930 में कांग्रेस के प्रमुख नेताओं डा० जयकर और सप्रू को वायसराय की समिति से गांधी जी के साथ बातचीत के लिए मर्वदा जेल ले जाया गया। बहुत विचार-विमर्श के बाद कांग्रेस ने समझौते की निम्न शर्तें रखीं-

(1) भारतीयों को यह अधिकार दिया जाए कि यदि वे चाहें तो ब्रिटिश साम्राज्य से प थक हो सकें।

(2) भारत में ऐसी सरकार स्थापित की जाए जो जनता के प्रति उत्तरदायी हो और जिसे अर्थ तथा प्रतिरक्षा सम्बन्धी शक्तियाँ प्राप्त हों।

(3) भारत को अपने सार्वजनिक ऋणों के सम्बन्ध में निष्पक्ष जाँच का अधिकार प्राप्त हो।

(4) सभी राजनीतिक कैदियों को रिहा कर दिया जाए।

वायसराय इन माँगों के आधार पर वार्तालाप करने में असमर्थता प्रकट की। अतः कोई समझौता नहीं हो सका। फलतः सविनय अवज्ञा आन्दोलन पूर्ववत् चलता रहा।

प्रथम गोलमेज सम्मेलनः 12 नवम्बर 1930 को प्रथम गोलमेज सम्मेलन इंग्लैण्ड में बड़े समारोहपूर्वक हुआ। कांग्रेस ने अपने पूर्व निश्चयानुसार उसमें भाग नहीं लिया और इस प्रकार वह सम्मेलन अंग्रेजों की हाँ में हाँ मिलाने वाला एक तमाशा ही रहा। जो कुछ वहाँ हुआ उसके सारांश के रूप में इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री ने घोषणा की कि भारत में ऐसी संघीय योजना लागू होगी जिसमें प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदाई सरकार तथा केन्द्र में आंशिक उत्तरदाई सरकार की स्थापना होगी तथा विशेष उत्तरदायित्व तथा परिस्थितियों के लिए गवर्नर जनरल की विशेष अधिकार होंगे। कांग्रेस अपना ध्येय 'पूर्ण स्वराज' घोषित कर चुकी थी। अतः 21 जनवरी की कार्यसमिति की बैठक में कांग्रेस द्वारा उस योजना को अस्वीक त कर दिया गया।

गांधी इरविन समझौता (5 मार्च 1931): ब्रिटिश सरकार अब यह अच्छी तरह समझ चुकी थी कि कांग्रेस के सहयोग के बिना भारत की कोई समस्या हल नहीं हो सकती। अतः ब्रिटिश सरकार ने देश में अच्छा वातावरण उत्पन्न करने और कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने के लिए उस पर से प्रतिबन्ध हटा दिया और महात्मा गांधी एवं अन्य कांग्रेसी नेताओं को 26 जनवरी 1931 के दिन बिना शर्त रिहा कर दिया गया। सम्मेलन से लौटकर भारत आने के बाद सर तेज बहादुर सप्रू और डा० जयकर ने भारत सरकार और कांग्रेस के बीच समझौता कराने के प्रयत्न फिर से आरम्भ कर दिए। इसके परिणामस्वरूप महात्मा गांधी और गवर्नर जनरल लार्ड इरविन के बीच 17 फरवरी को बातचीत प्रारम्भ हुई जो पाँच मार्च तक चलती रही। इस शर्त के परिणामस्वरूप 5 मार्च 1931 ई० को महात्मा गांधी और लार्ड इरविन के बीच समझौता हुआ, जो इतिहास में 'गांधी-इरविन' समझौते के नाम से प्रसिद्ध है।

समझौते की शर्तेंः इस समझौते की प्रमुख शर्तें निम्नलिखित थी-

(1) सरकार अपने सभी अध्यादेश और चालू मुकद्दमों को वापस ले लेगी।

(2) हिंसात्मक अपराधियों के अतिरिक्त अन्य समस्त आन्दोलनकारियों को जेल से रिहा कर दिया जाएगा।

(3) सरकार सत्याग्रहियों की जब्त की हुई सम्पत्ति को वापस कर देगी।

(4) जो लोग शराब, अफीम और विदेशी वस्त्रों की दुकान पर शांतिपूर्वक धरना देंगे, उन्हें बन्दी नहीं बनाया जाएगा।

(5) समुद्र के पास रहने वाले लोगों को बिना टैक्स के नमक इकट्ठा करने और बनाने दिया जाएगा।

(6) जिन सरकारी कर्मचारियों ने आन्दोलन के दौरान नौकरी से इस्तीफे दिए थे, उन्हें नौकरी में वापस लेने में सरकार उदार नीति अपनाएगी। कांग्रेस और महात्मा गांधी ने निम्नलिखित बातें स्वीकार की-

(i) कांग्रेस सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित कर देगी।

(ii) कांग्रेस पुलिस द्वारा की गई ज्यादतियों की निष्पक्ष जाँच की माँग छोड़ देगी।

(iii) कांग्रेस द्वितीस गोलमेज सम्मेलन में भाग लेगी।

(iv) कांग्रेस सब बहिष्कारों को बन्द कर देगी।

समझौते पर प्रतिक्रियाः गांधी इरविन समझौते पर मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। कुछ अंग्रेजी समाचार पत्रों ने इसे लार्ड इरविन की महान सफलता माना। टाइम्स नामक अखबार ने स्पष्ट कहा कि यह ब्रिटिश सरकार तथा लार्ड इरविन एक महान कूटनीतिक सफलता थी, क्योंकि इसके द्वारा सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित करने के लिए तैयार हो गई जो प्रतिदिन तीव्र होता जा रहा था और जिसने सरकार चलाना असम्भव कर दिया था। कुछ समाचार पत्रों ने इसे गांधीजी की जीत मानते हुए उनकी बड़ी प्रशंसा की। एक समाचार पत्र ने तो यहाँ तक लिखा कि, ''गांधी जी एक यथार्थवादी राजनीतिज्ञ है, जो धर्म और राजनीति के क्षेत्रों में एक समान निपुण हैं। यहा समझौता उनके सत्याग्रह की एक ऐसी सफलता है, जिसका उदाहरण पूर्व इतिहास में नहीं मिल सकता। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि समझौते ने गांधीजी तथा वायसराय दोनों को कठिन स्थिति में डाल दिया। श्री मसानी के अनुसार ''एक ओर तो जवाहर लाल नेहरू तथा सुभाष चन्द्र बोस जैसे वामपंथी कांग्रेसियों ने सोचा कि गांधी ने अनजाने में भारत बेच दिया है, तो दूसरी ओर ब्रिटेन के चर्चित जैसे कट्टर अनुदारवादियों ने सोचा कि इरविन ने ग्रेट ब्रिटेन को बेच दिया है।''

गांधी इरविन समझौते पर भारत में मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। कांग्रेस के दक्षिण पंथी वर्ग ने उस समझौते का स्वागत किया। गांधी जी की द ष्टि में यह समझौता बहुत महत्त्वपूर्ण था। उनके अनुसार पहली बार अंग्रेज सरकार ने भारतीय नेताओं के साथ समानता के स्तर पर बातचीत की थी। के.एम. मुन्शी के अनुसार, ''इस समझौते का होना भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।'' इस समझौते के मनोवैज्ञानिक पक्ष को स्पष्ट करते हुए फिशर ने लिखा है, ''एक राष्ट्र के नेता ने बराबरी के स्तर पर दूसरे राष्ट्र के नेता से वार्ता की और अब स्पष्ट हो गया कि इंग्लैण्ड के द्वारा भारत पर गांधी की इच्छा के बिना या उसके विरुद्ध शासन नहीं किया जा सकता। अधनंगे फकीर की कृपा पर निर्भर करता है और ब्रिटेन ने भारत की स्वतन्त्रता को सिद्धान्तया स्वीकार कर लिया है, यद्यपि कुछ समय के लिए व्यवहार में इसे प्रदान नहीं किया गया है।''

लेकिन कांग्रेस के वामपंथी वर्ग तथा नवयुवकों ने इस समझौते की कटु आलोचना की। सुभाषचन्द्र बोस तथा जवाहर लाल नेहरू जैसे नेताओं की द ष्टि में यह समझौता सरकार के सामने एकदम

आत्मसमर्पण था। सुभाष चन्द्र बोस ने कहा कि इस समझौते से भारत को जो कुछ प्राप्त हुआ है वह आन्दोलन के बिना भी प्राप्त हो सकता था। इसके अतिरिक्त इस समय कांग्रेस का उद्देश्य पूर्ण स्वराज था, जबकि गांधी जी के बिना इस बात की ओर ध्यान दिए समझौता कर लिया था। भारतीय युवा नेता गांधी जी ने इस बात से भी सन्तुष्ट नहीं थे क्योंकि समझौता करते समय गांधीजी सरदार भगत सिंह, राजगुरू और सुखदेव को दिया गया म त्युदण्ड न तो रद्द करवा सके और न ही उसे आजीवन कारावास में बदलवा सके। इससे नवयुवकों को बड़ी निराशा हुई और उन्होंने 'गांधी मुर्दाबाद' के नारे लगाए। इस सम्बन्ध में रजनी पाल दत्त ने कहा है कि, ''इस समझौते के द्वारा कांग्रेस की कोई माँग पूर्ण न हुई, यहाँ तक की नमक कानून भी न हटाया गया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। कांग्रेस ने उस गोलमेज में भाग लेना भी स्वीकार कर लिया, जिसका बहिष्कार करने की उसने शपथ ली थी। स्वराज की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया।'' यह कथन पूर्ण रूप से सही प्रतीत होता है। इस समझौते के बारे में टाईम्स नामक समाचार पत्र में यह टिप्पणी प्रकाशित हुई थी कि, ''इस प्रकार की विजय किसी भी वायसराय को बहुत कम मिलती है।'' यद्यपि महात्मा गांधी ने इस समझौते को दोनों पक्षों की महान सफलता बताया। लेकिन माइकेल ब्रेचर ने लिखा है कि, ''महात्मा जी को केवल एक ही बात में महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त हुई, वायसराय का वार्ता के लिए सहमत होना कांग्रेस को भारत की जनता के प्रतिनिधि के रूप में मान्यता देना। अन्य बातों की द ष्टि से यह समझौता कांग्रेस की पूर्ण पराजय थी।''

यह निर्विवाद सत्य है कि समझौता ब्रिटिश सरकार की एक महान कूटनीतिक सफलता थी, क्योंकि इसने कांग्रेस के दिन-प्रतिदिन उग्र होते हुए सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित कर दिया। इस समझौते से केवल इतना लाभ अवश्य हुआ कि कांग्रेस की प्रतिष्ठा में व द्धि हुई और उसके प्रभाव का विस्तार हुआ। इसके अतिरिक्त जो लोग अब तक कांग्रेस से दूर भागते थे, उन्हें कांग्रेस के प्रति आकर्षित किया। नेहरू के शब्दों में, ''इस समझौते के उपरान्त अनेक व्यक्ति जो तूफानी दिनों में कष्टों से डरकर कांग्रेस से बच रहे थे, कांग्रेस की ओर आकर्षित होने लगे तथा उन्होंने अपने पूर्व व्यवहार को सुधारने का प्रयत्न किया।''

नए वायसराय विलिंगटन द्वारा समझौते का उल्लंघनः 17 अप्रैल 1931 को लार्ड इरविन के स्थान पर लार्ड विलिंगटन भारत के वायसराय नियुक्त हुए। वे गांधी इरविन समझौते के कट्टर विरोधी थे। वे इसे निष्फल तथा कुचलने का द ढ़ संकल्प लिए हुए थे। अतः उन्होंने इस समझौते की परवाह न करके अपना दमनकारी चक्र तेज किया और गांधी इरविन समझौते की अनेक शर्तों का उल्लंघन शुरू कर दिया। गांधी जी ने इसके विरुद्ध लार्ड विलिंगटन को पत्र लिखा और कहा कि ऐसी परिस्थितियों ने कांग्रेस द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में शामिल नहीं हो सकेगी। वायसराय और गांधी जी की भेंट 27 अगस्त 1937 ई० को शिमला में हुई, जिसमें वासयराय ने गांधी जी से आग्रह किया कि वे समझौते को न तोड़े और स्थाई शांति का रास्ता निकालने के लिए सम्मेलन में भाग लेंगे। अन्त में गांधी जी ने कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में सम्मेलन में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया। गांधी जी ने 29 अगस्त को लन्दन के लिए प्रस्थान किया। सरकार ने पं० मदनमोहन मालवीय और श्रीमती सरोजनी नायडु को व्यक्तिगत रूप से सम्मेलन में भाग लेने के लिए मनोनीत किया।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलनः 7 सितम्बर 1931 को लंदन में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन शुरू हुआ। कांग्रेस की ओर से महात्मा गांधी ने उसमें भाग लिया, लेकिन सम्मेलन शुरू होने से कुछ ही समय पूर्व ब्रिटिश राजनीतिक रंगमंच पर एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गया। मजदूर दल की सरकार अपदस्थ हो गई। रैमजे मेकडोनल्ड अभी भी प्रधानमन्त्री था, लेकिन उसके दम ने उसे बदनाम कर दिया था। इस समय वह राष्ट्रीय सरकार का प्रधान था ओर टोरी और लिबरल दोनों पार्टियों के हाथ उसकी पीठ पर थे।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में ये बातें निश्चित की गईं-

(1) नए संविधान के कुछ ब्यौरे।

(2) संघीय न्यायपालिका का ढाँचा।

(3) संघीय व्यवस्थापिका सभा का निर्माण।

(4) प्रान्तों और केन्द्र के बीच आर्थिक साधनों के बंटवारे का ब्यौरा।

(5) देशी राज्यों के भारत संघ में सम्मिलित होने का आधार।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन का अधिवेशन 1 दिसम्बर 1931 को समाप्त हुआ, लेकिन यह असफल रहा। इसकी असफलता का मुख्य कारण ब्रिटिश सरकार का विरोधी रुख था। वह भारत की समस्या का हल निकालने के लिए तनिक भी उत्सुक नहीं थी। भारत की नौकरशाही को समानता के आधार पर गांधी जी के साथ समझौता करना पसन्द नहीं था। अतः ब्रिटिश सरकार ने ऐसी गोली चलाई कि सम्मेलन किसी मूल समस्या पर निर्णय नहीं ले सका। पं० जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में, ''सम्मेलन में हमारा पलड़ा बहुत हल्का था....... हमने उन हीन और अति निर्बल प्रयत्नों को देखा जो राष्ट्रीय तथा आर्थिक समस्याओं केवल धरातल को खुरचने के लिए ही किए गए थे। हमने समझौतों, षडयंत्रों और दावों को ब्रिटिश अनुदार दल के अत्यन्त प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के साथ अपने ही कुछ देशवासियों के गठबन्धन को छोटे-छोटे प्रश्नों पर समाप्त न होनेवाले वाद-विवाद को, महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के जान-बूझकर जाने को, निहित स्वार्थों और विशेषकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हाथों में निरन्तर खेले जाने के पारस्परिक कलह को, जिसमें रंगरलियाँ और एक दूसरे की प्रशंसा का भी पुट देखा था। यह सारा नौकरियों का धँधा था विभिन्न दल मूर्ख भेड़िए की तरह अपने शिकार की नए विधान की लूट में भाग लेने की प्रतीक्षा कर रहे थे। किसी भी स्वतन्त्रता को लोकतन्त्रात्मक भारत को शक्ति हस्तान्तरण का, भारतीय जनता की सबसे आवश्यक आर्थिक एवं अन्य समस्याओं का विचार तर्क नहीं था ...... उस खचाखच भरे और जगमगाते हाल में गांधी जी बैठे थे चुप और शान्त। आश्चर्यजनक धैर्य के साथ अपने कार्य में व्यस्त रहे और उन्होंने समझौते का सामान्य आधार मालूम करने के अपने प्रयत्न किए।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में महात्मा गांधी कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए, लेकिन उनकी उपस्थिति भी सम्मेलन को सफल नहीं बना सकी। महात्मा गांधी ने कांग्रेस के राष्ट्रीय स्वरूप का प्रतिपादन किया और सुरक्षा और वैदेशिक मामलों पर पूर्ण नियन्त्रण के साथ औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग की, लेकिन इस माँग का कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ। इसके अलावा साम्प्रदायिक गतिरोध अनिर्णित बना रहा। उन्होंने अल्पसंख्यक वर्गों के साथ समझौते की बातचीत की, लेकिन साम्प्रदायिक प्रश्न का कोई हल नहीं निकल सका। एक दिसम्बर 1931 को सम्मेलन खत्म हो गया और गांधीजी निराश होकर स्वदेश लौट आए।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन पुनः आरम्भ (1932-34): महात्मा गांधी की अनुपस्थिति में लार्ड वेलिंगटन ने अपना दमनकारी चक्र जारी रखा। वे कांग्रेस से समझौता करने के पक्ष में नहीं थे, बल्कि उनका अस्तित्व ही समाप्त करना चाहते थे इसलिए उन्होंने गांधी इरविन समझौते का खुला उल्लंघन प्रारम्भ कर दिया। सरकार ने कांग्रेस पर यह दोषारोपण किया कि उसने संयुक्त प्रान्त में किसानों पर टैक्स न देने के लिए उत्साहित किया है और एक बात की शिकायत की है कि सीमा प्रान्त में खान अब्दुल गफ्फार खाँ के नेत त्व में खुदाई खिदमतगार पुनः सविनय अवज्ञा आन्दोलन की तैयारी पूरे जोर से कर रहे हैं। सरकार को दमन करने का बहाना मिल गया। उसका लाभ उठाकर सरकार ने कांग्रेस को कुचलने का निश्चय किया। बंगाल उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त और संयुक्त प्रान्त में अध्यादेशों द्वारा शासन चलाया जा रहा था। बंगाल में तो एक तरह से लगभग सैनिक शासन लागू था। उत्तर पश्चिमी

सीमा प्रान्त में लाल कुर्ता स्वयं सेवक दल को गैर कानूनी घोषित किया गया। इस संगठन के नेता अब्दुल गफ्फार खाँ तथा उसके छोटे भाई डा० खान साहब को गिरफ्तार कर लिया गया। उत्तर प्रदेश में क षि सम्बन्धी झगड़ों के कारण पं० जवाहर लाल नेहरू को गिरफ्तार कर लिया गया था। वहाँ की प्रदेश कांग्रेस के प्रधान डा० शेरवानी को भी प्रान्तीय पुलिस ने पकड़कर कारागार में डाल दिया था। 28 दिसम्बर 1931 को जब गांधी बम्बई में उतरे उन्हें बिटिश सरकार के रुख में इस प्रकार की कठोरता देखकर आश्चर्य मिश्रित दुःख हुआ। ऐसी स्थिति में कांग्रेस की कार्यकारिणी की बैठक बुलाई गई, जिसमें गांधी जी को वायसराय से मिलने के लिए कहा गया। गांधी ने बिना किसी शर्त के वायसराय लार्ड विलिंगडन ने उत्तर भिजवाया, ''वे गांधी जी के साथ किसी प्रकार की बहस करने को तैयार नहीं हैं।'' ऐसी स्थिति में कांग्रेस के लिए आन्दोलन प्रारम्भ करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रहा। अतः 3 जनवरी 1932 ई० को महात्मा गांधी ने देशवासियों से अग्नि परीक्षा का सामना करने का आह्वान किया।

ब्रिटिश सरकार किसी भी स्थिति का सामना करने के लिए पहले से ही तैयार थी। 4 जनवरी 1932 ई० को महात्मा गांधी तथा कांग्रेस के अध्यक्ष सरदार वल्लभभाई पटेल को गिरफ्तार कर लिया गया। इसके बाद अन्य छोटे-बड़े कांग्रेसी नेताओं को जेल में ठूँस दिया गया। कांग्रेस को गैर कानूनी संस्था घोषित कर दिया गया और कांग्रेस कार्यालय पर अधिकार कर लिया गया। कांग्रेस से सहानुभूति तथा सम्बन्ध रखनेवाली सभी प्रकार की संस्थाओं (जैसे- यूथ लीग, किसान सभा, स्टूडेन्ट क्लब) को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। सरकार द्वारा एक ऐसा अध्यादेश जारी किया गया जिसके अनुसार केवल सन्देह के आधार पर पुलिस किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार कर सकती थी। इस अधिकार के अन्तर्गत पुलिस ने उन लोगों को गिरफ्तार कर लिया जिन पर कांग्रेस से सहानुभूति रखने का सन्देह था। इन अध्यादेशों के सम्बन्ध में भारत मन्त्री सर सैमुअल होर को 24 मार्च 1932 ई० को हाउस आफ कामन्स में यह कहना पड़ा, ''मैं स्वीकार करता हूँ कि हमारे द्वारा स्वीक त अध्यादेश बहुत कठोर और कष्टदायक हैं। वे भारतीय जीवन के प्रत्येक पक्ष पर नियन्त्रण साबित करते हैं।'' अनुदार दल के नेता चर्चिल ने भी यहाँ तक कहा कि सरकार की दमन नीति 1857 के बाद इस बार सबसे कठोर थी। कांग्रेस के सहायकों तथा सत्याग्रहियों को शरण देनेवाले व्यक्ति को कड़ी सजाएँ दी गई। अनेक कांग्रेसियों की सम्पत्ति जब्त कर ली गई। मुस्लिम लीग में आन्दोलन में सरकार का साथ दिया। सरकार ने मुसलमानों को साम्प्रदायिक दंगे करने के लिए प्रोत्साहित किया। परिणामस्वरूप बम्बई में भी भीषण दंगे हुए।

आन्दोलन पुनः आरम्भ होने पर गवर्नर जनरल ने बड़े दम्भ के साथ कहा कि वे छः सप्ताह के भीतर आन्दोलन को कुचल देंगे। परन्तु भारतीय आन्दोलन में पूरी जान थी। कांग्रेस और आन्दोलन के अन्त का कोई चिन्ह दिखाई नहीं दे रहा था और विलिंगडन की गर्वपूर्वक डींग झूठी साबित हुई। सरकार ने आन्दोलन को कुचलने का हर सम्भव प्रसास किया परन्तु आन्दोलन दबा नहीं। सी.वाई. चिन्तामणी लिखते हैं, ''सरकार अपने कार्यों में द ढ़ थी और कांग्रेस भी झुकने को तैयार न थी। कांग्रेस का लगभग प्रत्येक नेता बन्दी बनाकर आन्दोलन से अलग कर दिया गया, फिर भी आन्दोलन समाप्त नहीं हुआ।'' सरकार ने राष्ट्रवादी समाचार पत्रों पर कड़ा नियन्त्रण लगा दिया और कांग्रेस को डाक की सुविध ा से वंचित कर दिया। लाठी प्रहार, गोली वर्षा, सम्पत्ति की जब्ती तथा सामुहिक जुर्माने नित्य के कार्यक्रम हो गए। इस आन्दोलन के दौरान सरकार ने इतने अत्याचार किए जितने 1857 के विद्रोह में भी नहीं किए गए थे। 1933 के अन्त तक कुल मिलाकर एक लाख बीस हजार व्यक्तियों को गिरफ्तार करके जेलों में ठूंस दिया गया था। बन्दी बनाए गए व्यक्तियों को रखने के लिए जेलों में जगह न थी। जनता को कड़े साहस और उत्साह के साथ कष्टों का सामना किया। सरकार ने दमन चक्र के बावजूद भी कांग्रेस ने दिल्ली के चाँदनी चौक में वार्षिक अधिवेशन किया, जो सफलतापूर्वक

सम्पन्न हुआ। अगले वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन श्रीमती जे.एम. सेन के सभापतित्व में कलकत्ता में सम्पन्न हुआ। श्रीमती सेन ने इस अवसर पर ये शब्द कहे, ''पिछले 15 मास में एक लाख 26 हजार नर नारी जेलों में जा चुके हैं और सरकार इस आन्दोलन को कुचलने में असमर्थ रही है। लार्ड विलिंगडन ने इस आन्दोलन को छः सप्ताह के अन्दर-अन्दर कुचलने की जो डींग मारी थी, वह निरर्थक प्रमाणित हुई है। सरकार अब भी इसे आगामी तीस महीनों में समाप्त कर सकेगी।'' इस प्रकार सरकार के कठोर दमन चक्र के बावजूद भी आन्दोलन चलता रहा। और कांग्रेस अपने कार्यों को करती रही।

आन्दोलन का स्थगनः 1933 में आन्दोलन पूरे जोर पर था, परन्तु इसकी शक्ति धीरे-धीरे कम होती जा रही थी। हिन्दुओं द्वारा हरिजनों के प्रति किए गए अन्यायों का प्रायश्चित करने के लिए गांधीजी ने 8 मई 1933 को 21 दिनों का उपवास शुरू कर दिया। ब्रिटिश सरकार ने गांधी जी को उसी दिन जेल से मुक्त कर दिया। इसके बाद आन्दोलन स्थगित करने पर विचार किया गया। गांधी जी का विचार था कि सरकार की दमन नीति से जनता में भय और आतंक छा गया है और संगठनकर्ताओं का उत्साह भी ढीला पड़ता जा रहा है। अतः आन्दोलन को कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दिया जाए। ऐसी स्थिति में 19 मई 1933 ई० को गांधी जी ने बारह सप्ताह के लिए आन्दोलन रोक दिया। यद्यपि व्यक्तिगत सत्याग्रह नौ माह तक और चलता रहा। 7 अप्रैल 1934 को गांधी जी ने व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन को भी बिल्कुल समाप्त कर दिया।

गांधी जी ने जब बिना किसी कारण बताए आन्दोलन को स्थगित कर दिया तो कांग्रेस के नेताओं ने उनकी कटु आलोचना की। सुभाषचन्द्र बोस और विट्ठलभाई पटेल जो उस समय स्विटजरलैंड में थे, ने गांधी जी के इस निर्णय की कटु आलोचना की। उन्होंने कहा, ''गांधी ने 13 वर्षों की मेहनत तथा कुर्बानियों पर पानी फेर दिया है।'' उनका यह भी मानना था कि गांधी जी एक राजनीतिक नेता के रूप में असफल सिद्व हुए और आन्दोलन को स्थगित करके उन्होंने अपनी असफलता को स्वीकार कर लिया है। जवाहर लाल नेहरू और कांग्रेस कार्यसमिति के एक सदस्य मि० के.एफ. नारीमैन ने भी गांधी जी के इस निर्णय की कटु आलोचना की। डा० आर.जी. मजूमदार ने लिखा है, ''गांधीजी का इस प्रकार आन्दोलन स्थगित करना केवल एक भारी भूल ही न थी, अपितु एक दुखपूर्ण घटना भी थी। उन्हें लोगों के जीवन तथा धन सम्पत्ति से इस अनुचित ढंग से खिलवाड़ करने का कोई अधिकार न था। सत्याग्रह स्थगित करने के पश्चात महात्मा जी ने वायसराय से जब मुलाकात के लिए समय माँगा तो उन्होंने उसकी प्रार्थना को ठुकरा दिया। वायसराय का यह रवैया जहाँ राष्ट्रीय अपमान था, वहाँ आन्दोलन को जारी रखने की चुनौती भी थी। गांधी जी इस चुनौती का उत्तर देने में असमर्थ रहे। उनका सत्याग्रह का राजनीतिक शस्त्र भी निष्फल प्रमाणित हुआ।''

इस आन्दोलन को स्थगित करने के बाद गांधी जी 28 नवम्बर 1934 को कांग्रेस से अलग हो गए और अछुतोद्धार के कार्य में लग गए।

मुसलमानों का आन्दोलन के प्रति रवैयाः इस आन्दोलन में भारत के मुसलमानों ने बहुत ही थोड़ा भाग लिया। मुस्लिम लीग ने आन्दोलन में साथ नहीं दिया उल्टे इसने इसका खुलकर विरोध किया और सरकार का साथ दिया। मि० जिन्ना ने इस आन्दोलन के बारे में कहा, ''हम मि० गांधी क साथ देने से इन्कार करते हैं, क्योंकि उनका आन्दोलन भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए नहीं, वरन् भारत के सात करोड़ मुसलमानों को हिन्दू महासभा का आश्रित बना देने के लिए है।'' इस प्रकार जिन्ना के नेत त्व में अधिकाँश मुसलमान इस आन्दोलन से अलग रहे। खिलाफत आन्दोलन में जो मुस्लिम नेता महात्मा गांधी के साथ थे, उनमें से अधिकाँश इस आन्दोलन से अलग रहे। परन्तु उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त के पठानों ने अब्दुल गफ्फार खाँ के नेत त्व में इस आन्दोलन में साथ दिया और हँसते-हँसते सरकार की लाठियाँ और गोलियाँ सहीं।

भारत छोड़ो आन्दोलन
(Quit India Movement)

भारत छोड़ो आन्दोलन, जिसे अगस्त क्रान्ति भी कहा जाता है भारतीय जनता की वीरता और जुझारूपन की अद्वितीय मिसाल है। उसका दमन भी उतना ही पाशविक और अभूतपूर्वक था। जिन परिस्थितियों में यह संघर्ष छेड़ा गया, वैसी प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी राष्ट्रीय आन्दोलन में अब तक नहीं आई थी। युद्ध की आड़ लेकर सरकार ने अपने का सख्त से सख्त कानूनों से लैस कर दिया था और शान्तिपूर्ण राजनीतिक गतिविधियों को भी प्रतिबन्धित कर दिया गया था। सवाल यह उठता है कि जब परिस्थितियाँ इतनी विकट थी और कठोर दमन लगभग निश्चित था तब भी इतना बड़ा संघर्ष छेड़ना जरूरी क्यों हो गया, इसके निम्नलिखित कारण थे।

पहला कारण तो यह था कि मार्च 1942 में क्रिप्स मिशन की विफलता से यह स्पष्ट हो गया था कि ब्रिटिश सरकार युद्ध में भारत की अनिच्छुक साझेदारी को तो बरकरार रखना चाहती है लेकिन किसी सम्मानजनक समझौते के लिए तैयार नहीं है। नेहरू और गांधी जी जैसे लोग भी थे जो इस फासिस्ट विरोधी युद्ध को किसी भी तरह कमजोर नहीं करना चाहते थे, इस निष्कर्ष पर पहुँच गए थे कि और अधिक चुप रहना यह स्वीकार कर लेना है कि ब्रिटिश सरकार को भारतीय जनता की इच्छा जाने बिना भारत का भाग्य तय करने का अधिकार है। करो या मरो वाले अपने भाषण में गांधीजी ने साफ-साफ कहा था, ''मैं रूस या चीन की हार का औजार बनना नहीं चाहता।'' लेकिन 1942 के वसंत तक उन्हें लगने लगा कि संघर्ष अपरिहार्य है। क्रिप्स की वापसी के एक पखवाड़े बाद ही उन्होंने कांग्रेस कार्य समिति के लिए एक प्रस्ताव तैयार किया, जिसमें ब्रिटेन को भारत छोड़ने के लिए कहा गया था तथा भारतीय जनता का आह्वान किया गया था कि जापान का हमला हो तो वह अहिंसक सहयोग करो। नेहरू अगस्त तक संघर्ष के खिलाफ रहे, परन्तु अन्ततः वे भी सहमत हो गए।

दूसरे यह संघर्ष जरूरी इसलिए भी होता जा रहा था कि युद्ध के कारण बढ़ती कीमतों और जरूरी वस्तुओं के अभाव से जन साधारण मे बेहद असन्तोष था। बंगाल और उड़ीसा की नावों का जापानियों द्वारा उनके सम्भावित इस्तेमाल को रोकने के लिए सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया था, जिससे लोगों को दिक्कत हो रही थी। सिंचाई की नहरों को कहीं जापानी जल परिवहन के रूप में इस्तेमाल न कर ले, यह सोचकर नहरों का पानी बहा दिया गया जिससे खेत सूखने लगे। मकानों और मोटर गाड़ियों पर भी सेना ने कब्जा कर लिया था। जनता खुशी-खुशी युद्ध में शामिल हो जाती तो उसे यह सब नहीं अखरता, लेकिन यहाँ तो सब कुछ उस पर लादा जा रहा था। साथ ही उसे यह भी लग रहा था कि ब्रिटेन की हार होनेवाली है। दक्षिण-पूर्व एशिया से ब्रिटेन हट गया था और असम बर्मा सीमा से आनेवाली रेलगाड़ियाँ घायल सिपाहियों से भरी होती थी। जब सिंहापुर और रंगून पर फाँसीवादी ताकतों का कब्जा हो गया और कलकत्ता पर बम गिराए जाने लगे तो भगदड़ मच गई। 1942 के जून और जुलाई में 46 हजार लोग जमशेदपुर से भाग गए और पूर्वी उ०प्र० तथा बिहार से भागकर 50 हजार आदमी कानपुर पहुँचे।

तीसरे मलाया और बर्मा को ब्रिटिश सरकार ने जिस तरह खाली किया, उससे भी काफी लोभ फैला। गौरी बस्तियाँ खाली करा दी गई और स्थानीय लोगों को उनके भाग्य पर छोड़ दिया गया था। भारत के लोग सोचने लग गए थे कि अगर जापानी हमला हुआ तो अंग्रेज यहाँ भी उसी तरह विश्वासघात करेंगे। राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं को संघर्ष छेड़ने की जरूरत इसलिए भी महसूस हुई कि लोगों में निराशा फैल रही थी और यह आशँका पैदा हो गई थी कहीं जापानी हमले का जनता द्वारा कोई प्रतिरोध न हो।

चौथे धीरे-धीरे ब्रिटिश शासन में जन साधारण की आस्था इतनी घर कर गई कि लोग बैंकों और

डाकघरों से अपना रूपया निकालने लगे और अपनी बचत को सोने, चाँदी और सिक्कों में बदलकर रखने लगे। पूर्वी संयुक्त प्रान्त और बिहार में अनाज की जमाखोरी इतनी बढ़ गई कि बिहार के राज्यपाल स्टीवार्ट ने सरकार को लिखा, ''चावल की कोई कमी नहीं है, पर वह बाजार में नहीं आएगा, सरकारी अधिग्रहण से बचने के लिए व्यापारियों ने अपने जखीरों को बैंकों के पास बन्धक रख दिया है। पता चला है कि उत्तर बिहार में बैंकों के पास बन्धक अनाज उसका तीन गुना है, जितना इस मौसम में सामान्यतः रहता है।

इसके अतिरिक्त इस समय सारे भारत में घोर निराशा का वातावरण छाया हुआ था। ऐसे समय में गांधी जी ने जनता में उत्साह जाग त करने के लिए आन्दोलन को एक कार्यक्रम प्रदान किया। पं० जवाहर लाल नेहरू के अनुसार, ''जनता की निपट निराशा को साहस तथा प्रतिरोध की भावना में परिवर्तित करना आवश्यक था। यद्यपि इस प्रतिरोध की शुरूआत ब्रिटिश अधिकारियों के स्वेच्छाचारी आदेशों के विरुद्ध होती, पर इसे आक्रमणकारी के विरोध में भी बदला जा सकता था। निराशा तथा दास्ता दूसरे की और भी इसी द ष्टिकोण तथा इसी प्रकार की हीनता व तुच्छता पैदा करती है।''

वर्धा प्रस्ताव (जुलाई 1942): अप्रैल 1942 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक इलाहाबाद में हुई। उसमें यह निर्णय लिया गया कि कांग्रेस ऐसी स्थिति को किसी भी दशा में स्वीकार करने को तैयार नहीं हो सकती, जिसमें भारतीयों को ब्रिटिश सरकार के दास के रूप में कार्य करना पड़े। 14 जुलाई 1942 ई० में कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक वर्धा में हुई। इस बैठक में गांधी जी के इस विचार का समर्थन किया गया कि भारत के वैधानिक गतिरोध का एकमात्र उपाय यह है कि अब अंग्रेज तुरन्त भारत छोड़कर चले जाएं। कांग्रेस की कार्य समिति ने इस समय एक प्रस्ताव पास किया, जो 'भारत छोड़ो प्रस्ताव' के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रस्ताव में कहा गया, ''जो घटनाएँ प्रतिदिन घट रही हैं; उनसे कांग्रेसी कार्यकर्ता की एक धारणा पुष्ट होती जा रही थी कि भारत में ब्रिटिश शासन का अन्त अतिशीघ्र होना चाहिए। दासत्व श ंखला में जकड़ा हुआ भारत अपनी ही रक्षा के कार्य में और मानवता का विध्वंस करनेवाले युद्ध में भाग्य चक्र को प्रभावित करने में पूरा-पूरा भाग नहीं ले सकता। इस प्रकार भारत की स्वतन्त्रता न केवल भारत के हित में आवश्यक है वरन् संसार की सुरक्षा के लिए और नाजीवाद, फासीवाद और सैन्यवाद और अन्य प्रकार के साम्राज्यवादों एवं एक राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र के आक्रमण का अन्त करने के लिए भी आवश्यक है- कांग्रेस नहीं चाहती है कि मलाया, सिंहापुर और बर्मा पर जो बीती है, वह भारत पर बीते। कांग्रेस की हार्दिक इच्छा है कि वह जनता की सम्मिलित इच्छा और शक्ति के बल पर भारत को आक्रमण का सफल प्रतिरोध करने के योग्य बनाए। भारत से ब्रिटिश सत्ता के उठा लिए जाने का प्रस्ताव पेश करने में कांग्रेस की यह इच्छा नहीं है कि इससे ब्रिटेन अथवा मित्र राष्ट्रों के युद्ध कार्य में बाधा पहुँचे, इसलिए जापानियों के यहाँ या किसी और के आक्रमण को दूर रखने या उसका प्रतिरोध करने के लिए तथा चीन की रक्षा और सहायता के लिए कांग्रेस भारत के मित्र राष्ट्रों की सशक्त सेनाओं को टिकाने के लिए यदि उनकी इच्छा हो, राजी हैं। भारत में ब्रिटिश सत्ता के हटा लिए जाने के प्रस्ताव का उद्देश्य यह कभी नहीं था कि भारत के सारे अंग्रेज तथा निश्चय ही वे अंग्रेज देश से विदा हो जाए जो भारत को अपना घर बनाकर यहाँ दूसरों के साथ समानाधिकारी बनकर रहना चाहते हैं। यदि यह अपील व्यर्थ गई तो कांग्रेस वर्तमान निराशाजनक स्थिति के दायित्व को घोर शंका की द ष्टि से देखेगी। इस स्थिति में कांग्रेस को अपनी समस्त अहिंसात्मक शक्ति जो सन् 1920, जबकि इसने राजनीतिक अधिकारों और स्वाधीनता के समर्थन के लिए अहिंसा को अपनी नीति के अंग के रूप में स्वीकार किया था के बाद संचित की गई है, अनिच्छापूर्वक उपयोग करने को बाध्य होना पड़ेगा। इस प्रकार के व्यापक संघर्ष को नेत त्व अनिवार्य रूप से महात्मा गांधी करेंगे।''

वर्धा प्रस्ताव के पश्चात कांग्रेस ने आन्दोलन की घोषणा करने के पूर्व आवश्यक तैयारी कर लेना उचित

समझा। कांग्रेस के नेता आन्दोलन को प्रबल बनाने के प्रयत्नों में लग गए। अगस्त 1942 की 'तिलक दिवस' इलाहाबाद में उत्साहपूर्वक मनाया गया। इस समय पं० नेहरू ने कहा है, ''हम आग के साथ खेलने जा रहे हैं जिसकी चोट उल्टी हमारे ऊपर भी पड़ सकती है। लेकिन हम क्या करें, विवश हैं।'' इस अवसर पर राजेन्द्र प्रसाद ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए, ''हमको इस बार गोली खाने और तोप का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए।'' सरदार वल्लभभाई पटेल ने बम्बई में अपने भाषण में कहा, ''इस बार आन्दोलन थोड़े दिनों का, किन्तु बड़ा भयानक होगा।'' भारत सरकार कांग्रेस के इस कार्यक्रम से अनभिज्ञ नही थी। अतः उसने सम्भावित जन आन्दोलन को कुचलने की तैयारियाँ कर दी।

कांग्रेस का भारत छोड़ो प्रस्ताव (8 अगस्त 1942): 7 अगस्त 1942 ई० को कांग्रेस का अधिवेशन बम्बई में प्रारम्भ हुआ। 8 अगस्त को महात्मा गांधी ने समिति के समक्ष भारत छोड़ो का ऐतिहासिक प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव कुछ संशोधन सहित स्वीकार कर लिया गया। इस प्रस्ताव का सारांश निम्न प्रकार था-

''भारत में ब्रिटिश शासन का तुरन्त अन्त होना चाहिए। यह भारत तथा साथी देशों की सफलता के लिए आवश्यक है। इस शासन का जारी रहना भारत को निरन्तर गिरा रहा है और देश अपनी प्रतिरक्षा के लिए कमजोर होता जा रहा है। फासीज्म के विरुद्ध सफलता पुराने उद्देश्यों, नीतियों व उपायों से चिपके रहने पर नहीं प्राप्त हो सकती। भारत की स्वतन्त्रता से ही ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्रों को आँका जा सकता है। स्वतन्त्र भारत इस सफलता को अवश्य प्राप्त कर सकेगा। क्योंकि वह अपने सभी साधानों की स्वतन्त्रता के लिए तथा फासिस्टवाद, नाजीवाद और साम्राज्यवाद के आक्रमणों के विरुद्ध लगा देगा। .... पराधीन भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद का चिन्ह बना हुआ है। परन्तु स्वतन्त्रता की प्राप्ति ही, भावी वायदे नहीं, युद्ध के रूप को बदल सकते हैं। अतएव अखिल भारतीय कांग्रेस समिति अत्यधिक जोरदार शब्दों में भारत से ब्रिटिश सत्ता के हट जाने की माँग दोहराती है। अतः ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्रों से फिर अपील करती है। यह माँग न मानी जाने पर समिति एक अत्यधिक व्यापक पैमान पर महात्मा गांधी के नेत त्व में अहिंसात्मक संघर्ष चलाने को विवश होकर आज्ञा देती है। वह भारतीयों से अपील करती है कि इस आन्दोलन का आधार अहिंसा हो और प्रत्येक व्यक्ति अपना मार्गदर्शन करे। जब भी सत्ता आएगी, वह सारी जनता की रहेगी।''

कांग्रेस इस बात से भलीभाँति परिचित थी कि अंग्रेज भारत छोड़कर आसानी से नहीं जाएँगे। अतः उसने एक जन आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया। आन्दोलन प्रारम्भ करने से पूर्व गांधीजी एक बार सरकार से वार्ता कर लेने के पक्ष में थे। इस समय गांधी जी ने कांग्रेस कार्य समिति के समक्ष 70 मिनट तक भाषण दिया। इन्द्रविद्यावाचस्पति के शब्दों में, ''गांधी जी उस दिन ऐसे बोल रहे थे, मानो उनकी अन्तरात्मा से भगवान बोल रहा हो।'' डा० पट्टाभि सीतारमैया लिखते हैं, ''वास्तव में गांधी जी उस दिन अवतार और पैगम्बर की प्रेरक शक्ति से प्रेरित होकर भाषण दे रहे थे।''

अपने दिव्य भाषण में गांधी जी ने कहा था, ''असली संघर्ष इसी क्षण से शुरू नहीं हो रहा है, आपने सिर्फ अपना फैसला करने का सम्पूर्ण अधिकार मुझे सौंपा है। अब मैं वायसराय से मिलूँगा और उनसे कहूँगा कि वे कांग्रेस का प्रस्ताव स्वीकार कर लें। इसमें दो या तीन हफ्ते लग जाएंगे।'' लेकिन, ''इतना आप निश्चित जान लो कि मैं मन्त्रिमण्डलों वगैरह पर वायसराय से कोई समझौता नहीं करने जा रहा हूँ। सम्पूर्ण आजादी से कम किसी भी चीज से मैं संतुष्ट होनेवाला नहीं। हो सकता है वे नमक टैक्स, शराबखोरी आदि खत्म करने का प्रस्ताव दें। लेकिन मेरे शब्द होंगे 'आजादी से कम कुछ नहीं', इसके बाद ही उन्होंने करो या मरो का नारा दिया, ''एक मन्त्र है, छोटा सा मन्त्र, जो मैं आपको देता हूँ। इसे आप अपने हृदय से अंकित कर सके हैं और अपनी साँस द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। वह मंत्र है 'करो या मरो', या तो हम भारत को आजाद कराएंगे या इस कोशिश में अपनी जान दे देंगे। अपनी

गुलामी का स्थायित्व देखने के लिए हम जिन्दा नहीं रहेंगे।''

गांधी जी के भाषण ने विभिन्न वर्गों को साफ-साफ निर्देश दिए थे, सरकारी कर्मचारी नौकरी न छोड़े, लेकिन कांग्रेस के प्रति अपनी निष्ठा की घोषणा कर दें। सैनिक अपने देशवासियों पर गोली चलाने से इन्कार कर दें। राजा महाराजा भारतीय जनता की प्रभुसत्ता स्वीकार करें और उनकी रियासतों में रहनेवाली जनता अपने आपको भारतीय राष्ट्र का अंग घोषित कर दे तथा राजाओं का नेत त्व तभी मन्जूर करें जब वे अपना भविष्य जनता के साथ जोड़ लें। छात्र पढ़ाई तभी छोडें जब आजादी हासिल हो जाने तक इपने इस निर्णय पर द ढ़ रह सकें। 7 अगस्त को गांधी जी ने अपने निर्देश कांग्रेस कार्य समितियों में रखे थे। उनमें किसानों से कहा गया था कि जिनमें साहस हो और अपना सब कुछ दाव पर लगाने के लिए तैयार हो, उन्हें मालगुजारी देने से इन्कार कर देना चाहिए। काश्तकारी के लिए सन्देश था, ''कांग्रेस मानती है कि जमीन उनकी है, जो उसे जोतते हैं, किसी और की नहीं। जहाँ जमींदारी प्रथा है वहाँ जमींदार अगर काश्तकार का साथ दे तो आपसी रजामंदी से तय करके उसका हिस्सा उसे दिया जाना चाहिए, लेकिन जमींदार अगर सरकार का साथ दे तो उसे कोई कर देने की जरूरत नहीं है।'' आकस्मिक गिरफ्तारियों के कारण ये निर्देश जारी तो नहीं किए जा सके, पर इनसे गांधी जी के इरादे स्पष्ट हो जाते हैं।

आन्दोलन का सूत्रपात और दमनः 9 अगस्त को सुबह ही कांग्रेस के सभी बड़े-बड़े नेताओं को गिरफ्तार कर अज्ञात स्थान पर भेज दिया गया। वस्तुतः सरकार युद्ध के बाद से ही यह कदम उठाने की तैयारी कर रही थी और 1940 में ही उसने एक विस्त त क्रान्तिकारी आन्दोलन अध्यादेश जारी कर दिया था। 8 अगस्त 1940 की वायसराय ने राज्यपालों को एक पत्र लिखा था, ''मैं गहराई से महसूस करता हूँ कि मौजूदा हालत में यदि कांग्रेस का कोई हिस्सा युद्ध की घोषणा कर देता है तो उसका एकमात्र सम्भव जवाब यही हो सकता है कि पूरे संगठन को ही कुचलने का इरादा घोषित कर दिया जाए।'' गांधी जी बड़ी सावधानी से इस जाल में फंसने से बचते आ रहे हैं और व्यक्तिगत सत्याग्रह, लगातार प्रचार व संगठनात्मक कार्यों से आन्दोलन का माहौल बनाए हुए थे। लेकिन अब सरकार उन्हें और वक्त देने को राजी नहीं थीं इसके पहले कि अखिल भारतीय कांग्रेस समिति भारत छोड़ो प्रस्ताव पारित करे, गिरफ्तारी और दमन के सरकारी निर्देश जारी हो गए।''

सरकार के अचानक इस हमले से देश भर में तूफान आ गया। बम्बई में लाखों लोग ग्वालिया टैंक की ओर उमड़ पड़े जहाँ एक जनसभा होने की घोषणा की गई थी। अधिकारियों से टकराव भी हुआ। 10 अगस्त को दिल्ली, कानपुर, इलाहाबाद, वाराणसी, पटना आदि शहरों में हड़ताल रही और बड़े-बड़े जुलूस निकाले। इसके बाद ही सरकार ने प्रेस पर हमला बोल दिया। बहुत से अखबार बहुत दिनों तक बन्द रहे। 'नेशनल हेराल्ड' और 'हरिजन' तो पूरे आन्दोलन के दौरान नहीं निकले।

प्रान्तीय तथा स्थानीय स्तर के नेता गिरफ्तार होने से बच गए थे वे अपने-अपने इलाके में चले गए और प्रतिरोधात्मक गतिविधियों में लग गए। देहात में जैसे ही खबर पहुँचने लगी वहाँ भी विद्रोह का सिलसिला चल पड़ा। छः सप्ताह तक देश भर में तुमुल आन्दोलन रहा। कुछ स्थानों पर लोगों की विशाल भीड़ ने पुलिस थानों, डाकघरों, कचहरियों, रेलवे स्टेशनों तथा सरकारी सत्ता के दूसरे प्रतिकों पर आक्रमण कर दिया। सार्वजनिक भवनों पर तिरंगा फहराया गया। गाँववालों ने हजारों की संख्या में एकत्र होकर रेल की पटरियाँ उखाड़ दी। पुल उड़ा दिए तथा टेलीफोन तथा तार की लाइनें काट दी गई। तहसीलों तथा जिला मुख्यालयों में सत्याग्रहियों ने गिरफ्तारी दी। स्कूल, कालेजों में हड़ताल की गई और छात्रों ने जुलूस निकालने तथा गैर कानूनी परचे लिखने और बाँटने लग गए। ऐसी कई सौ गैर कानूनी पत्रिकाएँ देश भर में निकलती रही। छात्रों के उभरते हुए गुप्त संगठनों ने भी सन्देश ले जाने वगैरह का काम किया। मजदूर भी पीछे नहीं रहे। अहमदाबाद में कारखाने साढ़े तीन महीने तक बन्द रहे, बम्बई में एक हफ्ते से ज्यादा तक और जमशेदपुर में तेरह दिन तक। अहमदाबाद और

पूना के मजदूर कई महीने तक सक्रिय रहे।

बिहार और उत्तर प्रदेश में तो विद्रोह जैसा माहौल बन गया। अगस्त के मध्य तक विद्यार्थियों तथा अन्य राजनीतिक कार्यकर्ताओं के जरिए आन्दोलन की खबर गाँवों तक पहुँचने लगी। काशी विश्वविद्यालय के छात्रों ने 'भारत छोड़ो' का सन्देश फैलाने के लिए गाँवों में जाने का फैसला किया। उनके नारे थे थाना जलाओ, स्टेशन फूँक दो, अंग्रेज भाग गया इत्यादि। उन्होंने रेलगाड़ियों पर राष्ट्रीय ध्वज भी फहराया। विद्रोह ने अधिकतर यह रूप धारण किया कि बड़ी संख्या में किसान पास के कस्बे में जुटते और सरकारी सत्ता के सभी प्रतीकों पर हमला कर देते। कहीं आग लगा दी जाती, कहीं सरकारी अधिकारियों से मुठभेड़ होती, दमन होता लेकिन उससे जनता का उत्साह कम नहीं हुआ। सचिवालय गोली काण्ड के बाद पटना दो दिन तक बेकाबू रहा। उत्तर और मध्य बिहार के अस्सी प्रतिशत थानों पर जनता का राज हो गया था। कुछ स्थानों पर गोरों पर व्यक्तिगत हमला भी हुआ। पूर्वी उत्तर प्रदेश में आजमगढ़, बलिया और गोरखपुर तथा बिहार में गया, भागलपुर, सारन, पूर्णिया, शाहबाद, मुजफ्फरपुर और चम्पारन जन विद्रोह के मुख्य केन्द्र थे।

सरकारी आँकलनों के अनुसार नेताओं की गिरफ्तारी के पहले हफ्ते के अन्दर 250 रेलवे स्टेशन या तो नष्ट कर दिए गए या क्षतिग्रस्त हुए और 500 से ज्यादा डाकघरों तथा 150 थानों पर हमला हुआ, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में रेलगाड़ियों का आवागमन कई हफ्ते तक अस्त-व्यस्त रहा। सिर्फ कर्नाटक में ही टेलीफोन के तार काटने की 1600 घटनाएँ हुई तथा 28 रेलवे स्टेशनों और 32 डाकघरों पर हमले हुए। निहत्थी भीड़ ने 532 अवसरों पर पुलिस और सेना की गोलीबारी का सामना किया। यहाँ तक कि हवाई जहाज से मशीनगन भी चलाई गई। दमन के अन्य रूप थे सामूहिक जुर्माना (कुल 90 लाख इस तरह वसूल किए गए) संदिग्ध लोगों को कोड़ों से पीटना तथा जिन गाँवों के लोग भाग गए थे उनमें आग लगा देना। 1942 के अन्त तक 60 हजार से अधिक लोगों को गिरफ्तार किया जा चुका था। लगभग 26 हजार लोगों को सजा हुई और 18 हजार लोगों भारत रक्षा नियमों के तहत बन्द रखा गया। मार्शल लॉ लागू किया गया था और हलाँकि सेना कहने को नागरिक प्रशासन के तहत काम कर रही थी, पर दरअसल वह मनमानी कर रही थी। दमन उतना ही कठोर था जितना मार्शल लॉ के अन्तर्गत हो सकता था।

जनता के खुलेआम विद्रोह पर काबू पाने में छः से सात सप्ताह लगे। पर इस बीच देश के विभिन्न हिस्सों में आन्दोलन का एक भूमिगत संगठनात्मक ढाँचा भी तैयार हो रहा था। आन्दोलन की बागडोर अच्युत पटवर्धन, आर.पी. गोयनका, राम मनोहर लोहिया, सुचेता कृपलानी, छोटूभाई पुराणिक, बीजू पटनायक और बाद में जेल के निकल भागने के बाद जयप्रकाश नारायण जैसे अखिल भारतीय नेताओं ने फराह रहते हुए सम्भाल ली थी। ये लोग पैसा और बम हथियार बारूद आदि सामग्री इकट्‌ठा करते और देश भर के छितराए हुए गुप्त समूह में बाँट देते थे। क्या करना है इसका निर्णय स्थानीय स्तर पर ही होता था। ये गुप्त समूह या भूमिगत संगठन इन इलाकों में ज्यादा सक्रिय थे- बम्बई, पूना, सतारा, बड़ौदा, कर्नाटक, केरल, आंध्र, यूपी, बिहार और दिल्ली। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य ही आमतौर पर इन गतिविधियों का नेत त्व कर रहे थे, पर गांधीवाद, फार्वर्ड ब्लाक के सदस्य तथा आतंकवादी भी काफी सक्रिय थे।

भूमिगत कार्यवाहियों में संलग्न लोगों की संख्या में बेशक कमी थी, पर उन्हें व्यापक सहयोग मिल रहा था। व्यवसाई वर्ग ने अपनी थैलियाँ खोल दी थी। उदाहरण के लिए सुमित मोरार जी ने जो बाद में देश की प्रमुख महिला उद्योगपति बनी, अच्युत पटवर्धन के लिए एक नई कार की व्यवस्था की और गिरफ्तार होने से बचाया। बहुत से लोगों ने भूमिगत नेताओं को छिपने की जगह दी। छात्र खबर और परचे लेकर जाने का काम करते थे। पायलट और रेल ड्राईवर बम तथा अन्य सामान इधर से उधर पहुँचाते थे। सरकारी अधिकारी और पुलिस वाले तक गिरफ्तारियों की अग्रिम सूची दे दिया

करते थे।

इस भूमिगत आन्दोलन की मुख्य गतिविधि यह होती थी कि पुलों को उड़ाकर, टेलीफोन के तार काटकर तथा रेलों की पटरी उखाड़कर संचार के साधन नष्ट कर दिए जाएं। सरकारी और पुलिस अधिकारियों तथा पुलिस के मुखबिरों पर भी कहीं-कहीं हमले हुए। यह सच है कि संचार के माध्यमों को नष्ट करने में आन्दोलनकारियों को सीमित ही सफलता मिली होगी, पर ऐसे वक्त में जब सरकार बर्बर दमन पर उतारू थी और खुलेआम राजनीतिक गतिविधियों को असम्भव बना दिया गया था, इन कार्रवाहियों से जनता का मनोबल बरकरार रखा गया। उन दिनों आन्दोलन के समाचार पहुंचाना भी एक महत्त्वपूर्ण काम था। इस द ष्टि से सबसे नाटकीय मामला रहा बम्बई शहर के विभिन्न केन्द्रों से कांग्रेस रेडियो का गुप्त रूप से संचालन। इसके प्रसारणों को मद्रास तक सुना जा सकता था। राममनोहर लोहिया नियमित रूप से कांग्रेस रेडियो पर बोलते थे, नवम्बर 1942 में इसे खोज निकाला और जब्त कर लिया गया।

गांधीजी का उपवासः फरवरी 1943 में एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई। गांधी जी ने जेल में 10 फरवरी से उपवास शुरू कर दिया और घोषणा की कि 21 दिनों तक चलेगा। सरकार गांधी जी पर लगातार दबाव डाल रही थी कि वह भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान हो रही हिंसा की भर्त्सना करें लेकिन गांधी जी का कहना था कि आन्दोलन की इस हिंसा के लिए सरकार ही जिम्मेदार है। गांधीजी का उपवास इस सरकारी दमन का ही जवाब था। जिसके तहत हजारों कांग्रेस जनों को बेवजह जेल में ठूंस दिया गया था।

गांधी जी के उपवास की खबर जैसे-जैसे फैलने लगी, लोगों का आक्रोश बढ़ता गया। देश भर में हड़ताली, प्रदर्शनों और जुलूसों का ताँता लग गया। कलकत्ता और अहमदाबाद इस दिशा में खास तौर पर सक्रिय थे। जेलों के भीतर और बाहर गांधी जी के समर्थन में उपवास हुए। कई सुबह आगा खाँ पैलेस जहाँ गांधी जी को नजरबन्द कर रखा था के बाहर सत्याग्रह करने के लिए छिपकर पूना पहुँच गए। जनसभाएँ कर गांधीजी की रिहाई की माँग की गई और छात्रों, युवकों, व्यापारियों तथा उद्योगपतियों, वकीलों तथा सामान्य नागरिकों और श्रमिक संगठनों एवं समाज के सभी वर्गों की ओर से सरकार के पास हजारों चिट्ठियाँ भेजी गईं, जिनमें यही माँग की गई थी। विदेश में न केवल मेनचेस्टर गार्डियन, न्यू स्टेटसमैन और शिकागो सन ने बल्कि ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी, लन्दन तथा मेनचेस्टर के नागरिकों ने भी गांधी जी को रिहा करने की सलाह दी। इसके लिए संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार का भी दबाव बढ़ा।

19-20 फरवरी को दिल्ली में नेताओं का एक सम्मेलन हुआ। जिसमें प्रतिष्ठित तथा महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों ने भाग लिया। उन सभी की माँग थी कि गांधी जी को तुरन्त रिहा कर दिया जाना चाहिए। कांग्रेस के साथ जिनकी सहानुभूति नहीं थी, ऐसे लोगों में से भी बहुतों को मानना था कि सरकार अब ज्यादती कर रही है। सरकार की प्रतिष्ठा को सबसे ज्यादा आघात उस समय लगा, जब वायसराय की कार्य परिषद के तीन सदस्य, एस.एस. एनी, एन.आर. सरकार और एच.पी. मोदी ने इस सवाल पर इस्तीफा दे दिया। 1942 के आन्दोलन के दमन में इन लोगों ने सरकार का साथ दिया था, पर ये गांधीजी की मौत में साझीदार नहीं बनना चाहते थे।

लेकिन वायसराय और उनके अफसर जरा भी विचलित नहीं हुए ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल ने इस घोषणा से ''जब दुनिया में हम हर कहीं जीत रहे हैं, ऐसे वक्त में हम एक कमबख्त बुड्ढे के सामने कैसे झुक सकते हैं, जो हमेशा हमारा दुश्मन रहा है।'' उनका दुस्साहस काफी बढ़ा हुआ प्रतीत हुआ। गांधी जी की म त्यु की उन्हें जरा भी चिता नहीं थी, वायसराय के एक वक्तव्य से तो ऐसा लगता था कि वे इस सम्भावना के घटित होने से खुश ही होते, ''हमारे संचालनों के लिए भारत कहीं ज्यादा

भरोसेमंद केन्द्र हो जाएगा। इसके अलावा गांधी जी के न रहने पर जो वर्षों से समझौता न होने देने के लिए हर कोशिश करता रहा है, समझौते की सम्भावना काफी बढ़ जाएगी।'' हालात यह थे कि एक ओर पूरा देश गांधीजी की जान बचाने की अपील कर रहा था और दूसरी ओर सरकार अन्तिम संस्कार की तैयारी में मशगूल थी। सेना की टुकड़ियों को किसी भी आपात स्थिति के लिए तैयार रहने को कह दिया गया था। सार्वजनिक शव यात्रा तथा गांधीजी की भस्म को ले जाने के लिए विमान की व्यवस्था हेतु 'उदार' प्रावधान किए गए थे और सरकारी कार्यालयों में आधे दिन की छुट्टी घोषित करने की योजना थी, पर गांधी जी ने हमेशा की तरह अपने विरोधियों को मात दे दी और मरने से इन्कार कर सरकारी इरादों पर पानी फेर दिया।

बहरहाल गांधी जी के उपवास का जो उद्देश्य था, वह भलीभाँति पूरा हुआ। इससे न केवल जन साधारण का मनोबल ऊँचा हुआ और ब्रिटिश विरोधी भावनाओं में उभार आया, बल्कि सारी दुनिया के सामने यह उजागर हो गया कि सरकारी आन्दोलन के तौर तरीके कितने कठोर हैं। सरकार 1942 के दमन का जो औचित्य साबित कर सकती थी, वह खत्म हो गया और साबित हो गया कि गलती सरकार की थी।

विभिन्न राजनीतिक दलों का आन्दोलन के प्रति रवैयाः भारत के सारे दलों की सहानुभूति इस आन्दोलन के प्रति न थी। इस आन्दोलन में भारत के साम्यवादी की बड़ी विचित्र व खेदजनक भूमिका रही। महायुद्ध काल में उसने राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा साम्यवादी रूस की नीतियों का अनुसरण किया। 1939 में जबकि युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो भारत में साम्यवादी दल ने युद्ध को साम्राज्यवादी बताया और भारतीयों से ब्रिटिश सरकार की सहायता करने की अपील की। किन्तु जैसे ही जर्मनी के आक्रमण के कारण रूस मित्र राष्ट्रों से जा मिला, जो भारत के साम्यवादियों ने महायुद्ध को जनयुद्ध की संज्ञा दे दी और भारतीय जनता से अंग्रेजों की सहायता करने के लिए कहा। इस दल ने भारत छोड़ो आन्दोलन का विरोध किया। साम्यवादियों के ये कार्य राष्ट्रीय आन्दोलन की पीठ में छुरा भोंकने के समान थे।

मुस्लिम लीग कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी पर बहुत प्रसन्न थी, उसने भी कांग्रेस के भारत छोड़ो आन्दोलन का विरोध किया, क्योंकि उसका कहना था कि ''आन्दोलन का लक्ष्य भारत की स्वतन्त्रता नहीं वरन् भारत में हिन्दू साम्राज्य की स्थापना करना है और इस कारण यह आन्दोलन मुसलमानों के लिए घातक था।'' मुस्लिम लीग के सर्वेसर्वा जिन्ना ने भी इस आन्दोलन की आलोचना की और मुसलमानों को इसमें भाग न लेने के लिए कहा। उसने सरकार को भरकस सहायता प्रदान की और उसने विरोधी दलों की सहायता से केन्द्र में अस्थाई सरकार की स्थापना का प्रयत्न भी किया, लेकिन इसमें उसे सफलता नहीं मिली।

उदारवादियों ने इस आन्दोलन को अच्छा नहीं समझा। उदारवादी नेता सर तेजबहादुर सप्रू ने कांग्रेस के वर्धा प्रस्ताव को 'अविचारित तथा असामयिक' बताया। दलित वर्गों के नेता डा० अम्बेडकर ने भी इस आन्दोलन को 'अनुत्तरदायित्व पूर्ण और पागलपन का कार्य' बताया। हिन्दू महासभा के प्रधान नेता वीर सावरकर ने इस आन्दोलन की तीव्र आलोचना की। इसमें हिन्दुओं को भाग लेने की अपील की। अकाली दल ने भी इस आन्दोलन का विरोध किया। केवल समाजवादी दल द्वारा इस आन्दोलन में बढ़-चढ़ कर भाग लिया।

आन्दोलन की असफलता के कारणः भारत छोड़ो आन्दोलन भारतीय इतिहास में एक महान जन आन्दोलन था, जिसका उद्देश्य भारत के लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करना था। यह आन्दोलन अपने उद्देश्य में असफल रहा, इसकी असफलता के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं-

(1) **आन्दोलन के संगठन और आयोजन में कमियाँः** भारत छोड़ो आन्दोलन एक जन आन्दोलन

था। परन्तु आन्दोलन के संगठन और आयोजन में कई कमियाँ थीं। नेताओं में दूरदर्शिता का अभाव था। आन्दोलन की घोषणा करने से पूर्व उन्हें अज्ञात स्थान पर चले जाना चाहिए था। परन्तु सरकार ने जब उन्हें बन्दी बना लिया तो आन्दोलन नेत त्व विहीन हो गया। आन्दोलन का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि, ''गांधीजी इस आधार पर काम कर रहे थे कि यदि इस संकट के समय अंग्रेजों को जन आन्दोलन की धमकी दी गई तो वे पत्र व्यवहार तथा बातचीत करेंगे क्योंकि अंग्रेज वास्तविक स्थिति को पहचानते थे। दूसरे उनका विचार था कि 1930 के आन्दोलन की तरह सरकार उनहें गिरफ्तार नहीं करेगी। परन्तु गांधी जी की ये दोनों धारणाएँ गलत निकली।'' जवाहर लाल नेहरू ने भी इस आन्दोलन के सम्बन्ध में लिखा है, ''हमें यह सुनकर आश्चर्य होता था कि गांधी जी इस विश्वास को अभी तक अपनाए हुए हैं कि सरकार से कोई भी समझौता अब भी सम्भव है। वे कहते थे कि मैं इसे हासिल करने के लिए भरसक प्रयत्न करूँगा। यद्यपि वे सरकार के विरुद्ध कार्यवाही करने की काफी बात करते थे। परन्तु उन्होंने यह निश्चित रूप से नहीं बताया कि वे क्या करना चाहते हैं।'' इससे पता चलता है कि 1942 के आन्दोलन में पूर्व निश्चित योजना तथा कार्यक्रम का पूर्ण अभाव था। आन्दोलन के उद्देश्यो में भी एकता नहीं थी। एक ग्रुप अहिंसात्मक ढंग से आन्दोलन चलाने के पक्ष में था, जबकि दूसरा हिंसात्मक ढंग से। अतः ऐसी स्थिति में सरकार के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा नहीं बन सकता था।

(2) **सरकारी सेवा के अधिकारियों एवं उच्च वर्गों की वफादारी:** यह आन्दोलन इसलिए भी असफल रहा कि देशी रियासतों के नरेश, सेना, उच्च अधिकारी तथा कर्मचारी सरकार के प्रति पूर्ण रूप से वफादार रहे। इसलिए सरकार के कार्य में कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई। वे वफादार सेवक आन्दोलनकारियों की गुप्त सूचनाएँ सरकार के पास पहुँचाते थे। इसलिए सरकार को आन्दोलन कुचलने में सफलता मिल गई।

(3) **आन्दोलनकारियों के पास साधन एवं शक्ति का अभावः** सरकार के मुकाबले में आन्दोलनकारियों के पास साधन तथा शक्ति नहीं थी। उनकी न तो गुप्तचर व्यवस्था थी और न ही एक स्थान से दूसरे स्थान को संदेश भेजने के साधन थे। उनकी सरकार की अपेक्षा आर्थिक शक्ति भी कम थी। अतः यह आन्दोलन तत्काल अंग्रेजों को देश से निकालने में असफल रहा। दूसरी ओर सरकार ने आन्दोलन को कुचलने के लिए ऐसा दमन चक्र चलाया जिसका सामना करना जन साधारण के लिए कठिन हो गया।

आन्दोलन का महत्त्वः यद्यपि भारत छोड़ो आन्दोलन असफल रहा परन्तु इस आन्दोलन में आम जनता की हिस्सेदारी तथा समर्थन एक नई सीमा तक पहुंचा। पूर्ववर्ती आन्दोलन की तरह भारत छोड़ो में भी युवा वर्ग काफी सक्रिय रहा। स्कूलों और कालेजों के छात्रों का उत्साह देखते ही बनता था। औरतों ने भी काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, खासतौर पर छात्राओं ने। अरूणा आसफ अली तथा सुचेता कृपलानी ने भूमिगत कार्रवाहियों के संगठन का काफी काम किया और ऊषा मेहता उस छोटे से समूह की महत्त्वपूर्ण सदस्या थी जो कांग्रेस रेडियो चलाती थी। पुलिस दमन झेलते हुए भी लम्बी-लम्बी हड़तालें कर मजदूरों ने महत्त्वपूर्ण कुरबानी दी।

देश भर के किसान, चाहे वह अमीर हो या गरीब इस आन्दोलन की जान थे। पूर्वी यूपी और बिहार, बंगाल तथा महाराष्ट्र में तो उन्होंने विशेष सक्रियता दिखाई, लेकिन दूसरे हिस्सों जैसे आंध्र, केरल और गुजरात के किसान भी सक्रिय रहे। बहुत से छोटे जमींदारों ने भी आन्दोलन में हिस्सा लिया। खासकर उत्तर प्रदेश और बिहार में। बड़े जमींदारों ने तटस्थता का रुख अपनाया और सरकारी दमन में सहयोग नहीं किया। दरभंगा के राजा ने जो काफी बड़े जमींदारों में एक थे, न केवल सरकार को अपनी सशस्त्र लोगों की सेवाएँ देने से इन्कार कर दिया बल्कि गिरफ्तार लोगों की मदद की।

आन्दोलन की एक खूबी यह भी रही कि किसानों ने मौका मिलने के बावजूद जमींदारों के खिलाफ हिंसा नहीं की और अपनी गतिविधियों का लक्ष्य ब्रिटिश सत्ता के प्रतीकों को ही बनाया। वैसे सरकारी अधिकारियों ने खासतौर पर पुलिस और प्रशासन के निचले तबके के अधिकारियों ने हर तरफ आन्दोलनकारियों की मदद की। जेल अधिकारी बन्दियों के प्रति उदार हो गए। वस्तुतः उन दिनों ब्रिटिश शासन की नींव हिल गई थी।

यह सच है कि भारत छोड़ो आन्दोलन में मुसलमानों की हिस्सेदारी बहुत उल्लेखनीय नहीं रही, लेकिन इसमें भी संदेह नहीं कि मुस्लिम लीग के समर्थकों ने भी मुखबरी नहीं की, बल्कि जरूरत पड़ने पर भूमिगत कार्यकर्ताओं को शरण ही दी। कहीं कोई साम्प्रदायिक दंगा नहीं हुआ, जो इस बात का प्रतीक था कि भले ही आन्दोलन में मुस्लिम जनता में उत्साह न जगाया हो, पर कोई रोष भी पैदा नहीं किया गया था।

इस ऐतिहासिक आन्दोलन की एक बड़ी खूबी यह रही कि इसके द्वारा आजादी की माँग राष्ट्रीय आन्दोलन की पहली माँग बन गई। 'भारत छोड़ो' के बाद अब पीछे मुड़ा नहीं जा सकता था। ब्रिटिश सरकार से भविष्य में जो भी बातचीत होनी थी, उसमें सत्ता के हस्तान्तरण का सवाल आना ही था और इस सवाल पर कोई मोलभाव अब नहीं किया जा सकता जैसा कि युद्ध के बाद स्पष्ट हो गया।

अध्याय-12
ब्रिटिश प्रतिक्रिया व सुधार

(अ) साइमन आयोग

1927 के उत्तरार्द्ध में आकर साम्राज्यवाद विरोधी जन-उभार में उफान के साफ लक्षण दिखाई पड़ने लगे। जैसा कि 1919 में रोलट एक्ट बिल के चलते लोगों में उत्तेजना फैली थी, इस बार भी ब्रिटिश सरकार ने लोगों को उत्तेजित करने के लिए आग में घी डालने का काम किया। 8 नवम्बर 1927 को एक आयोग की घोषणा की गई। इस आयोग के सभी सदस्य गोरे थे। इस आयोग का काम इस बात की सिफारिश करना था कि क्या भारत इस योग्य हो गया है कि यहाँ के लोगों को और अधिक संवैधानिक अधिकार दिए जाएँ और यदि दिए जाएँ तो उसका रूप क्या हो? भारत के राष्ट्रवादियों ने बहुत साल पहले ही इस बात की घोषणा की थी कि 1919 का संवैधानिक सुधार अपर्याप्त है। इस सवाल को लेकर वे काफी पहले से शोर मचा रहे थे लेकिन सरकार इस बात को लेकर अड़ी हुई थी कि इस बाबत नए प्रस्ताव पर दस साल के बाद ही विचार किया जा सकता है। लेकिन 1927 में अनुदारवादी ब्रिटिश सरकार को लगा कि आगामी चुनाव में मजदूर दल के हाथों उसकी पराजय हो सकती है। इसलिए उसने तय किया कि ब्रिटिश साम्राज्य के भविष्य से जुड़े हुए इस अहम मसले को अनुभवहीन श्रमिक दल (लेबर पार्टी) के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। इसलिए एकाएक तय किया गया कि विधायी आयोग नियुक्त किया जाएगा जिसे 'साइमन आयोग' के नाम से बाद में जाना गया जो इस आयोग के अध्यक्ष थे।

सारे भारत में इसकी तत्काल और व्यापक प्रतिक्रिया हुई कि जिस आयोग को भारत का राजनीतिक भविष्य निश्चित करना हो, उसकी सदस्यता के लिए एक भी भारतीय को काबिल नहीं माना गया। यह भारत के लिए अपमानजनक बात थी कि इसमें कोई भी भारतीय नहीं था। यह बात नरमदल के विचारों से सहमत लोगों के गले के नीचे नहीं उतरी। इस आयोग के बहिष्कार का आह्वान किया गया जिसका लिबरल फेडरेशन ने समर्थन किया। इसका नेत त्व तेजबहादुर सप्रू ने किया, इनके साथ ही भारतीय औद्योगिक और वाणिज्यिक कांग्रेस और हिन्दू महासभा भी इसमें शामिल थी। मुस्लिम लीग में इस पर मतभेद था लेकिन मुहम्मद अली जिन्ना ने समर्थन किया जिसका लीग में बहुमत था।

लेकिन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ही वह संगठन था जिसने इस बहिष्कार को जन आन्दोलन का रूप दिया। मद्रास के अपने दिसम्बर 1927 के सालाना जलसे में कांग्रेस ने बहिष्कार का संकल्प लिया था और वातावरण इतना उत्तेजनापूर्ण था कि जवाहरलाल नेहरू ने एक प्रस्ताव रखा कि कांग्रेस का लक्ष्य 'पूर्ण स्वराज्य' होगा और वह प्रस्ताव एक झटके में पारित हो गया। लेकिन गांधी जी ने 12 जून 1928 के 'यंग इण्डिया' में स्पष्टीकरण देते हुए लिखा कि बहिष्कार सिर्फ प्रस्ताव पारित करने तक ही सीमित नहीं रहा। उन्होंने कहा, ''कहा जाता है कि स्वतंत्रता का प्रस्ताव ही उचित जवाब है .. .... आयोग की नियुक्ति (साइमन आयोग) को उचित उत्तर मिलना चाहिए, भाषण चाहे कितने भी

बहादुरी से भरे हों, घोषणाएँ चाहे जितनी भी साहसपूर्ण हों, उसको इसकी आवश्यकता नहीं है, इसके लिए उचित कार्यवाही की जानी चाहिए ....।''

3 जनवरी 1928 को जैसे ही साइमन और उनके दोस्त बंबई में उतरे, कार्रवाई शुरू हो गई। उस दिन सभी प्रमुख नगरों तथा कस्बों में हड़ताल रही तथा लोगों ने सामूहिक प्रदर्शनों में हिस्सा लिया, काले झंडे दिखाए गए। मद्रास में प्रदर्शनकारियों का पुलिस के साथ टकराव हुआ, गोली चली और एक आदमी मारा गया। जहाँ वह व्यक्ति मारा गया उस स्थान पर जाने से टी. प्रकाशम को रोकने की नाकाम कोशिश की गई और बदले में उन्होंने अपना सीना बंदूक के आगे कर दिया। उनका ऐसा करना लोगों की विद्रोही चेतना का प्रतीक था। साइमन जहाँ कहीं भी गया - कलकत्ता, लाहौर, लखनऊ, विजयवाड़ा, पूना - सभी स्थानों पर विशाल जनसमूह ने काले झंडे दिखाकर उसका स्वागत किया। जनता की विद्रोही चेतना को पुलिस की लोहे की मूठ वाली लाठियाँ रोक न पाई। हर क्षण विरोध करने के लिए नए-नए रास्ते ईजाद किए जाते रहे। उदाहरणस्वरूप पूना के नौजवानों की कार्यवाही ही लीजिए। लोनावाला से पूना तक रेल मार्ग और सड़क समानान्तर चलते हैं तथा इनके बीच की दूरी भी बहुत कम है। नौजवान एक ट्रक में सवार हो गए और जिस गाड़ी में साइमन महाशय का आयोग दल यात्रा कर रहा था उसके साथ-साथ ट्रक में काले झंडे दिखाते हुए लोनावाला से पूना तक गए। लखनऊ में खलीकुज्जमा ने अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। इस आयोग के सदस्यों के स्वागत का आयोजन केसरबाग में तालुकदारों ने किया था। इस अवसर पर पतंगों और गुब्बारों को उनके ऊपर ''साइमन वापस जाओ'' लिखकर, उन्होंने आकाश में तैरा दिया।

इस विरोध में लोगों ने जितना अपनी रचनात्मक और हास्य-व्यंग्य की प्रतिभा का परिचय दिया उतना ही लोगों ने पुलिस के व्यवहार पर क्रोध जताया क्योंकि विरोध प्रदर्शन करनेवालों के साथ पुलिस का व्यवहार अच्छा नहीं था। लाठी चार्ज बहुत आम बात होती जा रही थी। यहाँ तक कि बड़े तथा सम्माननीय नेताओं को भी नहीं बख्शा गया था। लखनऊ में जवाहरलाल नेहरू और गोविन्द वल्लभ पंत को पुलिस ने लाठियों से पीटा। लेकिन लाहौर में सबसे बुरी घटना घटी, जहाँ पूर्व गर्म दल के नायक तथा पंजाब के अत्यन्त प्रतिष्ठित नेता को 30 अक्टूबर को लाठी से सीने में भयंकर चोट लगी और 17 नवंबर 1928 को उनको घायल किया गया। उनकी मौत के बदले में भगतसिंह तथा उनके साथियों ने गोरे पुलिस अधिकारी को दिसम्बर 1928 में मार डाला।

नौजवानों की पीढ़ी को साइमन आयोग के बहिष्कार के कारण राजनीतिक कार्रवाही का आरम्भिक अनुभव हुआ। नौजवान लोगों की ही इस प्रतिरोध में अत्यन्त सक्रिय भूमिका थी और उन्हीं के कारण इस आन्दोलन में कुछ जुझारुपन का आभास हुआ। यद्यपि 1927 में ही समूचे देश में नौजवानों के आन्दोलन ने अपना आकार ग्रहण करना आरम्भ कर दिया था लेकिन साइमन आयोग के बहिष्कार के कारण एकाएक नौजवानों के संगठन और संघ बनने लगे। आन्दोलन की इस नई लहर में नौजवानों तथा छात्रों के बीच नेहरू तथा सुभाषचन्द्र बोस नेता के रूप में उभरे। समाजवाद के नए क्रान्तिकारी विचारों के अंकुरण और प्रसार के लिए इस आन्दोलन ने काफी लाभदायक भूमिका तैयार की। ''नौजवान भारत सभा'' ''वर्कर्स एंड पेजेंट पार्टी'' जैसे नए गुट बने, जिनका उद्देश्य था मजदूरों और किसानों को संगठित करना और कांग्रेस की क्रान्तिकारी धारा को भीतर से तेज करना।

साइमन आयोग की नियुक्ति उसकी रिपोर्ट, रिपोर्ट से पहले ही लार्ड इरविन की भारत के राजनीतिक भविष्य पर अक्टूबर 1929 की घोषणा आदि विषयों ने भारत-इंग्लैण्ड सम्बन्धों पर बहुत अधिक विवाद उत्पन्न किए। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि साइमन आयोग में किसी भारतीय को न सम्मिलित किए जाने का परामर्श स्वयं लार्ड इरविन का था। इस विचार के पक्ष में मुख्यतः दो तर्क थे। पहला तो यह कि पूरे भारत का प्रतिनिधित्व करनेवाले चुनिंदा भारतीयों का अभाव, जिसका परिणाम यह सम्भव था कि यदि सभी वर्गों और हितों को प्रतिनिधित्व दिया गया तो आयोग का आकार बहुत बड़ा

हो जाएगा और किसी सर्वसम्मत रिपोर्ट के प्रस्तुत किए जाने की सम्भावना समाप्त हो जाती। दूसरा तर्क यह था कि 1919 के अधिनियम में यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित था कि सांविधानिक प्रगति के विषय में ब्रिटिश संसद को संतुष्ट और विश्वस्त होना था। अतः उस संसद के ही सदस्यों को आयोग समुचित रिपोर्ट प्रस्तुत करने में सक्षम था। जहाँ तक भारतीय विचारों को जानने का प्रश्न है वह गोलमेज सम्मेलन के माध्यम से रिपोर्ट के अंतिम रूप से लिखे जाने के पूर्व पूरा किया जा सकता था।

भारतीय विचारों और मत को जानने के लिए आयोग के साथ कुछ भारतीय निर्धारकों की नियुक्ति का विकल्प भी रखा गया। ये निर्धारक आयोग के साथ-साथ प्रमाण और साक्ष्य तो इकट्ठा करते परन्तु रिपोर्ट लिखने में उनको कोई योगदान नहीं होता। ज्यों ही आयोग की नियुक्ति का समय नजदीक आता गया, यह स्पष्ट होता जा रहा था कि सरकारी स्तर पर भारतीय मत का समर्थन प्राप्त करने के इन अभ्यासों का कोई अर्थ नहीं था। आयोग की नियुक्ति के पूर्व महात्मा गांधी, विट्ठल भाई पटेल, और एम.ए. अंसारी ने लार्ड इरविन से भेंट की और उन्होंने आयोग और उसकी कार्यविधि पर घोर निराशा प्रकट की। इन्हीं प्रतिकूल परिस्थितियों में सात सदस्यीय ''भारतीय सांविधिक आयोग'' (इंडियन स्टेटयूटरी कमीशन) की 8 नवम्बर 1927 को नियुक्ति की घोषणा की गई। आयोग का अध्यक्ष सर जॉन साइमन था। उसके अन्य सदस्यों में लॉर्ड बर्न हैम, अर्ल ऑफ स्टूथकोना, एडवर्ड केडागॉन, वर्नन हार्मशार्न, जी.आर. लैनफाक्स, और सी.आर. ऐटली थे। आयोग ने पहली बार 1928 को फरवरी में भारत का दौरा किया। भारत में कुछ अपवादों का छोड़कर सभी राजनैतिक दलों ने इस सम्पूर्ण गोरे आयोग का बहिष्कार किया।

साइमन आयोग के बहिष्कार का एक प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि भारत के राजनीतिक दलों ने अपने वैचारिक मतभेदों को भुलाकर एक संयुक्त मंच की स्थापना की जिसे सर्वदलीय सम्मेलन कहा जाता है। 19 मई 1928 को सम्मेलन की बंबई बैठक में मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति बनाए गए जिसके अन्य सदस्य थे, तेज बहादुर सप्रू, सर अली इमाम, शोएब कुरेशी और एम.आर. जयकर। इसी समिति ने वह रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसे नेहरू-सप्रू रिपोर्ट या साधारणतया नेहरू रिपोर्ट कहते हैं। सम्मेलन की चौथी बैठक लखनऊ में 18 से 31 अगस्त 1928 में डा० एम.ए. अंसारी की अध्यक्षता में हुई और अन्त में कलकत्ता में राष्ट्रीय सम्मेलन की बैठक 22 दिसम्बर 1928 से 1 जनवरी 1929 तक हुई और यहीं नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार किया गया।

नेहरू रिपोर्ट ने भारत के लिए एक डोमिनियन संविधान की कल्पना की थी। केन्द्र में द्विसदनी विधायिका की स्थापना, बिना सम्पत्ति या शिक्षा की योग्यता के वयस्क मताधिकार और एक सशक्त केन्द्रीय सरकार की स्थापना इसकी अन्य संस्तुतियाँ थीं। रिपोर्ट की सबसे बड़ी कमजोरी थी अल्पसंख्यकों के लिए विशेषकर मुसलमानों को प थक् चुनाव प्रणाली की सुविधा की समाप्ति। 28 अगस्त 1926 को लखनऊ की बैठक में समिति ने संयुक्त मतदाता मंडलों की स्थापना की सिफारिश की। अल्पसंख्यकों के लिए यदि आवश्यकता का अनुभव किया गया तो संयुक्त प्रणाली में ही स्थान सुरक्षित करने की बात कही गई थी। कलकत्ता अधिवेशन में जिन्ना ने समिति के दोनों मुख्य प्रस्तावों का विरोध किया और अपने संशोधन रखे। केन्द्रीय विधायिका में वे मुसलमानों के लिए एक तिहाई स्थान सुरक्षित रखना चाहते थे और प्रान्तों की अधिकतम स्वायत्तता के पक्ष में थे। हिंदू महासभा के अत्यधिक प्रभाव के कारण राष्ट्रीय सम्मेलन में जिन्ना के विचारों और उनकी भावनाओं की अनदेखी कर दी गई । अत्यन्त खिन्न होकर जिन्ना ने अलग रास्ता अपनाने की घोषणा की और कालांतर में मार्च 1929 में अपने चौदह सूत्रीय सिद्धान्तों को प्रकाशित किया। जिन्ना को स्वयं तो कोई राजनीतिक लाभ नहीं हुआ, परन्तु नेहरू रिपोर्ट हमेशा के लिए अप्रासंगिक हो गई।

राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1928 के अपने अधिवेशन में यदि एक वर्ष के अन्दर नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार नहीं किया तो पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा का संकल्प किया था। साइमन आयोग ने अपना कार्य अभी भी

समाप्त नहीं किया था, परन्तु लॉर्ड इर्विन उसके बहिष्कार के सम्बन्ध में राजनीतिक एकता से बहुत प्रभावित था। इसलिए इसके पहले कि कांग्रेस कोई क्रान्तिकारी निर्णय ले ले, उसने इंग्लैण्ड जाकर सरकार से विचार-विमर्श किया। इंग्लैण्ड से लौटकर 31 अक्टूबर 1929 को उसने घोषणा की कि 1917 की माण्टेग्यू घोषणा का एक ही उद्‌देश्य सम्भव था और वह था भारत को डोमिनियन स्टेट्स के बाद भारत के प्रतिनिधियों का गोलमेज सम्मेलन बुलाने के कार्यक्रम की भी घोषणा की। 1917 की घोषणा पर लार्ड इर्विन की व्याख्या की इंग्लैण्ड की कंजरवेटिव पार्टी ने घोर आलोचना की और इसको साइमन आयोग की अवमानना बताया। उनके विचार में रिपोर्ट प्रकाशित होने से पहले ही भारत के सांविधानिक भविष्य पर टिप्पणी आयोग के महत्त्व को घटाना था। जिस कठोर भाषा का प्रयोग इर्विन की भर्त्सना करने के लिए किया गया उससे भारत का राजनीतिक वातावरण कटुता से भर गया और जिस सद्‌भाव की भावना को इर्विन पैदा करना चाहता था वह सम्भव नहीं हो सका। कांग्रेस ने 1929 के लाहौर अधिवेशन में नेहरू रिपोर्ट द्वारा दी गई एक वर्ष की अवधि समाप्त होने पर 'पूर्ण स्वराज' करने के लक्ष्य की घोषणा कर दी।

साइमन आयोग ने भारत के लिए केन्द्र में एकात्मक शासन के ढाँचे को (जो 1919 तक वहाँ के संविधान की मुख्य विशेषता थी) अस्वीकार कर दिया। उसका कहना था कि 1917 की अगस्त की घोषणा के आधार पर जिस व्यवस्था को 1919 अधिनियम से स्थापित किया गया था, उसे भारत की प्रान्तीय विशिष्टताओं को ध्यान में रखते हुए बनाए रखना अनुचित होगा। इसके स्थान पर आयोग ने संघीय शासन तंत्र की स्थापना का प्रस्ताव किया, क्योंकि संघीय व्यवस्था में ही भविष्य में देशी रियासतों को सम्मिलित किया जा सकेगा।

आयोग ने 1919 के सुधारों में विशेषकर प्रान्तीय क्षेत्र में और भी प्रगति करने की आवश्यकता को स्वीकार किया। इसलिए उसने डायार्की की व्यवस्था को समाप्त करने की संस्तुति की। प्रान्तों की कार्यकारिणी जो चुने हुए मंत्रियों द्वारा निर्मित होगी, पूर्णरूपेण विधायिका के प्रति उत्तरदायी होगी और उसके ऊपर से नियंत्रण नहीं लाया जाना चाहिए। आयोग के शब्दों में हर सूबे का अपना स्वामी होना चाहिए। प्रान्तीय शासन को सुद ढ़ किया जाना चाहिए। यद्यपि आयोग ने मतदाताओं की संख्या बढ़ाने पर बल दिया, परन्तु वह नेहरू समिति के उस प्रस्ताव से सहमत नहीं था जिसमें मतदाताओं की संख्या वर्तमान 65 लाख से एकदम 10 करोड़ कर दी गई थी। फिर भी वह पूरी जनसंख्या के बीस प्रतिशत भाग को मत देने का अधिकार देने का इच्छुक था।

केन्द्र के सम्बन्ध में अपनी विचारधारा के अनुसार साइमन आयोग ने संघीय प्रव त्तियों को सुद ढ़ करने के लिए केन्द्रीय विधायिका को विभिन्न प्रान्तों के हितों का प्रतिनिधित्व करनेवाली संस्था बनाने का निर्णय किया। इसके लिए उसने अप्रत्यक्ष प्रणाली से चुनाव करने की संस्तुति की। केन्द्र में एक फेडरल असेंबली का प्रस्ताव था जिसकी अधिकतम संख्या 250 से 280 के बीच होनी थी। आयोग के अनुसार अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली का विरोध अधिक सैद्धांतिक था न कि व्यावहारिक। कौंसिल ऑफ स्टेट के लिए उसकी संख्या और मनोनीत और चुने हुए सदस्यों का अनुपात वही रखा गया जो वर्तमान संविधान में नियत था। सर जॉन साइमन स्वयं साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली का विरोधी था। परन्तु माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड की ही भाँति आयोग ने भी कांग्रेस-लीग समझौते के साम्प्रदायिक अंश को स्वीकार कर लिया। सबसे विचित्र और प्रतिक्रियावादी प्रस्ताव वह था जिसमें आयोग ने केन्द्र की कार्यकारिणी को किसी भी रूप में उत्तरदायी बनाने से इन्कार कर दिया। चूँकि आयोग ने डायार्की का प्रान्तों के लिए तिरस्कार कर दिया, इसलिए उसे केन्द्र के लिए भी प्रयोगात्मक स्तर पर अस्वीकार कर दिया। इसी कारण आयोग ने केन्द्र और प्रान्तों के बीच किसी भी प्रकार से विधायी शक्ति से विभाजन की आवश्यकता नहीं समझी।

(ब) 1935 का अधिनियम

अधिनियम 1935 और ब्रिटिश-नीति

अंग्रेजी हुकूमत 1932-33 के दौरान भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने में सफल तो हो गई थी, पर उसे मालूम था कि उसकी दमन की नीति बहुत दिनों तक कामयाब नहीं हो सकेगी। आनेवाले दिनों में फिर आन्दोलन छिड़ सकता है और उसे दमन के बल पर दबाया नहीं जा सकता, अतः हुकूमत राष्ट्रीय आन्दोलन को स्थायी रूप से कमजोर करने की रणनीति बनाने लगी। अंग्रेजी हुकूमत ने तय किया आन्दोलन को कमजोर बनाने के लिए कांग्रेस में फूट डालकर उसे तोड़ना है। उसके लिए संवैधानिक सुधारों का जाल फेंककर कांग्रेस के एक हिस्से को औपनिवेशिक प्रशासन में समाहित कर लिया जाए। सुधारों के चलते उनके दिल में संविधान के प्रति आस्था जगाई जाए और फिर आन्दोलन की बची-खुची ताकत को दमन के बल पर खत्म कर दिया जाए।

अपनी इन्हीं नीतियों को अमली रूप देने के लिए ब्रिटिश संसद ने अगस्त 1935 में 'गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1935' पारित किया। विभिन्न प्रान्तों और राजाओं-महाराजाओं की रियासतों को मिलाकर भारत को एक गणतंत्र का दर्जा दिया गया। संघीय विधायिका के लिए रियासतों के प्रतिनिधियों की नियुक्ति का मूल उद्देश्य राष्ट्रवादियों पर नियंत्रण स्थापित करना तथा उनके किसी भी प्रयास को विफल करना था। वयस्क व्यक्तियों की संख्या का छठा हिस्सा ही मतदान का अधिकारी था। प्रतिरक्षा और विदेश विभाग संघीय विधायिका के अधिकार के बाहर थे। इसके अलावा बाकी मामलों में भी वायसराय को हस्तक्षेप करने व नियंत्रण स्थापित करने का विशेषाधिकार प्राप्त था।

प्रान्तों के प्रशासन का तरीका भी बदल गया। अब प्रान्तों का संचालन 'प्रान्तीय स्वायत्तता' के सिद्धान्त पर होना था। इसके तहत सभी प्रान्तीय विभागों का कामकाज निर्वाचित मंत्रियों को देखना था। कहने के लिए तो प्रान्तीय शासन की बागडोर मंत्रियों के हाथ में थी, पर उनके ऊपर गवर्नरों की नियुक्ति का प्रावधान था। गवर्नर को ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त थे, जिनके चलते वह किसी भी मामले में हस्तक्षेप कर सकता है। विशेषकर अल्पसंख्यकों, अधिकारियों कानून-व्यवस्था और अंग्रेजों के हितों से संबद्ध मामलों में गवर्नर को अधिकार था कि वह जब चाहे प्रशासन को अपने हाथ में ले ले और जब तक चाहे उस पर अपना कब्जा बरकरार रखे। इस प्रकार इस नए अधिनियम में भी वास्तविक राजनीतिक और आर्थिक सत्ता तो अंग्रेजों के हाथ में ही थी। उपनिवेशक की पकड़ ढीली नहीं हुई थी।

अधिनियम 1935 की संयुक्त संसदीय कमेटी के अध्यक्ष और 1936 से भारत के वायसराय लिलिथगों ने तो बाद में लिखा भी ''अधिनियम 1935 तो इसलिए पास किया गया, क्योंकि हम समझते थे कि भारत पर अंग्रेजों का प्रभुत्व बरकरार रखने का सबसे बढ़िया तरीका यही है। भारतीयों के हित में संविधान में संशोधन करना हमारी नीति नहीं थी और न हम भारतीयों को सत्ता सौंपने की जल्दबाजी में ही थे। हमारा तो प्रयास यही था कि जब तक सम्भव हो भारत ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बना रहे।

अंग्रेजी हुकूमत का यह भी मानना था कि सुधारों के सवाल पर कांग्रेस में फूट पड़ जाएगी। पस्त हिम्मत कांग्रेस के भीतर संविधानवादियों तथा दक्षिणपंथियों और वामपंथियों में झगड़ा शुरू हो जाएगा। संवैधानिक व अन्य रियायतें देकर संवैधानिक तरीकों से संघर्ष में विश्वास रखनेवालों को सत्ता के प्रति निष्ठावान बनाया जा सकता है और जनान्दोलन की राह से अलग किया जा सकता है। राष्ट्रवादी खेमे में इस गुट के प्रभावी होने पर राष्ट्रीय आन्दोलन कमजोर पड़ जाएगा और अगर संविधानवादियों को अपनी तरफ मोड़ने में हुकूमत कामयाब रही, तो राष्ट्रवादी खेमे में जुझारु और

वामपंथी ताकतें जल-भुन उठेंगी, क्योंकि उनके विचार से संविधानवादियों का यह कदम साम्राज्यवाद से समझौता और जनान्दोलन के साथ गद्दारी होगा। इस प्रकार ये वामपंथी या तो खुद कांगेस से अलग हो जाएंगे या फिर उनकी दक्षिणपंथ-विरोधी आक्रामक राजनीति के कारण दक्षिणपंथी खेमा खुद उन्हें कांग्रेस से अलग कर देगा और दक्षिणपंथी खेमे से अलग-थलग पड़े वामपंथियों की रही-सही ताकत पुलिस दमन के बल पर खत्म की जा सकती है।

प्रान्तीय स्वायत्तता के पीछे भी अंग्रेजों की कुटिल चाल थी। वे मानते थे कि इसके चलते कांग्रेस के भीतर कई प्रभावशाली प्रान्तीय नेता पैदा होंगे जो प्रशासनिक अधिकारों को अपने-अपने ढंग से इस्तेमाल करना चाहेंगे। ये नेता धीरे-धीरे अपने प्रशासकीय विशेषाधिकारों को सुरक्षित करना सीख जाएँगे और इस तरह ये राजनीतिक सत्ता के स्वायत्त केन्द्र बन जाएँगे। इस प्रकार कांग्रेस का प्रान्तीयकरण हो जाएगा और अखिल भारतीय केन्द्रीय नेत त्व यदि समाप्त न हो सका, तो कमजोर तो पड़ ही जाएगा। जैसा कि 1936 में लिलिथगो ने लिखा था, ''सीधे संघर्ष से बचने का सबसे बढ़िया तरीका है और प्रान्तीय स्वायत्तता, क्योंकि प्रान्तीय स्वायत्तता के माध्यम से ही क्रान्ति के सबसे बड़े हथियार कांग्रेस को नष्ट किया जा सकता है।''

अधिनियम 1935 का विरोध सभी भारतीयों ने किया, कांग्रेस ने इसे पूरी तरह नामंजूर कर दिया। कांग्रेस ने इसके बदले आजाद भारत के लिए संविधान बनाने की माँग की। उसकी माँग थी कि एक संविधान सभा का गठन किया जाए, जिसके सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर हो।

V 1935 का भारत सरकार अधिनियम

1935 का अधिनियम एक विस्त त और विशाल अधिनियम था, जिसके द्वारा प्रत्येक द ष्टि से एक सर्वांगीण संविधान की स्थापना का प्रयास किया गया था। पूरे अधिनियम के चौदह खंड और दस अनुसूचियाँ थी। कुल मिलाकर इसमें 451 धाराएँ थीं। भारत सरकार के पूर्व रिफार्म्स कमिश्नर एच. वी. हॉडसन के अनुसार यह एक ऐसा भवन था जिस देखकर बरबस प्रशंसा करनी पड़ती थी। अधिनियम के दूसरे खंड को छोड़कर इसके अन्य सभी भाग 1 अप्रैल 1937 से लागू हो गए। दूसरा खंड भारतीय संघ से सम्बन्धित था जिसका कार्यान्वयन कुछ शर्तों पर आधारित था, जिन्हें आगे स्पष्ट किया जाएगा।

आदर्श स्थिति में अधिनियम के द्वारा गवर्नरों के द्वारा शासित प्रान्तों और देशी रियासतों के एक संघ (फेडरेशन) की स्थापना की गई थी। प्रान्तों में, 1919 में स्थापित डायर्की (द्वैधशासन) को समाप्त करके पूर्ण स्वायत्तता की स्थापना इस अधिनियम की दूसरी प्रमुख विशेषता थी। शासनाध्यक्ष भारत के गवर्नर को अब दो भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ निभानी थीं। ब्रिटिश भारत में वह ब्रिटिश ताज का प्रतिनिधि-गवर्नर जनरल के रूप में था। भारतीय रियासतों के लिए वह ब्रिटिश सम्राट का व्यक्तिगत प्रतिनिधि (क्राउन रिप्रेजेंटेटिव) था। इन दोनों ही उत्तरदायित्वों को निभाने की भूमिका गवर्नर जरनल के व्यक्तित्व में निहित थी।

शासन के अधिकारों को संघीय और प्रान्तीय क्षेत्रों में प थक् करने के लिए विधायी शक्ति को सातवीं अनुसूची के अनसुार, संघीय, प्रान्तीय और समवर्ती सूचियों में विभाजित कर दिया गया था। ये ही सूचियाँ संघ और प्रान्तों के बीच शासन के विषयों को भी निर्धारित करती थीं। यह ध्यान देने का तथ्य है कि ये सूचियाँ 1919 में केन्द्र और प्रान्तों के बीच विषयों के वितरण से भिन्न थीं। जहाँ पर 1919 में यह वितरण सत्ता के विकेन्द्रीकरण से प्राप्त हुआ था, वहाँ 1935 में केन्द्र और प्रान्त के अधिकार उनकी मूलभूत शक्तियाँ थीं जो उन्हें संविधान से प्राप्त थीं।

(क) प्रान्तीय संविधान

1935 के अधिनियम की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसके द्वारा पहली बार, प्रान्तों को एक स्वतंत्र सांविधानिक और कानूनी रूप प्राप्त हुआ था। प्रान्तों की विधायी शक्ति 1919 की ही सूची पर आधारित थी और उसमें नगण्य परिवर्तन किया गया था। उसके अतिरिक्त प्रान्तों को अब से केन्द्र के साथ समवर्ती सूची के कुछ विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार था। समवर्ती क्षेत्र में केन्द्र और प्रान्तों के कानूनों में विवाद होने पर केन्द्र के ही कानून की प्रधानता स्वीकार की जाती। प्रान्तों की वित्तीय शक्ति उनको केन्द्र से और भी अधिक स्वतंत्र बनाने के लिए दी गई थी। अब विदेशों में भी प्रान्त अपने लिए ऋण उठा सकते थे और उसके लिए भारत मंत्री की अनुमति की आवश्यकता नहीं थी। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि प्रान्त अब कुछ विशिष्ट परिस्थितियों को छोड़कर केन्द्र और भारत मंत्री के निर्देशन और नियंत्रण से सर्वथा मुक्त थे।

1935 के अधिनियम के द्वारा बर्मा को अब भारत से प थक् कर दिया गया। ब्रिटिश सम्राट के प्रशासनिक आदेशों (ऑडर्स-इन-कौंसिल) से सिंध और उड़ीसा को नए प्रान्तों के रूप में निर्मित किया गया। ये आदेश 3 मार्च 1936 को लागू कर दिए गए। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त को पूरे प्रान्त का दर्जा दे दिया गया। इस प्रकार ब्रिटिश भारत 11 प्रान्तों में विभक्त हो गया- बंगाल, मद्रास, बंबई, संयुक्त प्रान्त, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रान्त, पंजाब, सिंध, असम और उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त। ब्रिटिश सम्राट के प्रशासनिक आदेशों से वर्तमान प्रान्तों की सीमा में परिवर्तन और नए प्रान्तों का निर्माण भी सम्भव था।

मद्रास, बंगाल, बंबई, संयुक्त प्रान्त और बिहार में द्विसदनी विधायिकाओं का प्रावधान था। अन्य प्रान्तों में पहले ही की तरह एक सदनवाली विधायिका थी।

जहाँ तक मताधिकार का प्रश्न था वह सम्पत्ति के अधिकारों पर आधारित था और अनुसूची 10 में उसके विस्त त प्रावधान उल्लिखित थे। 1919 की तुलना में मतदाताओं की संख्या बहुत विस्त त हो गई थी, अब उनकी संख्या तीन करोड़ हो गई थी।

विधायिका का उच्च सदन विधान परिषद् (लेजिस्लेटिव कौंसिल) कहा जाता था। इसका संविधान अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग था। बंगाल और बिहार में विधान परिषदों को चुनने के लिए वहाँ विधानसभाओं के सदस्यों को चुनाव मंडल की तरह प्रयोग किया जाता था। अन्य प्रान्तों में विधान सभाओं की कोई भूमिका नहीं थी। विधान परिषदों में भी स्थान साम्प्रदायिक आधार पर बँटे हुए थे। उदाहरण के लिए बंगाल की विधान की कुल संख्या 63 से 65 के बीच थी। उसमें गैर मुस्लिमों द्वारा 10, मुसलमानों द्वारा 17, यूरोपियनों द्वारा 3, और विधानसभा द्वारा 27 सदस्यों को चुना जाना था। इसके अतिरिक्त प्रान्त का गवर्नर 6 से 8 सदस्यों को मनोनीत कर सकता था। स्पष्टतया विधान परिषद् के मतदाताओं के योग्यता बहुत ऊँची सम्पत्ति के अधिकारों पर आधारित थी। विधानसभाओं के संघटन और संविधान में भी प थक् चुनाव प्रणाली और 'वेटेज' के सिद्धान्त को पूरी तरह से लागू किया गया था। विभिन्न समुदायों और सम्प्रदायों में साम्प्रदायिक निर्णय और उसके परिवर्द्धित रूप पूना समझौते की धाराओं के अनुसार स्थानों का वितरण किया गया था। विधानसभाओं की सदस्य संख्या 1935 के अधिनियम द्वारा ही निश्चित कर दी गई थी। उदाहरण के लिए बंगाल की विधानसभा की संख्या 250, संयुक्त प्रान्त की 228, मद्रास की 215, बिहार की 152, मध्य प्रान्त की 112, आसाम की 108, उड़ीसा और सिंध की 60 और पश्मिोत्तर सीमा प्रात के लिए 50 थी। यदि संयुक्त प्रान्त की विधानसभा का उदाहरण लिया जाए तो विभिन्न वर्गों और समुदायों में स्थानों के वितरण की तस्वीर सामने आ जाती है जो अन्य प्रान्तों पर भी नगण्य परिवर्तन के साथ लागू होती है। वहाँ कुल स्थान 228 थे; जो गैर-मुस्लिमों को 140, मुस्लिम 64, ऐंगलो इण्डियन और यूरोपियन 3, ईसाई 2, श्रम 3,

स्त्रियाँ 6, व्यापार 3 और अन्य 7 स्थानों में वितरित था।

प्रान्तीय स्वायत्तता के कार्यान्वयन के दो मुख्य स्रोत थे एक तो 1935 के अधिनियम की धाराएँ और दूसरा गवर्नर जनरल को दिया गया निर्देश का प्रपत्र (इन्स्ट्रूमेंट ऑफ इंस्ट्रक्शंस)। प्रोफेसर कूपलैण्ड के अनुसार निर्देश का प्रपत्र संविधान का अभिन्न अंग था। अधिनियम के अनुसार प्रान्त के गवर्नर को सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिमंडल का प्रावधान था। परन्तु कुछ विषयों के शासन के लिए गवर्नर अपने विवेक (डिसकीशन) का प्रयोग कर सकता था और कुछ अन्य विषयों में अपने व्यक्तिगत, विचार (जजमेंट) का प्रयोग कर सकता था।

जिन विषयों के लिए गवर्नर अपने विवेक से कार्य करता था, उनमें मंत्रियों की सलाह देने का कोई हक नहीं था। ये कार्य थे- विधानसभा के अधिवेशन को बुलाना, विधेयकों पर अपनी सहमति देना या न देना या उसे सुरक्षित रखना, प्रान्त के पिछड़े और वर्जित क्षेत्रों का शासन आदि। यदि गवर्नर चाहता तो मंत्रियों की व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से सलाह ले सकता था पर उनको मानने के लिए बाध्य नहीं था।

जहाँ तक गवर्नर के व्यक्तिगत 'विचार' से कार्य करने का प्रश्न था ऐसे अधिकारों का प्रयोग वह अपनी विशेष जिम्मेदारियों (स्पेशल रेस्पांसिबिलिटी) को पूरा करने के लिए करता था। ये जिम्मेदारियाँ निम्नलिखित थीं- (1) प्रान्त या उसके किसी भाग में शांति और व्यवस्था के लिए अभूतपूर्व गंभीर संकट का निवारण, (2) अल्पसंख्यक वर्गों के समुचित हितों की रक्षा, (3) सरकार कर्मचारियों को अधिनियम के अन्तर्गत रक्षा, (4) ब्रिटिश व्यावसायिक हितों की प्रशासनिक विभेद की नीति से रक्षा, (5) प्रान्तों के सामान्य शासन की परिधि से वर्जित क्षेत्रों में शान्ति की व्यवस्था, (6) देशी रियासतों और उसके शासकों के अधिकारों की रक्षा और (7) गवर्नर जनरल द्वारा संघीय हितों की रक्षा के लिए दिए गए निर्देशों का पालन करना। व्यक्तिगत विचार के अन्तर्गत आनेवाले विषयों पर मंत्रियों को सलाह देने का हक तो था ही, अपेक्षित भी था परन्तु गवर्नर ऐसे विषयों पर दी गई सलाह पर विचार करने के बाद उस पर कार्य करने या न करने के लिए स्वतंत्र था। जहाँ तक विधायिका में वित्तीय कार्य-विधि का प्रश्न था, उस सम्बन्ध में सामान्य संसदीय परम्पराओं को पालने करने का प्रावधान था। लेकिन कुछ प्रान्तीय व्यय, प्रान्तीय आय पर महत्त्वपूर्ण भार (चार्ज) थे, अतः वह विधायिका के मतों से मुक्त थे। वे व्यय के मद थेः गवर्नर, मंत्रियों, न्यायाधीशों के वेतन, वर्जित क्षेत्रों के शासन का व्यय और ऋणों को चुकाने की धनराशि। गवर्नर के वेतन को छोड़कर अन्य सभी मदों पर विधान सभा में बहस की जा सकती थी।

अपनी विशेष जिम्मेदारियों के निर्वाह के लिए और अपने 'विवेक' द्वारा अधिकारों के प्रयोग के लिए गवर्नर के पास सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही प्रकार की विधायी शक्तियाँ थीं। एक ओर तो वह किसी विधेयक पर अपनी सहमति देने से इन्कार कर सकता था या उन्हें विधायिका के पास पुनर्विचार के लिए वापस कर सकता था; दूसरी ओर वह उन्हें गवर्नर जनरल के विचार के लिए सुरक्षित रख सकता था। आपातकालीन स्थिति में वह ऐसे अध्यादेश लागू कर सकता था जिसकी अवधि छः महीनों की होती थी। इसके अतिरिक्त उसे ऐसे अधिनियमों को भी पारित करने का अधिकार था जिन्हें 'गवर्नर' का अधिनियम (गवर्नर एक्ट) कहा जाता था। उसकी वही मान्यता और स्थायित्व था जो विधायिका से पारित किसी अधिनियम का। गवर्नर की शक्ति के अंतिम उदाहरण के रूप में उसके वे अधिकार थे, जो वह प्रान्तों में सांविधानिक व्यवस्था भंग हो जाने पर गवर्नर जनरल की सहमति से अध्यादेश के द्वारा प्रयोग करता था। इस स्थिति में उसके पास प्रान्तीय शासन की सारी शक्ति आ जाती थी। इस कार्यवाही की सूचना अविलम्ब भारतमंत्री को देनी होती थी और ऐसे अध्यादेशों को ब्रिटिश संसद के पटल पर रखना होता था।

जब भी गवर्नर अपने (विवेक) या अपने व्यक्तिगत 'विचार' से कार्य करता था तो उसका गवर्नर जनरल के नियंत्रण में रहकर कार्य करना होता था और ऐसी स्थिति में उसे उन सभी आदेशों को मानना होता था जो उसे समय-समय पर प्राप्त होते रहे हैं। दूसरे शब्दों में, इस क्षेत्र में उसको भारतमंत्री और उसके माध्यम से ब्रिटिश संसद के नियंत्रण में रहता था। गवर्नर के ये दो प्रकार के अधिकार सुरक्षा के प्रावधान (सेफगार्ड्स) कहे गए थे इनके द्वारा निश्चित सीमाओं के अतिरिक्त प्रान्तों में पूर्ण स्वायत्तता थी। प्रान्तों में डायर्की समाप्त कर दी गई और सारा शासन मंत्रिमंडलीय पद्धति पर चलाया जाने लगा।

(ख) संघीय शासन

1935 के अधिनियम का दूसरा खंड 'संघ' की स्थापना सम्बन्धित प्रावधानों का उल्लेख करता है। संघ उसी समय अस्तित्व में आता, जब ब्रिटिश सम्राट के पास ब्रिटिश संसद विधिवत एक अभिभाषण प्रस्तुत करती। इस सम्बन्ध में तब तक कोई घोषणा नहीं की जा सकती थी जब तक पर्याप्त संख्या में देशी रियासतें संघ की स्थापना की इच्छुक नहीं हों। यह संख्या इतनी होनी चाहिए थी (1) जिससे कौंसिल ऑफ स्टेट में देशी रियासतों के लिए निर्धारित 104 स्थानों में से 52 स्थानों को भरा जा सके, (2) और जो देशी रियासतों की जनसंख्या के आधे भाग का प्रतिनिधित्व करते हों। किसी रियासत का शासक उस समय संघ में सम्मिलित हुआ माना जाता जब वह विलय के प्रपत्र (इन्स्ट्रूमेंट ऑफ एक्सेशन) पर हस्ताक्षर करके स्पष्टरूप से वह निर्दिष्ट करता कि संघ की सरकार और विधायिका को उसके राज्य में शासन का अधिकार संघीय सूची के अनुसार उन्हीं विषयों पर होगा जिनको कि शासक ने अपने विलय के प्रपत्र में शामिल किया था। प्रत्येक शासक को संघ में आने का अधिकार उसकी स्वेच्छा पर आधारित था, उस पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला जा सकता था।

संघीय विधायिका, जब भी अस्तित्व में आती, वर्तमान केन्द्रीय विधायिका की ही भाँति द्विसदनी थी। राज्य परिषद् (कौंसिल ऑफ स्टेट) की कुल संख्या 260 थी। उसमें 156 स्थान ब्रिटिश भारत को और 104 देशी रियासतों को नियत किए गए थे। कौंसिल ऑफ स्टेट को कभी भँग नहीं किया जाना था परन्तु उसके एक तिहाई सदस्यों को हर तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करने का प्रावधान था। देशी रियासतों के प्रतिनिधि उनके शासकों द्वारा मनोनीत किए जाते थे। ब्रिटिश भारत के छः सदस्यों को भी मनोनीत किए जाने का प्रावधान था। शेष 150 स्थानों में 10 को छोड़कर ब्रिटिश भारत के विभिन्न प्रान्तों में जनसंख्या के आधार पर वितरित कर दिया गया था। मद्रास, बंगाल और संयुक्त प्रान्त में प्रत्येक को 20 स्थान, पंजाब, बंबई और बिहार में प्रत्येक को 16 स्थान, मध्य प्रान्त को 8 स्थान, असम, पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, उड़ीसा और सिंध में प्रत्येक को 5 स्थान, 4 चीफ कमिश्नर द्वारा शासित प्रान्तों (ब्रिटिश बलूचिस्तान, दिल्ली, अजमेर-मारवाड़ और कुर्ग) में प्रत्येक को 1 स्थान प्रदान किए गए थे। ऐंग्लो-इण्डियन, यूरोपियन गैर भारतीय ईसाई समुदाय को संयुक्तरूप से 10 स्थान दिए गए। विभिन्न प्रान्तों में चुने जानेवाले स्थानों का वितरण साम्प्रदायिक आधार पर किया गया था। इस प्रकार 75 स्थान गैर-मुस्लिम या साधारण चुनाव क्षेत्रों को, 49 मुसलमानों को, 4 सिखों को, 6 अनुसूचित जातियों को और 6 स्थान महिलाओं के लिए नियत किए गए थे। इन 140 स्थानों के लिए प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली की व्यवस्था थी। पर उनको चुनने का मताधिकार बहुत कम लोगों को दिया गया था। अनुमानतः राज्य परिषद् (काउंसिल आफ स्टेट) के निर्वाचकों की संख्या 15 लाख थी।

संघीय असेम्बली जो विधायिका के नीचे का सदन थी, की अवधि यदि वह पहले नहीं भँग कर दी गई, पाँच वर्षों की थी। इसकी पूरी संख्या 375 थी, जिसमें 250 सदस्य ब्रिटिश भारत के और 125 सदस्य देशी रियासतों के नियत किए गए थे। जहाँ तक रियासतों के भाग का प्रश्न था उसका वितरण जनसंख्या के आधार पर किया गया था। इस प्रकार हैदराबाद को 16 स्थान, मैसूर को 7 और ट्वान्कोर को 5 स्थान निश्चित थे। बहुत कम राज्यों को प थक् प्रतिनिधित्व का अवसर मिल सका

था, इसलिए राज्यों के समूह को प्रतिनिधित्व दिया गया था। ब्रिटिश भारत के लिए नियत स्थानों के लिए कौंसिल आफ स्टेट की ही भाँति, स्थानों का वितरण साम्प्रदायिक आधार पर किया गया था। अन्तर इतना था कि गैर मुस्लिम, मुस्लिम और सिख स्थानों को, जिनकी कुल संख्या 193 थी, आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर, अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली के माध्यम से विभिन्न प्रान्तों के विधायिकाओं के सदस्यों द्वारा चुना जाना था। भारतीय ईसाई, ऐंग्लो इंडियन यूरोपियन और स्त्रियों के लिए सुरक्षित स्थानों का चुनाव इन समुदायों की प्रान्तीय विधायिका के सदस्यों द्वारा किया जाना था। इसी प्रकार दलित वर्ग के प्रतिनिधियों को जिन्हें अब परिगणित जातियों का नामकरण किया गया-विभिन्न विधायिकाओं के दलित वर्ग के सदस्यों द्वारा चुना जाता है।

संघीय विधायिका का कार्यक्षेत्र संघीय सूची और समवर्ती सूची के विषयों तक सीमित था। संघीय विधायिका न किसी देशी राज्य के लिए (जिसका उसको अधिकार शासक द्वारा नहीं दिया गया था) और न प्रान्तीय सूची के विषयों पर अधिनियम बना सकती थी। जहाँ तक अवशिष्ट (रेजीड्यूरी पावर्स) I का प्रश्न था वह गवर्नर जनरल को सौंप दिया गया था। प्रान्तीय और संघीय कानूनों के कार्यक्षेत्र में विवाद होने पर संघीय कानून की ही मान्यता थी। आपातकालीन परिस्थिति में गवर्नर जनरल एक घोषणा के द्वारा संघीय विधायिका के द्वारा प्रान्तीय सूची के किसी भी विषय पर अधिनियम बना सकता था।

वित्तीय क्षेत्र में व्यय के कुछ मद प्रान्तों की ही भाँति संघ की आय पर महत्त्वपूर्ण भार थे, अतः वे संघीय विधायिका के मत से मुक्त थे। परन्तु प्रान्तों की ही भाँति इन मुद्दों पर बहस की जा सकती थी। जिन दो प्रमुख व्यय के मुद्दों पर बहस भी नहीं की जा सकती थी, वह थे गवर्नर जनरल के वेतन और देशी रियासतों के सम्बन्धों से उत्पन्न व्यय।

संघीय सरकर ब्रिटिश मंत्रिमंडलीय प्रणाली पर आधारित थी। मंत्रिमंडल में 10 सदस्य हो सकते थे, और उनकी नियुक्ति के लिए वही निर्देश सही थे जो गवर्नरों को प्रान्तों में मंत्रिमंडल नियुक्त करने के लिए दिए गए थे। गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व भी गवर्नरों की ही भाँति थे। एक आठवाँ विशेष उत्तरदायित्व जो केन्द्र के लिए विशेषरूप से जोड़ दिया गया था। वह था संघ का वित्तीय स्थायित्व और उसकी साख की रक्षा करने का उत्तरदायित्व।

संघ और प्रान्तों की सरकार के स्वरूप में सबसे बड़ा अन्तर यह था कि प्रान्तों में जहाँ गोलमेज सम्मेलनों और श्वेत पत्र के प्रस्तावों के अनुसार डायर्की की प्रणाली को समाप्त कर दिया गया था, वहीं केन्द्र में फिर से डायर्की प्रारम्भ कर दी गई। इसके अतिरिक्त गवर्नर जनरल को अपने विवेक से प्रतिरक्षा, विदेश विभाग और धार्मिक मामलों के विषयों के शासन को अधिकार था। इन सब विषयों पर विधायिका में चर्चा तो हो सकती थी, पर उनको चलाने के व्यय को उसके मतों की परिधि से दूर रखा गया था। गवर्नर जनरल को इन सुरक्षित विषयों पर परामर्श देने के लिए मंत्रियों की नहीं, परन्तु परामर्शदाताओं (कौंसिलर्स) की नियुक्ति की गई थी। परामर्शदाता, संघ की विधायिका के सदस्य नहीं होते थे, लेकिन उन्हें उसकी कार्यवाही में भाग लेने का अधिकार था। सुरक्षित विषयों और अपने विशेष उत्तरदायित्व के शासन के लिए आवश्यक अधिनियम बनाने के सभी अधिकार गवर्नर जनरल के पास थे, जो इस संदर्भ में प्रान्तीय गवर्नरों के पास थे।

भारतीय संघ के वित्तीय स्थायित्व और साख के सम्बन्ध में उचित सलाह देने के लिए गवर्नर जनरल को, यदि वह चाहता, तो एक वित्तीय परामर्शदाता की नियुक्ति का अधिकार था। इस तरह को कोई प्रावधान प्रान्तीय गवर्नर के लिए नहीं था। सुरक्षित विषयों के अतिरिक्त और उन सभी विभागों में जो उसके विवेक से संचालित नहीं होते थे, गवर्नर जनरल अपनी नियुक्ति के प्रपत्र के अन्तर्गत मंत्रियों के परामर्श से काम करता था। परन्तु अपने विवेक के प्रयोग करने और व्यक्तिगत विचार से शासन

करने की अवस्था में गवर्नर जनरल को भारत मंत्री के नियंत्रण में रहना पड़ता था।

(ग) 1935 के अधिनियम के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण प्रावधानः

(1) अधिनियम का नवाँ भाग न्यायपालिका से सम्बन्धित था। संरचना और कार्य-विधि के थोड़े से परिवर्तन के साथ सभी प्रान्तों में उच्च न्यायालयों की स्थापना की गई थी। इसके साथ-ही-साथ एक संघीय न्यायालय की स्थापना का भी प्रावधान था। इसके लिए एक मुख्य न्यायाधीश और छह सहायक (प्यूनी) न्यायाधीशों की नियुक्ति का प्रावधान था। संघ और प्रान्तों और विलय हुए देशी राज्यों के कानूनी और साँविधानिक अधिकारों के कानून और तथ्यात्मक पक्षों पर निर्णय देने का एकमात्र अधिकार संघ न्यायालय को था। संघ न्यायालय को विभिन्न न्यायालयों या देशी रियासतों के न्यायालयों से अधिनियम के विशिष्ट धाराओं की अपील के आधार पर, व्याख्या करने का भी अधिकार था। कुछ मामलों में संघ न्यायालय की अनुमति से और कुछ में बिना अनुमति से इंग्लैण्ड में स्थित प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति के पास भी अपील करने का अधिकार था।

(2) अधिनियम का आठवाँ भाग एक संघीय रेलवे प्राधिकरण (फेडरल रेलवे अथॉरिटी) से सम्बन्धित था। इसके सम्बन्ध में ब्रिटिश संसद की संयुक्त प्रवर समिति ने भारत सरकार विधेयक पर अपनी रिपोर्ट में सुझाव दिया था। इस तरह का प्राधिकरण कनाडा और दक्षिण अफ्रीका में भी था और भारत में इसे रेलवे के नियंत्रण, निर्माण, रख-रखाव और संचालन के लिए स्थापित किया गया था। इसके लगभगत तैतालिस प्रतिशत सदस्य गवर्नर जनरल के द्वारा चुने जाने थे और शेष मंत्रियों के परामर्श पर।

(3) अततः 1935 के अधिनियम के द्वारा 1858 में स्थापित इंडिया कौंसिल को समाप्त कर दिया गया। इसके स्थान पर भारत मंत्री के लिए सलाहकारों की नियुक्ति का प्रावधान किया गया जिनकी संख्या कम-से-कम तीन और अधिक से अधिक छः हो सकती थी। इंडिया आफिस का सारा व्यय अब इंग्लैण्ड के करदाताओं पर डाल दिया गया था।

(घ) अधिनियम की समीक्षा

1935 जैसे विशाल संविधान पर थोड़े समय में टिप्पणी करना कठिन है। बहुत से विद्वानों और संविधानविदों ने इस अधिनियम की चर्चा की है। इस अधिनियम का बहुत बड़ा भाग (भाषा और तकनीकी द ष्टि से) स्वतंत्र भारत के 1950 के संविधान का अंग है। परन्तु इतना कहना उचित होगा कि इस जटिल और दुरुह सांविधानिक दस्तावेज में जितनी धाराएँ सत्ता के हस्तांतरण से संबंधित थी, उससे अधिक प्रावधानों से गवर्नर जनरल और गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व की सूची से उनकी विवेक द्वारा किए जानेवाले कार्यों से इस हस्तांतरण की प्रक्रिया पर अंकुश लगा दिया गया। राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यकारिणी ने इस अधिनियम की निंदा करते हुए कई प्रस्ताव पारित किए और यह घोषणा की कि इसके साथ किसी भी प्रकार का सहयोग करना स्वतंत्रता संग्राम के साथ विश्वासघात है। परन्तु इस निंदा के बावजूद कांग्रेस ने 1937 के प्रान्तीय चुनावों में भाग लिया और उसमें अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। प्रान्तीय विधानसभाओं के कुल मिलाकर 1585 स्थान थे, उसमें से कांग्रेस को 711 स्थान प्रापत हुए। मुसलमानों के लिए 482 स्थान सुरक्षित थे, कांग्रेस ने 58 के लिए उम्मीदवार खड़े किए थे इनमें उसको केवल 26 स्थान प्राप्त हुए थे। कांग्रेस की इस सफलता को जवाहर लाल नेहरू ने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को भारत छोड़ने की सूचना बताया। उन्होंने यह भी कहा कि 1935 के अधिनियम को पूर्णतः समाप्त किया जाना चाहिए ताकि संविधान सभा की बैठक बुलाई जा सके। मुस्लिम लीग ने जहाँ पर प्रान्तीय संविधान को भरसक स्वीकार करने को कहा वहीं उसने संघ के संविधान को आधारभूत रूप से दोषपूर्ण बताया। केवल उदारवादी दल ने संघ और प्रान्त दोनों ही

स्तरों पर सहयोग करने की पेशकश की।

सबसे दुखद पक्ष यह था कि सात वर्षों की बहस, चर्चा, अध्ययन सम्मेलन, समितियों की रिपोर्टों के बाद जिस भारतीय संघ की स्थापना करने का निर्णय किया गया था, वह एक मरीचिका सिद्ध हुई। भारतीय संघ का निर्माण ही नहीं हो सका। इस सम्बन्ध में जब भारतीय रियासतों से वार्तालाप प्रारम्भ हुआ तो उन्होंने ऐसे मुद्दे उठाने प्रारम्भ किए जिसका तत्काल समाधान करना कठिन था। जब 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारंभ हुआ तो वायसराय लॉर्ड लिनलियगो ने यह घोषणा की कि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में सरकार के पास संघ की प्रक्रिया को निरस्त करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। इस तरह 1935 के अधिनियम का कार्यान्वयन अधूरा ही रहा और स्वतंत्रता मिलने तक केन्द्र में 1919 का ही संविधान अस्तित्व में रहा।

(स) 1942 का क्रिप्स का शिष्टमण्डल
(The Cripps Mission)

सितम्बर 1939 में विश्वयुद्ध के सम्बन्ध में अंग्रेजी सरकार ने भारतीय विधानमण्डल से नाममात्र भी परामर्श किए बिना, भारत की ओर से युद्ध घोषणा कर दी। इस पर कांग्रेस कार्यकारिणी ने विरोध प्रकट किया और 14 सितम्बर 1939 को एक प्रस्ताव में यों कहा, ''भारत की ओर से युद्ध और शक्ति के प्रश्न का निर्णय भारतीय लोग ही करेंगे..... हम किसी ऐसे युद्ध से सम्बन्धित नहीं हो सकते अथवा उसमें सहयोग नहीं दे सकते जो साम्राज्यवादी नीतियों पर आधारित हो और जिसका उद्देश्य भारत तथा अन्य स्थानों में साम्राज्यवाद को द ढ़ करना हो। समिति ने माँग की कि अंग्रेजी सरकार यह घोषणा करे कि युद्ध का उद्देश्य जनतंत्र और साम्राज्यवाद के विषय में क्या है और ये भारत पर कैसे लागू किए जाएँगे। क्या भारत से स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में व्यवहार किया जाएगा?"

युद्ध के पश्चात प्रादेशिक स्वशासन (Domination Status after the War): कांग्रेस ने जो आश्वासन माँगें वे नहीं मिले अपितु कुछ अनमने से वाक्याँश अथवा पवित्र भावनाएँ प्रकट की गई। अतएव सात कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिए और उन प्रान्तों का शासन 1935 के एक्ट की धारा 93 के अधीन गवर्नरों को सौंप दिया गया। जिन्ना ने इसे मुक्ति दिवस के रूप में मनाया क्योंकि देश को कांग्रेस से छुटकारा मिल गया था। केवल सिंध, पंजाब और बंगाल में लोकमंत्रिमण्डल कार्य करते रहे। लोगों को आश्वासन देने के लिए वायसराय लार्ड लिनलिथगो (Lord Linlithgo)ने यह घोषणा की कि ''युद्ध के पश्चात जितना शीघ्र हो सकेगा, वेस्टमिनिस्टर जैसा प्रादेशित स्वशासन देना'' ही अंग्रेजी सरकार का उद्देश्य है अर्थात् जो 1935 के एक्त के अनुसार नहीं मिला था, वह अब युद्ध के पश्चात मिलेगा।

अगस्त 1942 का प्रस्ताव (The August Offer): जून 1940 में अंग्रेजी सेना की फ्रांस में करारी हार हुई और फ्रांस ने जर्मनी के आगे पूर्णतया घुटने टेक दिए। अंग्रेजों ने एक और प्रस्ताव रखा जिसमें वायसराय ने कहा (1) राजनैतिक दलों के बीच मतभेदों के होते हुए भी, वायसराय की कार्यकारिणी का विस्तार और एक ''युद्ध परामर्शदात्री (War Advisory Council) के गठन करने में और विलम्ब नहीं किया जा सकता। (2) सरकार ने अल्पसंख्यकों को पूर्ण महत्त्व प्रदान करने का विश्वास दिलाया। (3) अपने उत्तरदायित्वों को निभाते हुए (रक्षा, अल्पसंख्यकों के अधिकार, रियासतों में संधियों और अखिल भारतीय सेवाएँ इत्यादि के प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए) अंग्रेजी सरकार इस विचार से सहमत है कि नया संविधान बनाना मुख्यतः भारतीयों का अपना उत्तरदायित्व है और वह भारतीय जीवन की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक धारणाओं पर निर्भर होगा। (4) चूँकि इस समय जब हम जीवन और म त्यु के संघर्ष में लगे हैं, यह समस्या हल करनी सम्भव नहीं है, ब्रिटिश सरकार यह विश्वास

दिलाती है कि युद्ध के समाप्त होते ही वह ऐसी व्यवस्था करेगी जिसमें भारतीय राजनैतिक जीवन के मुख्य तत्त्वों के प्रतिनिधि नए संविधान की रूपरेखा तैयार करें। (5) और इस बीच ब्रिटिश सरकार यह आशा करती है कि भारत के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय तथा वर्ग भारत को राष्ट्रमंडल के पूर्ण और बराबर सदस्य बनने में इसमें सहयोग करेंगे अर्थात् युद्ध में पूर्णरूपेण सहायता करेंगे।

यह घोषणा एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रगति थी क्योंकि इसमें स्पष्ट कहा गया था कि भारत का संविधान बनाना। भारतीयों का अपना अधिकार है, और स्पष्ट प्रादेशिक स्वशासन (Dominion Status) की प्रतिज्ञा की गई थी। परन्तु कांग्रेस ने यह प्रस्ताव अस्वीकर कर दिया। जवाहरलाल नेहरू ने तो प्रादेशिक स्वशासन की धारणा को ही ठुकरा दिया। परन्तु मुस्लिम लीग ने इस घोषणा का वह भाग जिसमें यह प्रतिज्ञा थी ''भावी संविधान उनकी अनुमति से ही बनेगा'' उसका सवागत किया। इसके अतिरिक्त उसने यह भी कहा कि भारत का बँटवारा ही इस कठिन समस्या का हल है। जैसी आशा थी कि यह प्रस्ताव निष्फल रहा। भारत राज्य सचिव श्री एल.एस. एमरी ने कहा कि आज मुख्य झगड़ा ब्रिटिश सरकार और स्वतंत्रता माँगनेवाले तत्त्वों में नहीं है अपितु भारत के राष्ट्रीय जीवन के भिन्न-भिन्न तत्त्वों में है।

समस्या बनी रही और युद्ध चलता रहा। एक दिसम्बर 1941 को जापान भी युद्ध में धुरी शक्तियों की ओर से सम्मिलित हो गया। अतएव 1942 के आरम्भ में अंग्रेजों ने पुनः राजनैतिक गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न किया। मार्च 1942 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल ने यह घोषणा की, ''युद्ध मंत्रिमंडल (War Cabinet) ने भारत के विषय में एकमत होकर कुछ निर्णय किए हैं और हाउस आफ कामन्ज के नेता सर स्टेफर्ड क्रिप्स (Sir Stefford Cripps) भारत जाकर स्वयं निजी विचार-विमर्श से अपने आपको संतुष्ट कर इस निर्णय से लोगों को अवगत कराएँगे और यह निर्णय एक न्याय-पूर्ण और अंतिम निर्णय होगा और अभीष्ट मन्तव्य प्राप्त कर लेगा।'' सर स्टेफर्ड क्रिप्स को यह भी आदेश था कि ''वह न केवल बहुसंख्यक हिन्दुओं से ही आवश्यक सहमति प्राप्त करे अपितु सबसे अधिक संख्यक अल्पसंख्यक जाति मुसलमानों से भी सहमति प्राप्त करे'' भारत पहुँचते ही सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने प्रस्तावित मसविदा (Draft Resolution) कार्यकारी परिषद् के सम्मुख रखा (23-3-1942) और दो दिन पश्चात् भारतीय नेताओं के सम्मुख। 29 मार्च को यह प्रस्ताव एक पत्रकार सम्मेलन में जनता के सम्मुख रख दिया गया। इसके पश्चात् लगभग पन्द्रह दिन बातचीत चलती रही परन्तु असफल रही। महात्मा गांधी ने इसे ''उतरतिथीय चैक'' (Post-Dated cheque) की संज्ञा दी और किसी और व्यक्ति ने उसमें यह जोड़ दिया कि ''ऐसे बैंक पर जो टूट रहा है प्रस्तावित मसविदा इस प्रकार था-

(1) युद्ध समाप्त होते ही निम्नलिखित रीति से भारतीयों का एक निर्वाचित निकाय बनाया जाएगा जो कि भारत के लिए एक संविधान बनाएगा।

(2) इस संविधान सभा में भारतीय रियासतों को भी सम्मिलित करने का प्रबंध किया जाएगा।

(3) अंग्रेजी सरकार इस संविधान को निम्नलिखित शर्तों पर स्वीकार कर लेगी। (अ) अंग्रेजी प्रान्तों में जो इस संविधान को स्वीकार न करना चाहे उसे अधिकार होगा कि अपनी पुरानी स्थिति में बना रहे फिर जब वह चाहे इस संविधान में सम्मिलित हो सके। न सम्मिलित होने वाले प्रान्तों को भी वही पद प्राप्त होगा जो कि शेष भारतीय संघ को होगा। (ब) जिस संधि के अनुसार अंग्रेजों द्वारा भारतीयों को पूर्ण अधिकार दिए जाएँगे उसमें जातीय तथा धार्मिक अल्पसंख्यकों की रक्षा इत्यादि के प्रबन्ध किए जाएँगे। परन्तु इस पर अन्य अंग्रेज राष्ट्रमंडल के सदस्यों के साथ सम्बन्धों पर कोई प्रतिबंध नहीं होगा। कोई अन्य भारतीय रियासत इस संविधान से सम्बन्ध बनाए अथवा नहीं, परन्तु यह आवश्यक होगा कि इस नई परिस्थिति में इनसे संधि सम्बन्धों को आवश्यकतानुसार परिवर्तित किया जा सके।

(4) संविधान बनानेवाली सभा का चुनाव विधानसभाओं को निम्न सदन द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व (Proportional representation) के अनुसार किया जाएगा।

(5) जब तक यह नया संविधान नहीं बनेगा, ब्रिटिश सरकार भारत की रक्षा के लिए उत्तरदायी होगी, परन्तु वह मुख्य भारतीय लोगों के नेताओं का तुरन्त और प्रभावशाली ढंग से राष्ट्रमंडल और संयुक्त राष्ट्र के कार्य में योगदान चाहती है ताकि वे उस कार्य के जो भावी भारतीय स्वतंत्रता के लिए अत्यन्त आवश्यक है, निभाने और पूर्ण करने में सक्रिय तथा निर्माणकारी सहायता कर सकें।''

इस प्रस्तावित घोषणा के मुख्य अंग इस प्रकार थे- प्रादेशिक शासन स्वतंत्रता और देश के विभाजन की सम्भावना और शक्ति हस्तांतरित होते समय अल्पसंख्यकों की रक्षा के सम्बन्ध में संधि करना। जब तक नया संविधान न बने तब तक गवर्नर जनरल की तत्कालीन स्थिति बनी रहे और अंग्रेज ही भारत की रक्षा के लिए उत्तरदायी हों। जैसा कि पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, ''समकालीन सरकार का ढाँचा उसी प्रकार रहेगा और वायसराय की निरंकुशता बनी रहेगी और हम में से कुछ लोग वर्दी पहनकर उसके सेवक बन जाएँगे तथा अल्पाहार ग हों (Canteens) इत्यादि की देखभाल करना आरम्भ कर देंगे।''

इस प्रस्ताव पर विचारः इस घोषणा में अगस्त प्रस्ताव से निश्चय ही कुछ अधिक अधिकार देने की बात कही गई थी अर्थात् इसमें ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से अलग होने की बात कही गई थी, संविधान बनाना मुख्यतः नहीं अपितु पूर्णतः भारतीयों का काम होगा, संविधान सभा का उल्लेख था। इसी प्रकार अन्तरिम समय में भारतीयों को राष्ट्रमंडल और संयुक्त राष्ट्र के कार्य में सहायता देने को कहा गया था।

परन्तु इस घोषणा से किसी को भी संतोष नहीं हुआ। प्रत्येक दल ने भिन्न-भिन्न कारणों से इसको अपर्याप्त माना। कांग्रेस को इसके अन्तरिम प्रबन्ध से असन्तोष था। उसे इसके रक्षा सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकार नहीं थे। जिन तत्त्व पर यह बातचीत टूटी, वह थी कि कांग्रेस को इस बात का भी औपचारिक आश्वासन नहीं मिला कि इस बीच गवर्नर जनरल मंत्रियों के कहने पर तथा संवैधानिक मुखिया के रूप में कार्य करेगा। इसी प्रकार वह भारतीय प्रान्तों के अलग होने को स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। यही विचार हिन्दू महासभा के थे सर तेज बहादुर सप्रू और श्री जयकर भी इस बँटवारे के पक्ष में नहीं थे। सिख भी पंजाब को भारत से अलग किए जाने के पक्ष में नहीं थे। इस प्रकार पिछड़ी हुई जातियाँ भी अपने लिए संरक्षणों के न मिलने से अप्रसन्न थीं।

मुस्लिम लीग एक संघ बनाए जाने, संविधान सभा की रचना तथा एक प्रान्त के प थक् होने के लिए उसकी इच्छा जानने की विधि इत्यादि से अप्रसन्न थी, विशेषकर इसलिए कि उसमें स्पष्ट पाकिस्तान बनाए जाने की बात नहीं कही गई थी।

इन त्रुटियों के अतिरिक्त अंग्रेजों का यह भी कहना कि यह योजना अगस्त 1940 की योजना का ही रूप है जिसको अधिक स्पष्ट किया गया है। इसका उद्देश्य उस पुराने प्रस्ताव का अधिक्रमण करना नहीं है। इन शब्दों से बहुत निराशा हुई क्योंकि ऐसा लगा कि अंग्रेजों का उद्देश्य शक्ति का हस्तांतरण करना नहीं है।

इसी प्रकार प्रान्तों के प थक्कीकरण की प्रक्रिया भी इस प्रकार की थी जिससे पंजाब और बंगाल में हिन्दुओं की परिस्थिति बहुत ही डाँवाडोल हो जाती थी। इसके अतिरिक्त उत्तरदायित्व का हस्तांतरण करते समय संधि किससे होगी। उस संधि की व्याख्या तथा उसको लागू करने का अधिकार किस को होगा। यह सभी स्पष्ट नहीं था।

यह समस्त योजना जिसमें क्रिप्स का नाम जुड़ गया है, केवल सभी भारतीयों की युद्ध में सहायता प्राप्त करने का एक उपाय मात्र लगता था, एक शुद्ध भावना से किया हुआ भारतीय समस्या का हल नहीं था। जैसा कि प्रोफेसर हेरल्ड जे. लास्की (Harold J. Laski) ने कहा था, ''इस समस्त प्रक्रिया में केवल एक ही अच्छी बात थी, वह थी सर स्टेफर्ड क्रिप्स का स्वयं जाना, जिसके लिए श्री एटली को श्रेय मिलना चाहिए...... इसमें बहुत जल्दी की गई ..... इसमें सर स्ट्रेफर्ड क्रिप्स का यह कहना कि इसे स्वीकार करो अथवा छोड़ दो'' और वापिस लौटाने पर यह कहना कि यह प्रस्ताव समाप्त हो गया है, यह अच्छा नहीं था। इससे यह लगता था कि हमारा उद्देश्य भारत की स्वतंत्रता देना नहीं अपितु अपने मित्रों में एक प्रकार का प्रचार करना था जो प्रायः अमरीका-फिलिपीन्स के सम्बन्धों की भारत-आंग्ल सम्बन्धों से तुलना किया करते हैं।''

प्रायः क्रिप्स शिष्टमण्डल के प्रस्तावों को पूर्णतया असफल समझा जाता है परन्तु युद्ध के जीतने पर वही ''टूटते हुए बैंक पर उत्तरतिथीय चैक'' की हुंडी सकारित (Honoured) हो गई।

'भारत छोड़ो' प्रस्ताव और अगस्त 1942 का विद्रोह (Quit India Resolution and the August 1942 Revolt): क्रिप्स शिष्टमण्डल की असफलता से सभी को निराशा हुई। अभी तक कांग्रेस ने ऐसा कोई कार्य नहीं किया था (सिवाय संविधान सभा की माँग के) जिससे अंग्रेजों को परेशानी हो। परन्तु अब जबकि जापान लगभग देश के द्वार पर खड़ा था, कांग्रेस चुप नहीं रह सकती थी। गांधीजी ने अब अप्रैल 1942 में अंग्रेजों के ''सुव्यवस्थित ढंग से भारत से चले जाने की बात कही। उनके अनुसार जो भी हो अब भारतीयों और अंग्रेजों की'' कुशलता इसी में थी कि अंग्रेज भारत से चले जाएँ। अब 'भारत छोड़ो' का नारा प्रसिद्ध हो गया। 10 मई, 1942 के हरिजन में उन्होंने लिखा कि भारत में अंग्रेजों की उपस्थिति जापानियों को भारत पर आक्रमण करने का निमंत्रण है। उनके जाने से यह लोभ समाप्त हो जाएगा। इसी प्रकार कुछ दिन पश्चात् उन्होंने उसी पत्र में लिखा ''भारत को ईश्वर के हाथों में अथवा अराजकता में छोड़ दो। तब सभी दल कुत्तों की भाँति लड़ेंगे और जब वास्तविक उत्तरदायित्व सिर पर पड़ेगा तो स्वयं वास्तविक समझौता कर लेंगे।''

इसी प्रकार 14 जुलाई, 1942 को कांग्रेस कार्यकारिणी ने अंग्रेजों के चले जाने का प्रस्ताव पारित किया और स्पष्ट कहा ''यदि यह अपील स्कीक त नहीं होती तो हम लोग महात्मा गांधी के नेत त्व में देश में एक सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाने के लिए बाध्य हो जाएँगे।''

8 अगस्त, 1942 को बम्बई में हुई अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में इस प्रस्ताव का समर्थन हुआ और यह कहा गया ''भारत में अंग्रेजी राज्य की समाप्ति भारत और संयुक्त राष्ट्रों, दोनों के हित में है। इस राज्य का बने रहना भारत के लिए अपमानजनक है और उसे दिन-प्रतिदिन क्षीण कर रहा है और उसे अपनी रक्षा के असमर्थ बनाता जा रहा है और संसार की स्वतंत्रता में भी योगदान देने में बाधा है।''

फलस्वरूप अगले दिन ही गांधीजी और कांग्रेस कार्यकारिणी के सभी सदस्य बन्दी बना लिए गए और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी तथा प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। परन्तु लोगों ने इसको चुपचाप स्वीकार नहीं किया। देश में विप्लव उठ खड़ा हुआ। स्थान-स्थान पर सार्वजनिक माल, संपत्ति इत्यादि की हानि हुई, गोलियाँ चली। यद्यपि कांग्रेस के नेताओं ने इसके लिए कोई उत्तरदायित्व स्वीकार नहीं किया परन्तु यह मानना कठिन है कि वे पूर्णतया अनभिज्ञ थे अथवा उनकी अनुमति के बिना यह सब कुछ हुआ। सरकार ने भी दमन चक्र चलाया, सैकड़ों व्यक्ति मारे गए और हजारों जेल में डाल दिए गए।

क्रिप्स मिशन की सीमाएँ: जब युद्ध में मित्र राष्ट्रों की स्थिति बिगड़ने लगी, तो संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट, चीन के राष्ट्रपति च्याँग काई शेक तथा ब्रिटेल की लेबर पार्टी के सक्रिय बहुत

से नेताओं ने चर्चिल पर दबाव डाला कि वे युद्ध में भारतवासियों का सहयोग प्राप्त करें। इसके लिए ब्रिटिश सरकार ने मार्च 1942 में केबिनेट मंत्री स्टेफोर्ड क्रिप्स के नेत त्व में एक सद्भाव मंडल भेजा। क्रिप्स लेबर पार्टी के वामपंथी सदस्य थे और उन्होंने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का जोर-शोर से समर्थन किया था। भारत आते ही उन्होंने घोषणा की कि भारत में ब्रिटिश नीति का उद्देश्य है: ''जितनी जल्द सम्भव हो सके, भारत में स्व-शासन की स्थापना'' लेकिन अपने साथ जिस घोषणा पत्र का मसविदा वे लाए थे वह निराशाजनक था। उसमें युद्ध समाप्त होने पर भारत को डोमिनियन राज्य (स्वतंत्र उपनिवेश) का दर्जा देने और एक ऐसी संविधान निर्मात्री परिषद बनाने का वादा था जिसके कुछ सदस्य प्रान्तीय विधायिकाओं द्वारा निर्वाचित होंगे और कुछ (रियासतों का प्रतिनिधित्व करने के लिए) शासकों द्वार नामाँकित होंगे। गुंजाइश बनाई गई कि यदि किसी प्रान्त को नया संविधान स्वीकार्य नहीं होता है तो वह अपने भविष्य के लिए ब्रिटेन से अलग समझौता कर सकेगा। लेकिन यह सब युद्ध के बाद होना था, फिलहाल तो भारत की प्रतिरक्षा पर पूरा-का-पूरा नियंत्रण ब्रिटेन का ही रहना था। एस. गोपाल ने इस घोषणा पत्र को मूलतः अनुरक्षणवादी, प्रतिक्रियाशील और ''सूमित प्रस्ताव'' की संज्ञा दी है। नेहरू ने जो क्रिप्स के मित्र भी थे, बाद में लिखा ''जब मैंने पहली बार इन प्रस्तावों को पढ़ा तो बुरी तरह मायूस हुआ।''

अन्ततः क्रिप्स और कांग्रेस नेताओं के बीच बातचीत टूट गई। पूर्ण स्वाधीनता के स्थान पर डोमिनियन राज्य के दर्जे, संविधान-सभा में रियासतों के लोगों के बजाय शासकों द्वारा नामाँकित व्यक्तियों की मौजूदगी तथा भारत के संभावित विभाजन की व्यवस्थाओं पर कांग्रेस को कड़ी आपत्ति थी। उधर ब्रिटिश सरकार को भी यह मंजूर नहीं था कि वास्तविक सत्ता भारतवासियों को दे दी जाए और देश की प्रतिरक्षा की जिम्मेदारी में उनका भी हिस्सा हो, बातचीत टूटने का एक बड़ा कारण यह भी था कि क्रिप्स को लचीला होने की सुविधा नहीं थी। उन्हें जो प्रस्ताव देकर भेजा गया था। इसके अलावा चर्चिल, विदेशी मंत्री एमरी, वायसराय लिनलिथगो और कमाँडन-इन-चीफ वेवेल चाहते भी नहीं थे कि क्रिप्स मिशन सफल हो। जहाँ तक सम्भव था, भारत की इच्छाओं को स्वीकार करने की क्रिप्स की चेष्टाओं का उन्होंने कदम-कदम पर विरोध किया और उन्हें सफल नहीं होने दिया। विफल स्टेफोर्ड क्रिप्स मध्य अप्रैल में अपने देश लौट गए। इधर भारतीय जनता की निराशा और क्षोभ की सीमा न थी। यद्यपि अब भी उसे फासिस्ट-विरोधी शक्तियों, खासकर चीन और सोवियत संघ से सहानुभूति थी लेकिन उसे देश की तत्कालीन स्थिति असह्य भी लग रही थी। उसे ऐसा महसूस हो रहा था कि साम्राज्यवाद पर निर्णायक हमला करने का वक्त आ गया है।

(द) 1946 मंत्रिमण्डलीय शिष्ट मण्डल योजना
(The Cabinet Mission Plan - 1946)

1945-46 के हेमन्त काल में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय चुनाव हुए। कांग्रेस ने लगभग सभी प्रान्तों में लगभग सभी अमुस्लिम (Non-Muslim) स्थान प्राप्त कर लिए। इसके अतिरिक्त उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में मुसलमानों के स्थानों की बहुसंख्या और इसके अतिरिक्त यू.पी., सी.पी., बिहार और आसाम में कुछ मुस्लिम स्थान भी प्राप्त कर लिए। यद्यपि मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के अत्यधिक स्थान जीते परन्तु फिर भी वह केवल सिंध और पंजाब में ही मंत्रिमंडल बना सकी। पंजाब में यद्यपि मुस्लिम लीग सबसे बड़े दल के रूप में आगे आई, परन्तु हिन्दू सिक्ख और यूनियनिस्ट दल के हिन्दू और मुसलमान विधायकों ने एक मिला-जुला मंत्रिमंडल मलिक खिजर हयात खाँ के नेत त्व में बनाया शेष आसाम, बिहार, यू.पी., उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त, बम्बई, मद्रास, मध्य प्रान्त और उड़ीसा में कांग्रेस के मंत्रिमण्डल बनाए गए।

संसद का शिष्ट मंडल 1946 की जनवरी में भारत आया जब चुनाव हो रहे थे और उसने राजनैतिक

स्थिति का प्रत्यक्ष अध्ययन किया।

19 फरवरी, 1946 को लार्ड पेथिक लारेंस ने हाउस ऑफ लार्ड्स में घोषणा की कि मंत्रिमण्डल का शिष्ट मण्डल जिसमें वह स्वयं, सर स्टेफोर्ड क्रिप्स (Sir Stefford Cripps) और ए.वी. एलेक्जेण्डर (A.V. Alexander) होंगे, भारत जाएगा ताकि वायसराय की सहायता से भारतीय नेताओं से राजनैतिक मामलों पर बातचीत कर सके। इसी घोषणा पर वाद-विवाद में बोलते हुए प्रधानमंत्री एटली ने कहा कि हम अल्पसंख्यकों के अधिकारों से भली-भाँति जागरुक हैं और चाहते हैं कि अल्पसंख्यक बिना भय के रह सकें परन्तु हम यह भी स्वीकार नहीं करेंगे कि अल्पसंख्यक लोग बहुसंख्यक लोगों की उन्नति में आड़े आएँ। इन शब्दों का अर्थ भारत में स्पष्ट रूप से यह समझा गया कि अब अंग्रेजों की लीग के प्रति परम्परागत नीति में मूलभूत परिवर्तन आ गया था।

शिष्टमण्डल 24 मार्च, 1946 को दिल्ली पहुँचा और भारत के भिन्न-भिन्न राजनैतिक दलों से लम्बी बातचीत हुई। चूँकि लीग और कांग्रेस में भारत की एकता अथवा बँटवारे के विषय में समझौता नहीं हो सका इसलिए शिष्टमण्डल ने अपनी ओर से संवैधानिक समस्या का हल प्रस्तुत किया। ये प्रस्ताव लार्ड वेवल और मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल ने एक संयुक्त वक्तव्य में 16 मई, 1946 को प्रकाशित किए।

लम्बे समय की योजना के रूप में उन्होंने पाकिस्तान की माँग को कई कारणों से अस्वीकार कर दिया। पहला यह कि पाकिस्तान बनने से उन अल्पसंख्यकों की समस्या जो मुसलमान नहीं हैं, वह हल नहीं होगी। ये लोग उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में समस्त जनसंख्या का 37.93 प्रतिशत होंगे और उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में 48.3 प्रतिशत होंगे। उनके अनुसार बंगाल, आसाम और पंजाब जैसे मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों को पाकिस्तान में सम्मिलित करने का कोई तर्क नहीं है। वास्तव में वे सभी तर्क जो पाकिस्तान बनाने के पक्ष में दिए जाते थे वहीं उसके विरुद्ध भी दिए जा सकते थे। पंजाब और बंगाल का बँटवारा करके एक छोटा सा पाकिस्तान बनाने का कोई लाभ नहीं होगा और यह सब इन प्रान्तों के वासियों की इच्छाओं के विरुद्ध होगा। दूसरे, भारत की संचार और डाकतार व्यवस्था को बाँटने का कोई लाभ नहीं होगा। तीसरे, सेना को बाँटने से देश को बहुत हानि होगी और चौथे, रियासतों का एक अथवा दूसरे संघ में सम्मिलित होना बहुत कठिन होगा। पुनश्च, पाकिस्तान के दो भागों की एक-दूसरे से 700 मील की दूरी उसके हित में नहीं होगी और युद्ध तथा शांति की स्थिति में संचार व्यवस्था भारत के सद्भाव पर ही निर्भर होगी। वास्तव में ये सभी तर्क ठीक थे और देश के बँटवारे के विरुद्ध थे। अतएव शिष्टमण्डल ने यह सुझाव दिया कि केन्द्र एक हो जो कुछ निश्चित विषयों पर नियंत्रण रखे। सम्भवतः उनके मन में 1876 में आस्ट्रिया-हंगरी में स्थापित दोहरी राजशाही (Dual Monarchy) और संघ (anschluss) का विचार था।

शिष्टमण्डल ने सुझाया कि भारतीय संविधान इस प्रकार का होना चाहिए-

(1) भारत में अंग्रेजी भारत और रियासतों का मिला जुला एक संघ होना चाहिए जो विदेशी मामले, रक्षा और संचार साधनों की देखभाल करे और इनके लिए कर लगा सके।

(2) इस संघ की कार्यकारिणी और विधानमण्डल में, ब्रिटिश भारत और रियासतों के प्रतिनिधि होने चाहिए। किसी महत्त्वपूर्ण साम्प्रदायिक पक्ष पर यह आवश्यक हो कि विधानमण्डल में दोनों मुख्य सम्प्रदायों के विधायक अलग-अलग मत देकर उसका समर्थन करें।

(3) प्रान्तों को केन्द्रीय विषयों को छोड़कर शेष सभी मामलों में पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त हो और शेष शक्तियाँ (Residuary Powers) उन्हीं के पास हों।

(4) प्रान्तों को छोटे अथवा बड़े गुट (Groups) बनाने का अधिकार हो और इन गुटों को क्या-क्या

अधिकार होंगे, इसका निर्णय वे स्वयं ही करेंगे।

(5) मद्रास, बम्बई, मध्य प्रान्त, संयुक्त प्रान्त, बिहार और उड़ीसा के छः हिन्दु बहुसंख्यक प्रान्त गुट (अ) में होंगे और उत्तर पश्चिम के मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्त, पंजाब, सीमा प्रान्त और सिन्ध, गुट (ब) में और बंगाल तथा आसाम गुट (स) में। मुख्य आयुक्त (Chief Commissioners) के प्रान्त दिल्ली, अजमेर-मारवाड़ और कुर्ग गुट (अ) में और बलूचिस्तान गुट (ब) में सम्मिलित होंगे। प्रान्तों को पूर्ण स्वायत्तता (Full Autonomy) का देना एक प्रकार से पाकिस्तान का 'सार' था। यह स्पष्ट था कि गुट (ब) और (स) मुस्लिमों के आधिपत्य में होंगे।

मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल मुख्य कार्य संविधान सभा अर्थात् भारतीयों द्वारा अपना संविधान बनाने के कार्य को आरम्भ करना था। यह संविधान सभी प्रान्तीय विधानसभाओं द्वारा चुनी जानी थी क्योंकि यदि वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी जाती तो समय बहुत लगता। प्रान्तीय विधानसभा के सदस्यों को तीन भागों में बाँटा जाना था, सामान्य, मुस्लिम और सिक्ख और प्रत्येक भाग अपने-अपने प्रतिनिधि, अनुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा चुनेगा। गवर्नरों के प्रान्तों में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों को प्रतिनिधि, उनकी जनसंख्या के अनुपात से मिलने थे और लगभग दस लाख लोगों के लिए एक प्रतिनिधि होना था। मुख्य आयुक्तों के प्रान्तों में प्रबन्ध भिन्न था।

गुट (अ) के प्रान्तों में सामान्य को 167 स्थान दिए गए और मुसलमानों को बीस स्थान। गुट (ब) में सामान्य को नौ, मुसलमानों को बाइस और सिक्खों को चार तथा गुट (स) में सामान्य को 34 और मुसलमानों को 36 स्थान दिए गए थे। इन 292 सदस्यों में चार सदस्य चार मुख्य आयुक्तों के प्रान्तों से आने थे और 93 सदस्य भारतीय रियासतों से आने थे। इनका चयन विचार-विमर्श द्वारा किया जाना था।

इस प्रकार की गठित संविधान सभा तीन गुटों के अनुसार तीन भागों में बाँटी जानी थी। प्रत्येक भाग अपने-अपने प्रान्तों के लिए संविधान बनाएगा और यह भी निश्चय करेगा कि अपने गुट के लिए संविधान बनाना भी है अथवा नहीं। तीनों भाग, सम्मिलित रूप से संघीय संविधान बनाएंगे। नागरिकों, अल्पसंख्यकों, जनजातियों तथा अपवर्जित क्षेत्रों (Excluded Areas) के अधिकारों के विषय में परामर्शदात्री समिति (Advisory Committee) होनी थी।

गुटों और संघ के संविधान में एक प्रबन्ध यह भी था कि प्रान्तों को यह अधिकार था कि प्रत्येक दस वर्ष के पश्चात् संविधान की शर्तों पर पुनर्विचार करने की माँग कर सके। इसके अतिरिक्त प्रान्तों को नए संविधान के अधीन चुनाव के पश्चात् अपनी विधानसभाओं के निर्णयों के अनुसार, अपने गुटों से प थक् होने का भी अधिकार था।

संविधान सभाओं को इंग्लैण्ड के साथ शक्ति के हस्तांतरण से उत्पन्न हुए मामलों पर एक संधि भी करनी थी।

भारतीय रियासतों के विषय में शिष्टमंडल ने यह कहा कि ज्यों ही संविधान अस्तित्व में आ जाएगा त्यों ही अंग्रेजों की सर्वोच्चता (Paramountacy) समाप्त हो जाएगी अर्थात् जो भी अधिकार रियासतों ने अंग्रेजों को दिए हैं वे सभी उन्हें पुनः प्राप्त हो जाएँगे और अंग्रेजों और रियासतों के बीच राजनैतिक सम्बन्ध समाप्त हो जाएँगे। इसके पश्चात् रियासतें या तो केन्द्र से संघीय सम्बन्ध स्थापित करे अथवा प्रान्तों से अपने लिए सम्बन्ध स्थापित करें।

शिष्टमण्डल का यह भी सुझाव था कि एक अन्तरिम सरकार बनाई जाए जिसे मुख्य राजनीतिक दलों का समर्थन प्राप्त हो और जिसमें सभी विभाग रक्षा समेत भारतीय नेताओं के हाथों में हो।

इस योजना के गुण और अवगुण

इस योजना का मुख्य गुण यह था कि संविधान सभा लोकतंत्रवादी सिद्धान्त- जनसंख्या पर आधारित था और पुराना गुरूत्व (weightage) का सिद्धान्त समाप्त हो गया था। इसके अतिरिक्त साम्प्रदायिक प्रश्न का बहुसंख्या के आधार पर निर्णय करना था। यद्यपि उनके लिए संरक्षणों का प्रबन्ध था। इसी प्रकार एक गुण यह भी था कि पाकिस्तान का विचार पूर्णतया छोड़ दिया गया था। इसके अतिरिक्त यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात थी संविधान सभा के सदस्य ब्रिटिश सरकार अथवा यूरोपीय अधिकारी कोई नहीं थे और प्रान्तीय विधानसभाओं में भी मत डालने के समय यूरोपीय सदस्यों को अनुपस्थित रहना था। महात्मा गांधी के कहने पर कि यूरोपियों को मताधिकार न हो, इन यूरोपीय सदस्यों ने यह स्वीकार कर लिया कि वे चुनावों में खड़े नहीं होंगे और भारतीयों के चुनाव में ही मताधिकार का प्रयोग करेंगे। यू.पी. के अंग्रेज सदस्यों ने चुनावों में भाग लिया परन्तु आसाम और बंगाल के सदस्यों ने नहीं। इस संविधान सभा के कार्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली गई और उसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने दिया गया।

इस योजना के अवगुणों में मुख्यतः ये थे-

(1) मुस्लिम अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा तो की गई थी परन्तु पंजाब में सिखों के हितों की नहीं।

(2) प्रातों के गुटों के विषय में भी मतभेद थे। लीग समझती थी कि गुट बनाना आवश्यक है परन्तु कांग्रेसी समझते थे कि वह वैकल्पिक है। और अन्त में अंग्रेजों ने भी कांग्रेसी विचार का समर्थन किया।

(3) संविधान बनाने की श्ृंखला भी विचित्र सी थी। पहले गुट और प्रान्तों का संविधान बनाओ फिर केन्द्र का और इस प्रकार गाड़ी घोड़े के आगे जोत दी गई थी।

संविधान सभा के चुनाव और एक राष्ट्रीय सरकार का गठन (The Constitute Assembly and Formation of a National government) : बहुत अनिच्छा के साथ कांग्रेस और लीग ने मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल की योजना स्वीकार कर ली (कांग्रेस प्रान्तों के गुट बनाने पर अप्रसन्न थी और लीग पाकिस्तान के न मानने पर)। शिष्ट मण्डल ने लौटने से पूर्व एक घोषणा की कि उन्हें संतोष है कि संविधान बनाने का कार्य प्रमुख राजनैतिक दलों के सहयोग से चलता रहेगा परन्तु उन्हें खेद था कि कुछ बाधाओं के कारण बहुदलीय अन्तरिम सरकार नहीं बन सकी। उन्होंने आशा व्यक्त की कि सम्भवतः ऐसा संविधान सभा के चुनावों के पश्चात हो सकेगा।

जिन्ना अन्तरिम सरकार बनाने को स्थगित करने से बहुत अप्रसन्न हुए और उन्होंने वायसराय पर अपने वचनों से फिर जाने का दोष लगाया। दूसरी ओर संविधान सभा के चुनावों में कांग्रेस ने 214 सामान्य स्थानों में से 205 स्थान प्राप्त कर लिए। उन्हें चार सिख सदस्यों का भी समर्थन प्राप्त था। मुस्लिम लीग को 78 मुस्लिम स्थानों में से 73 स्थान मिले और इस प्रकार जिन्ना ने अनुभव किया कि 296 सदस्यी संविधान सभा में उसके पास तो केवल 73 स्थान होंगे जो कि 25 प्रतिशत से भी कम थे और इस प्रकार वह पूर्णतया आच्छादित हो जाएगा। झट ही 29 जून, 1946 को लीग ने शिष्टमण्डल योजना को अस्वीकार कर दिया और यही नहीं अपितु एक और सीधी कार्यवाही (Direct Action) का प्रस्ताव पारित किया जिसमें उन्होंने अंग्रेजों और कांग्रेस दोनों को अविश्वसनीय कहा और कहा कि अब समय आ गया है कि पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए वे सीधी कार्यवाही करें। कार्यकारिणी को कार्यक्रम बनाने के लिए कहा गया और अगस्त 16 का 'सीधी कार्यवाही दिवस' निश्चित किया गया।

उस दिन कलकत्ता में जो उस समय मुस्लिम लीग सरकार के अधीन था, सहस्रों की संख्या में हिन्दू लूटे और मारे गए और नगर विध्वंस कर दिया गया। इसके प्रतिकार के रूप में हिन्दू बहुसंख्यक प्रान्त बिहार के मुसलमानों पर अत्याचार हुआ। इसके प्रतिकार के रूप में पूर्वी बंगाल में नोआखाली और टिप्पडाह में हिन्दुओं पर अत्याचार हुए। फिर उत्तर प्रदेश और बम्बई में साम्प्रदायिक दंगे हुए। बंगाल में प्रान्त के बँटवारे के लिए हिन्दुओं ने आन्दोलन आरम्भ किया क्योंकि उन्हें डर हो गया कि वे मुस्लिम बहुसंख्या के राज्य में पिस जाएँगे।

इधर वायसराय ने कांग्रेस के प्रधान पण्डित जवाहरलाल नेहरू को एक अन्तरिम सरकार बनाने का निमंत्रण दिया। यद्यपि मुस्लिम लीग को भी इस सरकार में सम्मिलित होने को कहा गया परन्तु उसने अस्वीकार कर दिया। अतएव अन्तरिम सरकार में आरम्भ में केवल कांग्रेस के ही मनोनीत किए हुए व्यक्ति थे जिनमें पंडित नेहरू के नेत त्व में एक सिख, एक ईसाई, एक पारसी, तीन मुसलमान तथा एक अनुसूचित जाति से और शेष पाँच सवर्ण हिन्दू थे। आरम्भ में तो जिन्ना ने सरकार में सम्मिलित होने से मनाही कर दी थी परन्तु वायसराय के पुनः सुझाव देने पर उसने मुसलमानों के हितों की रक्षा करने के लिए 13 अक्टूबर के प्रस्ताव द्वारा इसमें सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया और चार मुसलमानों और एक अनुसूचित जातीय व्यक्ति मुस्लिम लीग की ओर से भी इस सरकार में सम्मिलित हो गए। दो स्थान पहले ही रिक्त थे और तीन कांग्रेस के मनोनीत व्यक्तियों (दो मुसलमान और एक सवर्ण हिन्दू) ने त्याग पत्र दे दिया ताकि लीग के पाँचों व्यक्ति सरकार में सम्मिलित हो सकें। अब इस अन्तरिम सरकार में यह अनुभव किया गया कि लीग का उद्‌देश्य देश की सेवा नहीं अपितु अंग्रेजों की सहानुभूति प्राप्त करना था और पंडित नेहरू ने इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा कि ''लीग ने अंग्रेजों की सहायता प्राप्त करने हेतु अपने आपको सम्राट के दल के रूप में परिणत कर लिया है।''

लीग ने एक और कार्य यह किया कि यद्यपि वह अन्तरिम सरकार में सम्मिलित हो गई थी परन्तु फिर भी उसने संविधान सभा में सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया। संविधान सभा की बैठक 9 दिसम्बर, 1946 को दिल्ली में आरम्भ हुई। दो दिन पश्चात् सभा ने डॉ० राजेन्द्र प्रसाद को अपना स्थायी प्रधान चुन लिया और फिर दो दिन पश्चात् पंडित नेहरू ने सुप्रसिद्ध उद्देश्यों का प्रस्ताव रखा जो कि 22 जनवरी को पारित हुआ, जिसके अनुसार सभा ने द ढ़ और गंभीर निश्चय व्यक्त किया कि भारत को ''स्वतंत्र प्रभुसत्तापूर्ण गणतंत्र'' बनना है।

अध्याय-13
साम्प्रदायिकता का उदय - पाकिस्तान की माँग और भारत विभाजन
(Communal Politics and its Zenith- Demand for Partition and Pakistan of India)

साम्प्रदायिकता का विकासः साम्प्रदायिकता के इतिहास को चार कालों में बाँटा जा सकता है। प्रथम काल भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना होने के साथ प्रारम्भ होकर 1876 में समाप्त हुआ। इस काल में मुसलमान ब्रिटिश राज्य के विरोधी रहे। 1857 के विद्रोह का प्रमुख दोषारोपण उन्हीं पर किया गया। परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने उन्हें द्रोहात्मक तत्त्व समझा और हर प्रकार से उनका दमन किया। 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजों का उनके प्रति रुख और भी कठोर हो गया। द्वितीय काल 1876 ई० में अलीगढ़ में ए.ए.ओ. कालेज की स्थापना के साथ प्रारम्भ होकर 1906 में मुस्लिम लीग के जन्म के साथ समाप्त होता है। मुसलमानों ने पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार के लिए सर सैयद अहमद ने अलीगढ़ में इस मुस्लिम कालेज की स्थापना की। सरकार के साथ मुसलमानों का सम्बन्ध सुधारना इसका प्रमुख उद्देश्य था। मि० बेक ने जो अलीगढ़ के मुस्लिम कालेज के प्रिंसिपल थे, सरकार और मुसलमानों का सम्बन्ध सुधारने में बहुत सहयोग किया। 1885 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस बनी और 1888 ई० में सरकार इसके विरुद्ध हो गयी। राष्ट्रीयता को शक्तिहीन करने के लिए 1905 में बंगाल विभाजन किया गया। 1906 में मुसलमानों को प्रथम प्रतिनिधित्व दिया गया जिसने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच एक गहरी खाई तैयार कर दी। अंग्रेजों ने अपना रुख बदल डाला था। अब वे हर जगह मुसलमानों का पक्ष लेने लगे। तीसरा काल मुस्लिम लीग के जन्म के साथ प्रारम्भ होकर 1940 तक चलता रहा। इस काल में मुस्लिम लीग की माँगें थीं- (1) मुसलमानों के लिए प्रथम मतदाता संघ (2) मुस्लिम अल्पसंख्यक प्रान्तों में रियासतें (3) साम्प्रदायिक निषेधाधिकार तथा (4) नौकरियों में मुसलमानों के लिए पर्याप्त सीटें। चौथा काल 1940 से प्रारम्भ होता है जबकि मुस्लिम लीग ने निश्चित रूप से मि० जिन्ना के नेत त्व में पाकिस्तान के निर्माण के लिए संघर्ष कर दिया।

कांग्रेस और लीग के बीच सहयोगः 1916 का लखनऊ समझौता भारतीय राजनीति में हिन्दू-मुस्लिम सहयोग का प्रतीक था। उसके बाद दोनों सम्प्रदायों के लोग बहुत दिनों तक मिलजुल कर काम करते रहे। खिलाफत आन्दोलन के समय उनका सहयोग चरम सीमा पर था, लेकिन यह स्थिति ज्यादा समय तक नहीं रही। 1938 में मुस्लिम राजनीति के प्रभाव की दियाा में एक नया और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। अभी तक मुस्लिम साम्प्रदायिकता की माँग प थक निर्वाचन मण्डलों, विधानमण्डलों में सुरक्षित प्रतिनिधित्व तथा लोक सेवाओं में संरक्षण तक ही सीमित थी। 1935 तक मुस्लिम लीग की राजनीति का यही मुख्य उद्देश्य था। यद्यपि मि० जिन्ना ने 1935 के अधिनियम संघ की योजना को

अस्वीकृत कर दिया था, लेकिन उसका कारण यह नहीं था कि अधिनियम ने प थक् मुस्लिम राज्य की मान्यता स्वीकृत नहीं की थी। 1938 से मुसलमानों के मन में एक नया सिद्धान्त घर कर गया। यह नया सिद्धान्त था द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त। इसके आधार पर मुस्लिम लीग ने देश के विभाजन की माँग रखी। अब भारतीय मुसलमान सम्प्रदाय या अल्पसंख्यक वर्ग नहीं रहे, बल्कि वे पूर्ण विकसित राष्ट्र बन गए और अपने लिए पाकिस्तान के नाम से राष्ट्रीय ग्रह देश की माँग करने लगे।

कांग्रेस और लीग में लखनऊ समझौते के बाद पारस्परिक सहयोग बड़े जोरों से बढ़ा था। इस समझौते के तुरंत बाद केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के कुछ सदस्यों ने अंग्रेज सरकार के समक्ष एक स्म ति पत्र प्रस्तुत किया जिसमें सरकार से यह आवेदन किया गया था कि भारत को एक ऐसे अच्छे शासन की आवश्यकता है जो जनता को मान्य हो और जिसका जनता के प्रति उत्तरदायित्व हो। इसके तुरंत बाद कांग्रेस और लीग ने सम्मिलित रूप से यह योजना प्रस्तुत की जिसे सरकार ने मान लिया। मुसलमानों को कई विशेष सुविधाएँ प्राप्त हुई। जिन्हें प्रथम निर्वाचन का अधिकार मिल गया। कांग्रेस ने इस बात को मानकर बड़ी गलती की। इस योजना के द्वारा कुछ समय तक हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना सम्भव हुई, लेकिन इसके द्वारा साम्प्रदायिक प्रश्न का निर्णय और उसका समाधान नहीं हो सका। ऐसा लगता है कि उस समय के कांग्रेसी नेताओं में मुसलमानों के प्रति संतुष्टिकरण की नीति का अवलम्बन करने की भावना प्रबल रूप से विद्यमान थी। वे मुसलमानों को अपने पक्ष में करने के लिए बहुत उतावले थे और इसी कारण उन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता की उपेक्षा कर मुसलमानों के हितों पर अधिक ध्यान दिया। ऐसा अनुमान किया जाता है कि कांग्रेस को उस समय यह आशा थी कि जो संदेह उस समय मुसलमानों के ह्रदय में हिन्दुओं के प्रति उत्पन्न हो गए थे वो कालान्तर में अवश्य दूर हो जाएंगे और उनके दूर होते ही यह अवस्था समाप्त हो जाएगी, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों के द्वारा हिन्दू और मुसलमानों के बीच मतभेद तथा वैमनस्य की व द्धि हुई और समान नागरिकता की भावना को गहरा आघात पहुँचा।

हिन्दू-मुस्लिम एकताः जब मुसलमानों को यह पता चला कि युद्धोपरान्त ब्रिटिश सरकार तुर्की के खलीफा के साथ बुरा व्यवहार कर रही है तो भारतीय मुसलमानों का रोष बहुत बढ़ गया और उन्होंने खिलाफत आन्दोलन शुरू किया। इस आन्दोलन के समय हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के पर्याप्त निकट आ गए। कांग्रेस ने 1920 में कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में खिलाफत आन्दोलन का जबरदस्त समर्थन किया। हिन्दू-मुस्लिम एकता के इतिहास में 1921 का वर्ष विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि कांग्रेस और लीग दोनों ने सम्मिलित रूप से कार्य किया ताकि वे स्वराज्य प्राप्त कर सकें और खिलाफत के विरुद्ध किए गए अत्याचारों का निवारण करवा सकें। 1921 में मुस्लिम लीग का अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ और वह अंतिम अधिवेशन था जब कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के अधिवेशन एक समय तथा एक स्थान पर हुए। इसके तुरंत बाद हिन्दू-मुस्लिम एकता समाप्त हो गयी।

मोपलों का विद्रोहः मालाबार में खिलाफत आन्दोलन का रूप बड़ा ही उग्र था। यहाँ के मोपला मुसलमान खिलाफत आन्दोलन को लेकर बहुत बड़ा संघर्ष शुरू किए हुए थे। अंग्रेजों ने हिन्दू-मुसलमान में फूट पैदा करके इस आन्दोलन का दमन करने का निश्चय किया। उनकी नीति काम कर गयी और मालाबार में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया। इसका प्रभाव उत्तरी भारत पर भी पड़ा और वहाँ भी हिन्दू-मुस्लिम एकता भँग हो गयी। 1926 में एक मुसलमान ने स्वामी श्रद्धानन्द का वध कर दिया। हिन्दुओं में तीव्र प्रतिक्रिया हुई और साम्प्रदायिकता के आधार पर हिन्दू सभा की स्थापना हुई। मुस्लिम लीग साम्प्रदायिकता की आग भड़काने लगी। 1925 के मुस्लिम लीग के अधिवेशन अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए अब्दुल रहीम ने ऐलान किया कि मुसलमानों को हिन्दुत्व के प्रभुत्व से छुटकारा दिलाना परमावश्यक है। इसकी प्रतिक्रिया में उसी वर्ष हिन्दू धर्म की रक्षा की घोषणा की।

मुस्लिम लीग में फूटः मुस्लिम लीग ने खिलाफत आन्दोलन में कोई भाग नहीं लिया था। इसलिए उस

समय मुस्लिम लीग का प्रभाव बहुत कम हो गया था। इसी समय देश में साम्प्रदायिक दंगे शुरू हो गए। मुहम्मद अली जिन्ना ने दोनों सम्प्रदायों में मेल कराने का यत्न किया, पर वे सफल नहीं हो सके। इसी स्थिति में मार्च 1920 में मुसलमानों के प्रमुख नेताओं का एक सम्मेलन दिल्ली में हुआ। इस सम्मेलन में मुसलमानों के लिए निम्नलिखित माँगें प्रस्तुत की गयी-

(1) सिंध को एक अलग प्रान्त बनाया जाए।

(2) उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त और बलूचिस्तान की स्थिति अन्य प्रान्तों जैसी हो।

(3) पंजाब और बंगाल के मुसलमानों का प्रतिनिधित्व उनकी जनसंख्या के आधार पर हो।

(4) केन्द्रीय विधानमण्डल में मुसलमानों को एक-तिहाई सीट मिलें।

कांग्रेस ने इन माँगों को स्वीकार कर लिया। मुस्लिम लीग का अधिवेशन कलकत्ता में हुआ जिसने कांग्रेस के साथ सहयोग करने का निश्चय किया। जिस समय कलकत्ता में मुस्लिम लीग का अधिवेशन हो रहा था ठीक उसी समय लाहौर में मोहम्मद शफी के नेत त्व में मुस्लिम लीग के दूसरे भाग का अधिवेशन हुआ। इस प्रकार मुस्लिम लीग में फूट पैदा हो गयी। जिन्ना के नेत त्व में मुस्लिम लीग ने कांग्रेस का सहयोग किया। लेकिन दूसरी मुस्लिम लीग ने कांग्रेस की नीति का विरोध किया। इसने यह भी प्रस्ताव स्वीकृत किया कि मुस्लिम लीग के अध्यक्ष मुसलमानों की एक सभा करने की शीघ्र व्यवस्था करे ताकि समस्त मुसलमानों को संगठित किया जाए। मुस्लिम लीग में फूट पड़ने का मुख्य कारण अंग्रेज सरकार की नीति थी। अंग्रेज चाहते थे कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग मिल-जुलकर काम नहीं करे। अतः उन्होंने मुस्लिम लीग के एक वर्ग को कांग्रेस विरोधी नीति अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया और साइमन कमीशन के साथ सहयोग करने का परामर्श दिया।

मि० जिन्ना में परिवर्तनः कुछ कारणों में मि० जिन्ना कांग्रेस से रुष्ट हो गए और देखते-देखते वे एक घोर प्रतिक्रियावादी बन गए। भारत की राजनीति में मुहम्मद अली जिन्ना का प्रवेश एक राष्ट्रवादी मुसलमान के रूप में हुआ था। वे साम्प्रदायवाद के कट्टर विरोधी थे और हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक थे। 1910 से 1916 के बीच मुस्लिम राजनीति में जो परिवर्तन हुआ उसमें मि० जिन्ना एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व थे। उसके प्रभाव से मुस्लिम लीग संकुचित साम्प्रदायिकता से दूर रही और उसमें राष्ट्रीयता की भावना जगी। 1913 के लखनऊ अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने जो स्वशासन को अपना लक्ष्य घोषित किया, उसमें मि० जिन्ना का भी प्रभाव था। इसके तीन वर्ष उपरान्त कांग्रेस और लीग के बीच एक समझौता हुआ। यह समझौता जिन्ना के प्रयत्नों का परिणाम था, लेकिन 1928 के बाद मि० जिन्ना के विचारों में परिवर्तन हुआ और वे प थकतावाद की ओर मुड़ने लगे। उनके प्रयासों के फलस्वरूप 1928 में दिल्ली में हिज हाईनेस आगा खाँ के सभापतित्व में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की एक बैठक बुलाई गई। इस बैठक में चौदह सूत्रों के आधार पर लीग के जिन्ना और शूफी गुट में समझौता हो गया। तत्पश्चात मि० जिन्ना ने कांग्रेस के सामने अपनी चौदह शर्तें पेश की जिन्हें स्वीकार करने पर ही लीग तथा कांग्रेस में कुछ समझौता हो सकता था। ये चौदह शर्तें निम्नलिखित थीं -

(1) भारत के भावी संविधान का स्वरूप संघात्मक हो जिसमें अवशिष्ट शक्तियाँ (Residuary Power) प्रान्तों को दी जाए।

(2) सभी प्रान्तों को एक समान स्वायत्तता प्राप्त हो।

(3) सभी प्रान्तों की विधान सभाओं और अन्य लोक प्रतिनिधि संस्थाओं में अल्पसंख्यक सम्प्रदायों का निश्चित रूप से उचित और पर्याप्त प्रतिनिधित्व रहे। जहाँ उनका बहुमत हो उसे घटाकर समान तथा अल्पमत न कर दिया जाए।

(4) केन्द्रीय विधानमंडलों में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व कम-से-कम एक-तिहाई हो।

(5) साम्प्रदायिक वर्गों का प्रतिनिधित्व प थक निर्वाचन पद्धति से हो, परन्तु कोई भी सम्प्रदाय जब चाहे तब संयुक्त निर्वाचन की पद्धति स्वीकार कर सकता है।

(6) किसी भी प्रादेशिक पुनर्विभाजन द्वारा पंजाब, बंगाल और पश्चिमी उत्तर सीमा प्रान्त में मुसलमानों के बहुमत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।

(7) सभी सम्प्रदायों को अपने धार्मिक विश्वास, उपासना, उत्सव, प्रचार, सम्मेलन और शिक्षा की पूर्ण स्वाधीनता हो।

(8) यदि किसी विधेयक का किसी भी समुदाय के तीन चौथाई सदस्यों द्वारा विरोध किया जाए तो उसे पास नहीं किया जाना चाहिए।

(9) सिन्ध को बम्बई प्रान्त से अलग किया जाए।

(10) सीमाप्रान्त और बलूचिस्तान में भी अन्य प्रान्तों की भाँति सुधार किए जाएँ।

(11) सभी सरकारी नौकरियों में योग्यता की आवश्यकता के अनुरूप मुसलमानों को उचित भाग मिले।

(12) मुस्लिम संस्कृति, शिक्षा, भाषा, धर्म और वैयक्तिक कानूनों की सुरक्षा और उन्नति के लिए पर्याप्त संरक्षण की व्यवस्था हो तथा पर्याप्त सरकारी सहायता मिले।

(13) केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल में कम से कम एक तिहाई मन्त्री मुसलमान हों।

(14) केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल को संविधान में कोई परिवर्तन करने का केवल तभी अधिकार रहे, जब भारतीय संघ की इकाईयाँ उसे स्वीकार कर ले।

मि० जिन्ना की उपर्युक्त योजना से साम्प्रदायिकता का कोई वास्तविक हल तो नहीं निकला, परन्तु ब्रिटिश प्रधानमन्त्री द्वारा किए गए साम्प्रदायिक निर्णय में इनमें से अधिकाँश सूत्रों को उचित स्थान दिया जाए। डा० राजेन्द्र प्रसाद ने इनके महत्त्व के विषय में लिखा है कि चौदह सूत्रों का भारत के संविधानिक विकास में बड़ा महत्त्व है, क्योंकि प्रायः इन सभी की साम्प्रदायिक संचार में स्थान मिला।

इसके बाद जिन्ना की साम्प्रदायिक भावना बढ़ती गयी और 1928 के बाद उन्होंने द्विराष्ट्र सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार मुसलमानों को एक प थक राष्ट्र बतलाया और उसके लिए अलग स्वतन्त्र राज्य की माँग की।

मुस्लिम राष्ट्रीय सम्मेलनः इन चौदह शर्तों ने स्पष्टतः नेहरू रिपोर्ट का खण्डन किया और प्रथम गोलमेज सम्मेलन ने मुसलमानों को न्यूनतम माँगों का रूप प्रस्तुत किया, लेकिन बहुत से राष्ट्रवादी मुसलमान लीग की माँगों से सहमत नहीं थी। वे प थक निर्वाचन की व्यवस्था के विरुद्ध थे। उन्होंने 1931 में सर अली इमान की अध्यक्षता में एक सम्मेलन किया जिसे मुस्लिम राष्ट्रीय सम्मेलन कहते हैं। उन्होंने भारत के भावी संविधान के बारे में निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किए।

(1) संविधान में मौलिक अधिकारों का उल्लेख हो।

(2) संविधान का स्वरूप संघात्मक हो।

(3) अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों के हाथ में हो।

(4) लोक सेवा आयोग की सिफारिश पर सरकारी सेवाओं में भर्ती की जाए।

(5) सिन्ध प्रान्त का निर्णय किया जाए।

(6) उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त और बलुचिस्तान में अन्य प्रान्तों के समान सुधारों की व्यवस्था की जाए।

(7) वयस्क मताधिकार के आधार पर केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधानमण्डलों का निर्माण हो।

(8) संयुक्त निर्वाचन प्रणाली की व्यवस्था की जाए।

(9) अल्पसंख्यकों के लिए विधानमण्डलों में स्थान सुरक्षित तथा निश्चित हो।

भारत की राजनीति पर इन सुझावों का कोई प्रभाव नहीं पड़ सका।

साम्प्रदायिक निर्णयः द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भी मुस्लिम लीग अपनी माँग पर डटी रही जिसके कारण साम्प्रदायिक प्रश्न पर समझौता नहीं हो सका। फलत रेमजे मैकडोनाल्ड ने साम्प्रदायिक निर्णय की घोषण की। उसने मुसलमानों की सभी माँगों को स्वीकार लिया था। हिन्दुओं ने साम्प्रदायिक निर्णय का विरोध किया। महात्मा गांधी ने इसके विरोध में अनशन किया। अन्त में पूना समझौता हुआ। यह स्पष्ट हो गया कि साम्प्रदायिक प्रश्न का निर्णय बहुत ही कठिन है। राष्ट्रवादी मुस्लिम नेताओं ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए पुनः प्रयास किया। मौलाना आजाद, डा० सैयद अहमद, मौलाना शौकत अली और पं० मालवीय ने 1932 में इलाहाबाद में एक एकता सम्मेलन बुलाया। इसमें संयुक्त निर्वाचन और सुरक्षित स्थानों की व्यवस्था पर समझौता हुआ। मुसलमानों को केन्द्रीय व्यवस्थापिका में 32 प्रतिशत प्रतिनिधित्व दिया गया और सिन्ध को बम्बई से प थक् करने की स्वीकृति दी गयी। इसी बीच सर सैमुअल होर ने यह घोषणा की कि मुसलमानों को केन्द्रीय 33 प्रतिशत प्रतिनिधित्व दिया जाएगा और सिन्ध को बम्बई से अलग कर दिया जाएगा। मुसलमानों को ये छूटें 'एकता सम्मेलन' द्वारा दी गयी छूटों से अधिक थी। अतः मुसलमानों ने एकता सम्मेलन से अपने समर्थन को हटा लिया। कांग्रेस अपनी पुष्टिकरण की नीति के अन्तर्गत साम्प्रदायिक निर्णय के विरुद्ध कोई कड़ा रुख अपना न सकी। उसने मात्र दिखावे के लिए एक प्रस्ताव पारित किया जिसके द्वारा साम्प्रदायिक निर्णय को न स्वीकृत किया गया और न अस्वीकृत ही।

1935 के भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत निर्वाचनः 1935 में भारत सरकार का अधिनियम पारित हुआ जिसकी भारत के समस्त वर्गों ने तीव्र आलोचना की। मुस्लिम लीग ने अप्रैल 1936 के बम्बई अधिवेशन में इसकी आलोचना करते हुए प्रान्तीय सुधारों को स्वीकृत किया, किन्तु केन्द्रीय सुधारों को अस्वीकृत कर दिया। लीग ने संसदीय बोर्ड की स्थापना की। कांग्रेस ने भी नव-निर्वाचन में भाग लेने का निश्चय किया। किन्तु इसका अभिप्राय विधानमण्डलों में जाकर संविधान का अन्त करना था। 1936-37 में चुनाव हुआ। मुस्लिम लीग ने मुसलमानों की समस्त सीटों पर उम्मीदवार खड़े किए। इसके विपरीत कांग्रेस ने गैर मुस्लिम सीटों पर उम्मीदवारों को खड़ा किया और मुस्लिम सीट पर बहुत कम उम्मीदवार खड़े किए।

कांग्रेस पाँच प्रान्तों में पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। बम्बई और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त में स्वतन्त्र विजयी उम्मीदवारों ने कांग्रेस से सहयोग किया और वह अपना मन्त्रिमण्डल बनाने में सफल हुई। मुस्लिम लीग को उन प्रान्तों में भी बहुमत प्राप्त नहीं हुआ जिनमें मुसलमान बहुसंख्या में थे अर्थात् बंगाल, पंजाब, सिन्ध तथा उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त। वह किसी भी प्रान्त में बिना किसी दूसरे दल के अपना मन्त्रिमण्डल नहीं बना सकती थी। पाँच प्रान्तों में उसे एक भी स्थान प्राप्त नहीं हुआ। पंजाब में उसे केवल एक सीट प्राप्त हुई।

निर्वाचन के बाद कांग्रेस ने मंत्री पद ग्रहण करने का निश्चय किया। यह बात मुस्लिम लीग को खल गयी। कांग्रेस छः प्रान्तों में लीग तथा अन्य दलों की परवाह न करके अपना मन्त्रिमण्डल बना सकती

थी और अपनी नीति को कार्यरूप में परिणत कर सकती थी। इसके विपरीत मुस्लिम लीग मुस्लिम बहुल प्रान्तों में भी गैर मुस्लिम सहायता के बिना एक भी मन्त्रिमण्डल नहीं बना सकती थी। इस परिस्थिति के कारण मुस्लिम लीग को यह आभास हुआ यदि सत्ता भारतीयों के हाथों में आ जाएगी तो कांग्रेस स्थान-स्थान पर इसी प्रकार बहुमत स्थापित कर लेगी और मुस्लिम लीग का कोई स्थान ही न रह जाएगा। मुस्लिम लीग की उक्त मनोव त्ति मुसलमानों के प्रार्थक्य का परिचायक थी।

मन्त्रिमण्डल निर्माण के पूर्व कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के सहयोग को प्राप्त करने के लिए बातचीत आरम्भ की थी। कांग्रेस का सुझाव था कि विधानमण्डलों में कांग्रेस और मुस्लिम लीग मिलकर कांग्रेस लीग पार्टी का निर्माण करे और इस पार्टी की एक ही नीति तथा कार्यक्रम हो। कांग्रेस के मतानुकूल उत्तरदायी सरकार की सफलता के लिए ऐसा करना आवश्यक था। मुस्लिम लीग इससे सहमत न थी। अतः कांग्रेस ने अपनी मन्त्रिमण्डल में ऐसे मुसलमानों को सम्मिलित किया जो उसके साथ सहयोग करने को तैयार थे। कांग्रेस का यह काम जले पर नमक छिड़कने के समान समझा गया। कांग्रेस के साथ सहयोग करनेवाले मुसलमानों की निन्दा यह कहकर की गयी कि वे न तो मुसलमानों का प्रतिनिधि ात्व करते हैं और न मुसलमानों की ओर से बोल ही सकते हैं। कांग्रेस के प्रतिकूल भी बहुत सी बातें कही गई और उसके विरुद्ध भयंकर प्रचार कार्य किया गया। 1937 में मुस्लिम लीग के लखनऊ अधि ावेशन में सभापति के पद से भाषण करते हुए मि० जिन्ना इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार प्रकट किए, ''मुसलमानों को अधिकाधिक विरोधी बनाने का उत्तरदायित्व कांग्रेस के नेताओं पर है, विशेषकर पिछले दस वर्षों में क्योंकि उन्होंने पूरे तौर पर हिन्दू नीति का अनुसरण किया है। जब से उन्होंने छः प्रान्तों में जहाँ वे बहुमत में हैं अपनी सरकारें स्थापित की हैं, उन्होंने अपने कार्यों और कार्यक्रमों से यह और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है कि मुसलमान उनसे किसी प्रकार न्याय तथा ईमानदारी की आशा नहीं कर सकते। जहाँ कहीं भी वे बहुमत में हैं और जब भी उन्हें यह ठीक प्रतीत हुआ है, उन्होंने मुस्लिम लीग से सहयोग करना अस्वीकार कर लिया है और पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण तथा प्रतिज्ञा पत्रों पर हस्ताक्षर कराने की माँग प्रस्तुत की है।'' अपने भाषण में मि० जिन्ना ने इस बात पर भी जोर दिया ''हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा होगी और 'वन्दे मातरम्' राष्ट्रीय गीत होगा। कांग्रेस के झण्डे को प्रत्येक व्यक्ति को स्वीकार करना पड़ेगा। और थोड़ी सी शक्ति और उत्तरदायित्व उनके हाथ में आए हैं, उसके प्रारम्भ में ही इन बहुमत वालों ने अपनी यह करामात दिखा दी है कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं के लिए है। कांग्रेस राष्ट्रीयता का केवल बहाना करती है और हिन्दू महासभा के कोमल शब्दों तक का प्रयोग नहीं करती।'' मुस्लिम लीग उसके नेता मि० जिन्ना ने कांग्रेस के विरुद्ध विष ही नहीं उगला, वरन् उन्होंने जाँच कमेटी नियुक्त करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया कि कांग्रेस बहुमत वाले प्रान्तों की सरकारें मुसलमान पर वास्तव में अत्याचार कर रही थीं। कांग्रेस और मुस्लिम लीग का परस्पर विरोध इतना अधिक बढ़ा कि दूसरे विश्वयुद्ध के छिड़ने पर जब कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने त्याग पत्र दिया तो मि० जिन्ना ने मुस्लिम लीग को 'मुक्ति दिवस और प्रार्थना दिवस' मनाने का आदेश दिया।

पाकिस्तान की माँग

मुस्लिम लीग द्वारा 'प थक् मत' प थक निर्वाचन मण्डल, प थक प्रान्त और रक्षा कवच सबकी माँग की जा चुकी थी। अगला तर्कसंगत कदम प थक राज्य की माँग करना था। यद्यपि मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग सैद्धान्तिक और व्यावहारिक द ष्टिकोण से त्रुटिपूर्ण थी, तथापि लीग की शक्तिशाली बनाए रखने में समर्थ थी।

पाकिस्तान के विचार का जन्मः साधारण तथा 'हिन्दुस्तान हमारा' के रचयिता सुप्रसिद्ध कवि डा० मोहम्मद इकबाल को पाकिस्तान के विचार का जनक समझा जाता है। सर्वप्रथम उन्होंने पाकिस्तान

के निर्माण की माँग 1930 में की थी। इसी वर्ष लीग का इलाहाबाद में वार्षिक अधिवेशन हुआ, जिसके अध्यक्ष डा० इकबाल थे। इस समय उन्होंन अपने अध्यक्षयीय भाषण में कहा ''मुझे कम-से-कम उत्तर पश्चिमी भारत के मुसलमानों का अन्तिम लक्ष्य एक पूर्ण उत्तर पश्चिमी भारतीय मुस्लिम राज्य का निर्माण प्रतीत होता है।'' चूँकि उन्होंने 'भारतीय मुस्लिम राज्य' शब्द का प्रयोग किया था, इससे स्पष्ट होता है कि वे मुसलमानों के लिए एक प्रभुता सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य के निर्माण के पक्ष में नहीं थे। कूपलैण्ड लिखते हैं, ''इकबाल सम्पूर्ण भारत के लिए एक ढीले संघ के पक्ष में थे, जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार के द्वारा कुछ विशेष विषयों के सम्बन्ध में शक्ति का प्रयोग किया जाना था।'' 1930 में ही इकबाल ने एडवर्ड थाम्पसन से कहा था, ''पाकिस्तान की योजना ब्रिटिश सरकार, हिन्दू जाति तथा मुस्लिम जाति के लिए घातक होगी।''

इकबाल के विचारों से प्रभावित होकर 1933 में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक विद्यार्थी चौधरी रहमत अली के नेत त्व में कुछ मुस्लिम छात्रों ने इंग्लैण्ड में एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें पंजाब, कश्मीर, सिन्ध, बलूचिस्तान और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त को मिलाकर 'पाकिस्तान' का निर्माण किए जाने की माँग की गयी। परन्तु जब यह माँग गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों मि० जिन्ना और जफरउल्ला खाँ के समक्ष प्रस्तुत की गयी तो इन नेताओं ने इस योजना को काल्पनिक और अव्यावहारिक बतलाया और इसे ठुकरा दिया। इस प्रकार उस समय तक पाकिस्तान की योजना को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। जनवरी 1940 ई० तक मि० जिन्ना ने भी पाकिस्तान की माँग को स्वीकार नहीं किया था। 19 जनवरी 1940 ई० को मि० जिन्ना ने लिखा था, ''भारत में दो राष्ट्र हैं और दोनों को अपनी मात भूमि के शासन में समान भाग मिलना चाहिए।'' लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि उसके तीन महीने बाद ही मि० जिन्ना ने पाकिस्तान के निर्माण की माँग पर बल देना शुरू कर दिया।

द्विराष्ट्रीय सिद्धान्तः द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक मि० जिन्ना थे। उन्होंने मार्च 1940 के मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त के सम्बन्ध में कहा था, ''हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म शाब्दिक अर्थ में धर्म नहीं हैं, वरन ये प थक् और स्पष्ट सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं। हिन्दू और मुसलमान कभी एक संयुक्त रूप में रह सकते हैं, यह कोरा एक स्वप्न है। राष्ट्र की किसी भी परिभाषा के अनुसार मुसलमान एक राष्ट्र है, अतः उनका प्रदेश तथा राज्य होना चाहिए।'' जिन्ना के इसी सिद्धान्त के आधार पर 1940 में मुस्लिम लीग ने लाहौर अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास किया। इसके बाद मुस्लिम लीग का वार्षिक अधिवेशन मद्रास में हुआ। इस अधिवेशन में अपनी अध्यक्षीय भाषण में मि० जिन्ना ने कहा, ''मुस्लिम लीग का उद्देश्य उत्तरी पश्चिमी तथा पूर्वी प्रदेशों में स्वतन्त्र राज्य की स्थापना है। हम किसी भी दशा में ऐसा संविधान स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं जो समस्त भारत के लिए केन्द्रीय सरकार की स्थापना करता है।'' कुछ समय बाद मि० जिन्ना की 'एसोसिएटेड प्रेस आफ अमेरिका' से एक वार्ता हुई, जिसमें जिन्ना ने कहा कि ''पाकिस्तान एक जनतन्त्रात्मक संघीय राज्य होगा, जिसमें पश्चिम में पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, बलूचिस्तान, सिन्ध, पंजाब और पूर्व में बंगाल व आसाम सम्मिलित होंगे।

मि० जिन्ना के द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त के प्रतिपादन के बाद जब लीग ने पाकिस्तान का प्रस्ताव पारित किया तो इससे विभाजन की दिशा में सोचने वाली सभी शक्तियों को नया आधार मिला। अलीगढ़ के मुहम्मद हुसैन कादरी एवं प्रो० जफरूल हुसैन ने कहा कि, ''भारत के मुसलमान स्वतः एक राष्ट्र है। हिन्दुओं तथा अन्य गैर मुसलमान दलों से उनका राष्ट्रीय अस्तित्व सर्वथा भिन्न है। वस्तुतः सुटेडान जर्मन और चेको में जितना पार्थक्य था, उससे कहीं अधिक पार्थक्य हिन्दुओं और मुसलमानों में है।'' अलहमजा ने इस सम्बन्ध में लिखा है ''भारत एक देश नहीं है, वरन् इसमें कई देश हैं और इसलिए इसे कई राष्ट्रों में विभक्त होना चाहिए।''

मि० जिन्ना का द्विराष्ट्र सिद्धान्त सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही द ष्टि से दोषपूर्ण था। मुस्लिम लीग हिन्दुओं के लिए प थक् राष्ट्र चाहती थी, ताकि उनके हितों की हमेशा रक्षा होती रहे। वास्तव में मुस्लिम लीग यह समझती थी कि पाकिस्तान का निर्माण अल्पसंख्यकों की रक्षा का श्रेष्ठ उपाय होगा, परन्तु लीग ने यह कभी नहीं सोचा कि पाकिस्तान की स्थापना के बाद भी भारत में कुछ मुसलमान और पाकिस्तान में कुछ गैर मुस्लिम रह जाएँगे। परिणामस्वरूप अल्पसंख्यकों की संख्या उग्र रूप धारण कर लेगी। डा० राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार मुस्लिम लीग यह समझती थी, ''राष्ट्रीय राज्य तथा राष्ट्रीय अल्प संख्यक वर्ग दोनों ही परस्पर विरोधी होते हैं।'' मौलाना आजाद ने 15 अप्रैल 1946 को लीग की पाकिस्तान के माँग के विरोध में एक वक्तव्य दिया, जिसमें उन्होंने कहा था, ''इस योजना पर सभी द ष्टिकोणों से विचार करने के बाद में इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यह केवल सम्पूर्ण भारत के लिए ही नहीं, वरन् मुसलमानों के लिए विशेष रूप से घातक है और यथार्थ में यह जितनी समस्याएँ सुलझाती हैं, उससे अधिक को जन्म देती है।

भारत में कांग्रेस के अतिरिक्त मुसलमानों के ही एक वर्ग ने भी लीग की पाकिस्तान की योजना का तीव्र विरोध किया। अप्रैल 1940 में दिल्ली में अखिल भारतीय स्वतन्त्रता मुस्लिम सम्मेलन हुआ, इसके अध्यक्ष खान बहादुर अल्लाहबख्श थे। इस सम्मेलन में पाकिस्तान की माँग की तीव्र आलोचना करते हुए अल्लाहबख्श ने कहा कि यह योजना, ''मुसलमानों की एक प थक्कत्व विरोधायान में पटक देगी। 'जमीयत-उल-उलेमा-ए-हिन्द' भी पाकिस्तान की माँग की विरोधी थी और उसका कहना था ''राष्ट्रीय द ष्टि से प्रत्येक मुसलमान भारतीय है।'' इसी प्रकार अन्य संस्थाओं ने भी लीग की पाकिस्तान की माँग का विरोध किया। उनमें मजलिस-ए-अहरार-ए-हिन्द, पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के खुदाई खिदमतगार, अखिल भारतीय शिया राजनीतिक सम्मेलन, अखिल भारतीय मोमिन सम्मेलन एवं बलूचिस्तान के राष्ट्रवादी मुसलमान आदि मुस्लिम संस्थाओं के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जहाँ तक गैर मुस्लिमों का प्रश्न है, उन्होंने यह स्पष्ट बता दिया था कि किसी भी कीमत पर भारत का विभाजन नहीं होने देंगे।

यह सत्य है कि द्विराष्ट्र सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण तथा देश की एकता का विरोधी था। परन्तु मि० जिन्ना जैसे स्वार्थी राजनीतिज्ञ ने लीग के माध्यम से अत्यन्त बुद्धिमता से इस सिद्धान्त का प्रचार किया। मुस्लिम लीग पाकिस्तान की माँग पर डटी रही। इसलिए जब कभी भी संवैधानिक गतिरोध को दूर करने के लिए प्रयत्न किए गए, पाकिस्तान की माँग ने उन्हें हमेशा असफल कर दिया। इन असफल प्रयत्नों ने क्रिप्स योजना, राजगोपालाचारी योजना एवं केबिनेट योजना आदि प्रमुख हैं।

पाकिस्तान का निर्माण: इस प्रकार मुस्लिम लीग की हठधर्मिता का कांग्रेसी नेताओं पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्हें यह विश्वास हो गया कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए कांग्रेस के सामने पाकिस्तान की माँग को स्वीकार करने के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं है। इसी बीच लार्ड माउन्टबेटन ने 3 जून 1947 को अपनी योजना प्रस्तुत की, जिसमें भारत तथा पाकिस्तान दो प थक् उपनिवेशों की स्थापना की व्यवस्था की गयी थी। कांग्रेस और लीग ने इस योजना को स्वीकार कर लिया तो ब्रिटिश संसद ने इस योजना के आधार पर जुलाई 1947 में भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम के अन्तर्गत 14 अगस्त 1947 को पाकिस्तान का निर्माण कर दिया गया और मि० जिन्ना को पाकिस्तान का प्रथम गवर्नर जनरल बनाया गया।

क्या भारत विभाजन अनिवार्य था?

1946 तक तो भारत विभाजन के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता था। लेकिन 1947 में भारत के विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण ने एक वास्तविकता का रूप ग्रहण कर लिया। इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना के सम्बन्ध में विभिन्न विचार प्रकट किए गए हैं। मौलाना आजाद ने 1959 में

प्रकाशित अपनी पुस्तक (India Wins Freedom) में यह विचार व्यक्त किया है कि भारत का विभाजन अनिवार्य नहीं था और जवाहर लाल नेहरू तथा पटेल जैसे नेताओं ने अपनी इच्छा से ही विभाजन के मार्ग को अपनाया, क्योंकि महात्मा गांधी तो अन्तिम दिनों तक इसके विरुद्ध थे, उन्होंने बँटवारे के कुछ दिन पूर्व ही यह बयान दिया था, ''भारत का विभाजन मेरे शव पर होगा। जब तक मैं जिन्दा हूँ, भारत के दो टुकड़े नहीं होने दूँगा। यथासंभव मैं कांग्रेस को भी भारत का बँटवारा स्वीकार नहीं करने दूँगा।'' दुर्भाग्यवश नेहरू और पटेल ने माउंटबेटन के प्रभाव में आकर उसकी विभाजन सम्बन्धी योजना को स्वीकार कर लिया और फिर उन्होंने गांधी तथा कांग्रेस दल को विभाजन के पक्ष में कर लिया। इसके विपरीत कुछ अन्य व्यक्तियों का मानना है कि जुलाई 1946 से मार्च 1947 के बीच कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हुई, जिनके परिणामस्वरूप भारत का विभाजन अवश्यम्भावी हो गया। इस समय पटेल और नेहरू के समक्ष भारत के विभाजन को स्वीकार करने के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं था।

गम्भीर विचार के उपरान्त द्वितीय विचार ही सत्य के अधिक निकट प्रतीत होता है। यह ठीक है कि सर्वप्रथम नेहरू और पटेल ने ही विभाजन की योजना को स्वीकार किया था। लेकिन नेहरू और पटेल भी भारत के अन्य राष्ट्रीय नेताओं की भाँति अखण्ड भारत के प्रबल समर्थक थे। इसके अतिरिक्त वे दूसरे व्यक्तियों की तुलना में देश की सम्पूर्ण स्थिति से अच्छी तरह परिचित थे। पटेल तथा नेहरू ने माउंटबेटन की योजना को इसलिए स्वीकार किया कि मुस्लिम लीग ने सारे भारत में साम्प्रदायिक दंगे भड़का दिए थे, जिसमें हजारों लोग मर रहे थे। मुस्लिम लीग विभाजित भारत के अतिरिक्त अन्य किसी बात पर समझौता करने के लिए तैयार नहीं थी। ऐसी स्थिति में नेहरू और पटेल के सामने विभाजन को स्वीकार करने के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं था। सम्बन्धित परिस्थितियों का अध्ययन करने से पता चलता है कि नेहरू तथा पटेल बँटवारे के दुष्परिणामों से भली प्रकार परिचित थे। वे हृदय से बंटवारे के पक्ष में न थे परन्तु यह निर्णय ऐसी स्थिति में किया गया निर्णय था, जबकि भारतीय समस्या के हल का अन्य कोई विकल्प ही नहीं रह गया था। श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति के शब्दों में, ''यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि उस समय अनिवार्य समझकर कांग्रेस के नेताओं ने विभाजन के साथ स्वाधीनता को स्वीकार किया। यदि वह स्वीकृति न देती तो क्या परिणाम होता, इस प्रश्न का उत्तर इतिहास की सीमा से बाहर है।''

विभाजन के कारण: जिन परिस्थितियों ने भारत विभाजन को अनिवार्य कर दिया था, उसकी व्याख्या इस प्रकार हो सकती है-

(1) **अंग्रेज सरकार की फूट डालो और शासन करने की नीतिः** अंग्रेजों ने भारत में अपने साम्राज्य को बनाए रखने के लिए आरम्भ से ही 'फूट डालो और शासन करो' की नीति चलायी थी, जिसके कारण सदियों से एक दूसरे के साथ रहनेवाली हिन्दू और मुसलमान जातियों को पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ गए। लार्ड मिन्टो ने साम्प्रदायवाद का बीज बोया, जिसके कारण भारत के राष्ट्रीय जीवन में विष संचार हुआ, उसकी चरम परिणति पाकिस्तान के रूप में प्रकट हुई। डा० राजेन्द्र प्रसाद ने खण्डित भारत में लिखा है, ''पाकिस्तान के निर्माता कवि इकबाल या जिन्ना नहीं वरन् लार्ड मिण्टो थे।''

ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए 1909, 1919 एवं 1935 के अधिनियमों द्वारा प थक् निर्वाचन की व्यवस्था कर पाकिस्तान का बीजारोपण कर दिया था। इसके पश्चात अंग्रेज निरन्तर मुसलमानों की माँगों का समर्थन करते रहे। और दोनों जातियों के हृदयों में एक दूसरे के प्रति अविश्वास उत्पन्न करते रहे और इस नीति को प्रोत्साहन देते रहे। 1939 में एडवर्ड थोम्पसन ने विस्मय के साथ नोट किया था, ''कतिपय सरकारी पदाधिकारी पाकिस्तान के विचार के प्रति कड़े उत्साही थे।'' अंग्रेज अधिकारियों की

सहानुभूति पाकिस्तान के साथ थी और वायसराय के संवैधानिक परामर्शदाता वी.पी. मेनन ने सरदार वल्लभभाई पटेल को यह समझाया कि ग ह युद्ध की तरफ बढ़ने की बजाय देश का बँटवारा स्वीकार कर लेना अच्छा है।''

1940 में लीग ने पाकिस्तान की प्राप्ति को अपना राजनीतिक लक्ष्य घोषित किया। इसके पश्चात ब्रिटिश सरकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से लीग की इस माँग का समर्थन करती रही। लीग ने 1946 में पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए सीधी कार्यवाही प्रारम्भ कर दी, जिसके कारण सारे देश में साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे। ऐसे समय में ''ब्रिटिश शासन ने कभी भी सामुदायिक उपद्रवों को दबाने में आवश्यक दिलचस्पी नहीं दिखाई, क्योंकि वे उपद्रव ब्रिटिश शासन की नीति के अनुरूप ही थे।'' ऐसी स्थिति में मुसलमानों को पुलिस प्रतिरक्षा, सूचना विभाग एवं यातायात विभाग में महत्त्वपूर्ण पदों पर लगाया जा रहा था। मुस्लिम लीग के सदस्य अन्तरिम सरकार में शामिल होने के बाद काँग्रेस के मन्त्रियों के लिए सिरदर्द बन गए। ऐसी स्थिति में नेहरू ने तंग आकर ये शब्द कहे, ''हम सरदर्द से छुटकारा पाने के लिए सिर कटवाने को तैयार हो गए।'' वस्तुतः मुस्लिम लीग की कार्रवाई ने अन्तरिम सरकार का कार्य करना मुश्किल कर दिया था, इसलिए सरदार पटेल ने 25 दिसम्बर 1948 को बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में भाषण देते हुए कहा था, ''मैंने महसूस किया है कि यदि हम पाकिस्तान की स्थापना के लिए मानते, तो भारत बहुत छोटे टुकड़ों में बँट जाता और बिल्कुल नष्ट-भ्रष्ट हो जाता पद सम्भालने के बाद मुझे अनुभव हुआ कि हम विनाश की तरफ बढ़ रहे हैं। केवल एक पाकिस्तान नहीं बनता, बल्कि अनेक बनते। प्रत्येक दफ्तर में पाकिस्तान की एक इकाई होती।'' नवम्बर 1949 में संविधान सभा में भाषण देते हुए सरदार वल्लभ भाई पटेल ने कहा, ''मैं देश के बँटवारे के लिए उस समय माना, जबकि इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहा। हम उस समय ऐसी अवस्था में पहुँच गये, यदि हम देश का बंटवारा न मानते, तो सब कुछ हमारे हाथ से चला जाता।''

(2) **हिन्दुओं का मुसलमानों के प्रति अपमानजनक व्यवहारः** ब्रिटिश सरकार को हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों को बिगाड़ने में इतनी जल्दी सफलता प्राप्त हुई, उसका एक प्रमुख कारण हिन्दुओं का मुसलमानों के प्रति अपमानजनक व्यवहार था। हिन्दू मुसलमानों से दूर रहते थे ताकि उसे न छू सकें। इसका अर्थ यह था कि हिन्दू मुसलमानों को अपने से छोटा समझते थे। मुसलमान हिन्दुओं के इस सामाजिक बहिष्कार के रवैये को अपना अपमान समझते थे। मुसलमानों ने यह महसूस किया कि हिन्दू बहुसंख्यक भारत में उनका धर्म, भाषा और संस्कृति सुरक्षित नहीं है। परिणामस्वरूप हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों में घ णा की भावना उत्पन्न हो गयी। यह भावना द ढ़तर होती गयी और आगे चलकर उसने साम्प्रदायिकता का रूप धारण कर लिया।

(3) **हिन्दू महासभा का रुखः** पाकिस्तान की माँग को प्रबल बनाने में हिन्दू सम्प्रदायवाद और हिन्दू महासभा ने भी बहुत योग दिया। कट्टरपंथी हिन्दुओं ने धर्म के आधार पर एक अलग राजनीतिक संगठन बनाया, जिसे हिन्दू महासभा कहते हैं इसमें हिन्दुओं में धार्मिक कट्टरता को बढ़ावा दिया और साम्प्रदायिक दंगों में मुसलमानों का साम्प्रदायिक आधार पर मुकाबला किया। हिन्दू महासभा का कहना था कि मुसलमान एक अलग राष्ट्र है जिसका भारत में कोई स्थान नहीं है। 1937 में महासभा के अहमदाबाद अधिवेशन में श्री सावरकर ने कहा था, ''भारत एक और एक सूत्र में बंधा राष्ट्र नहीं माना जा सकता, अपितु यहाँ मुख्यतया दो हिन्दू और मुसलमान राष्ट्र है।'' कई अवसरों पर हिन्दू महासभा के नेताओं ने अनुत्तरदायी तथा भड़कीले भाषण दिये। इसके प्रतिक्रियास्वरूप मुस्लिम लीग ने साम्प्रदायिक विष उगलना

शुरू कर दिया। ऐसी अनेक बातों से हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य बढ़ता ही गया, जो भारत विभाजन से ही शान्त हो सकता था।

(4) **कांग्रेस की दोषपूर्ण नीतिः** अनेक विचारकों का मत है कि कांग्रेस की मुस्लिम लीग के प्रति दोषपूर्ण नीति ने भी मुस्लिम लीग को पाकिस्तान की माँग पर बल देने के लिए प्रोत्साहित किया। कांग्रेस हमेशा मुस्लिम लीग से समझौता करने को उत्सुक रहती थी। इससे लीग का अनावश्यक महत्त्व बढ़ गया और वह यह समझने लगी कि उसके बिना कांग्रेस भारत की किसी भी संवैधानिक समस्या का समाधान नहीं कर सकती है। समय-समय पर कांग्रेस ने लीग की अनुचित माँगों को स्वीकार करके उसका महत्त्व बढ़ाने में योगदान दिया। कांग्रेस ने 1916 में लखनऊ समझौते में अपने सिद्धान्तों की तिलाँजलि देकर मुसलमानों के प थक प्रतिनिधित्व एवं उनकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व को मानकर भारत में सम्प्रदायवाद को स्वीकार कर लिया। 1919 में असहयोग के प्रश्न को खिलाफत के साथ मिलाया और 1932 में साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति उसके द ष्टिकोण ने भी मुस्लिम प थकतावाद को प्रोत्साहित ही किया। डा० लाल बहादुर शास्त्री के शब्दों में, ''कांग्रेस ने लीग के प्रति तुष्टिकरण की नीति को अपनाया और इस प्रकार न चाहते हुए भी उसे निरन्तर बढ़ते हुए दावे करने के लिए प्रेरित किया। मुसलमानों को खुश करने की उत्सुकता में इसने अपने सिद्धान्तों की बलि दे दी।

कांग्रेस मुस्लिम लीग को सन्तुष्ट करने के लिए सदा झुकती रही और मुस्लिम लीग को छूट देती रही। सी.आर. फार्मूले में भी लीग की पाकिस्तान की माँग काफी सीमा तक स्वीकार कर ली गयी थी। इस फार्मूले के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए गांधीजी जिन्ना के पीछे भागते रहे। इससे जिन्ना का महत्त्व बढ़ा। इसके अतिरिक्त 14 जून 1947 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में पं० जवाहर लाल नेहरू ने कहा था, ''कांग्रेस भारतीय संघ में किसी भी इकाई को बलपूर्वक रखने के विरुद्ध है।'' सरदार वल्लभ भाई पटेल ने भी इस बात का समर्थन किया। इन सब बातों से जिन्ना समझ चुका था, ''कांग्रेस अन्त में परिस्थिति से विवश होकर बँटवारे के लिए मान जाएगी। मुस्लिम लीग को अनावश्यक महत्त्व देना तथा उसके पीछे भागना कांग्रेस की सबसे बड़ी गलती थी।

(5) **जिन्ना जिद और हठधर्मीः** कांग्रेस नेता यह मानते थे, ''हमारा मुख्य संघर्ष ब्रिटिश सरकार से है न कि जनता के साथ। इसलिए राष्ट्रीय आन्दोलन में मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के लिए और भारत की संवैधानिक समस्या का हल करने के लिए कांग्रेसी नेता जिन्ना से बातचीत करने के लिए सदैव तैयार रहते थे और उसकी माँग को पूरा करने का हर सम्भव प्रयास करते थे। जिन्ना ने सदैव ही इस बात का अनुचित लाभ उठाया। उसने अपनी माँगों में व द्धि करना जारी रखा। जिन्ना की जिद और हठधर्मी के कारण गोलमेज सम्मेलन, राजगोपालाचारी योजना, वेवल योजना तथा केबिनेट योजना असफल हो गयी। उसी के कारण साम्प्रदायिक समस्या का कोई हल नहीं निकल सका। उसने पाकिस्तान की माँग पर अड़ना जारी रखा। उसने कांग्रेस को महाहिन्दू संस्था माना और अपने आपको मुसलमानों का प्रतिनिधि।''

1937 के चुनाव हुए, उसमें आठ प्रान्तों में कांग्रेस की सरकार बनी। जिन्ना हमेशा कांग्रेसी नेताओं पर मनगढ़न्त आरोप लगाता रहा कि कांग्रेसी नेता उन आठ प्रान्तों में रहनेवाले मुसलमानों पर अत्याचार कर रहे हैं। द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ करने पर जब ब्रिटिश सरकार का विरोध कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने त्याग पत्र दिये, तब जिन्ना ने 'मुक्ति दिवस' मनाया। साम्प्रदायिक समस्या को हल करने के लिए गांधीजी बार-बार जिन्ना के पीछे

भागते थे। इससे सरदार पटेल, मौलाना आजाद जैसे कांग्रेसी नेता उससे नाराज हो गये। वे नहीं चाहते थे कि गांधीजी बार-बार जिन्ना से बातचीत करें, क्योंकि इससे उसके सम्मान में व द्धि हो रही थी तथा वह दिन-प्रतिदिन जिद्दी व हठधर्मी बनता जा रहा था। उसने पाकिस्तान प्राप्त करने के लिए सीधी कार्यवाही प्रारम्भ की, जिससे देश में चारों ओर साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे और निर्दोष लोगों का कत्लेआम शुरू हो गया। इन दंगों में हजारों व्यक्ति मारे गये। जिन्ना को पाकिस्तान मिल गया। उसके बाद भी वह शान्त नहीं हुआ, उसने पाकिस्तान में रहनेवाले हिन्दुओं पर अमानवीय अत्याचार करके उन्हें वहाँ से निकाल दिया। ब्रिटिश सरकार तथा गांधीजी दोनों ने ही जिन्ना की हठधर्मी को प्रोत्साहित किया था। यद्यपि उसके लिए अंग्रेज अधिक जिम्मेदार थे। इन परिस्थितियों में कांग्रेस ने अनमने रूप से भारत विभाजन को स्वीकार कर लिया। 3 जून 1947 को लार्ड माउण्टबेटन ने कहा था, ''एक अखण्ड भारत भारतीय समस्या का सर्वोच्च समाधान होता लेकिन चूँकि पाकिस्तान के अलावा अन्य किसी आधार पर दलों में समझौता होने की सम्भावना नहीं थी इसलिए उन लोगों ने भारत विभाजन को हिचक के साथ स्वीकृति दे दी।''

(6) **सत्ता के प्रति आकर्षण:** कांग्रेसी नेता सत्ता प्राप्ति के लिए बहुत उतावले हो गये थे, इसलिए भी उन्होंने देश का विभाजन स्वीकार कर लिया। बड़े लम्बे संघर्ष के साथ उन्होंने सत्ता का स्पर्श किया था। अतः वे किसी भी प्रकार से सत्ता हथियाना चाहते थे। वे संघर्ष करते थक गये थे तथा अब और संघर्ष करने को तैयार नहीं थे। अब वे किसी भी कीमत पर भारत को स्वतन्त्र देखना चाहते थे। इसलिए देश विभाजन की कीमत पर भी विदेशी सत्ता से मुक्ति पाने के लिए तैयार हो गये। माईकेल ब्रेचर के अनुसार, ''कांग्रेसी नेताओं के सम्मुख सत्ता के प्रति आकर्षण भी था। इन नेताओं ने अपने राजनीतिक जीवन का अधिकाँश भाग ब्रिटिश विरोध में बिताया था और अब वे स्वाभाविक रूप से सत्ता के प्रति आकर्षित हो रहे थे। कांग्रेसी नेता सत्ता का आस्वादन कर ही चुके थे और विजय की घड़ी में इससे अलग होने के इच्छुक नहीं थे।''

(7) **साम्प्रदायिक दंगे:** जब मुस्लिम लीग को संवैधानिक साधनों के माध्यम से पाकिस्तान की माँग को स्वीकार करवाने के लक्ष्य में सफलता नहीं मिली तो उसने मुसलमानों का साम्प्रदायिक उपद्रवों के लिए उत्तेजित किया। परिणामस्वरूप देश में चारों ओर साम्प्रदायिक दंगे तथा उपद्रव शुरू हो गये। इनमें हजारों व्यक्ति मर रहे थे। बदले की भावना से हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के रक्त से होली खेल रहे थे। 16 अगस्त 1946 को मुस्लिम लीग की प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस पर कलकत्ता में सात हजार व्यक्ति मारे गये। इस प्रकार की घटनाएँ नोआखली और त्रिपुरा में हुई। तत्पश्चात् ये दंगे बिहार एवं उत्तर प्रदेश में फैल गये और साम्प्रदायिक दंगों को चरमोत्कर्ष पर देखा गया पंजाब में। साराँश यह है कि जुलाई 1946 के बाद दंगों का ऐसा सिलसिला प्रारम्भ हुआ, जो लगभग एक वर्ष तक चलता रहा। देश में चारों ओर अव्यवस्था फैल गयी। इन दंगों को रोकने में अन्तरिम सरकार को सफलता प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि सेना और पुलिस पर इसका नियन्त्रण न होकर अंग्रेज सरकार का था तथा जिन प्रान्तों में मुस्लिम लीग का शासन था, वहाँ की सरकार मुस्लिम उपद्रवकारियों को सहायता दे रही थी। मुस्लिम लीग इन दंगों के माध्यम से कांग्रेस को आतंकित कर विभाजन का प्रस्ताव स्वीकार कराना चाहती थी।

यदि अंग्रेज सरकार चाहती तो इन दंगों पर नियन्त्रण कर सकती थी। परन्तु वह शान्ति के पक्ष में नहीं थी, उसने इन दंगों को और भी बढ़ाने का प्रयास किया। वे भारतीयों को बताना चाहते थे कि वे स्वतन्त्रता के योग्य नहीं हैं। यदि उन्हें स्वतन्त्रता दे दी गयी तो वे आपस

में लड़ मरेंगे। वस्तुतः अंग्रेज पाकिस्तान की स्थापना के पक्ष में थे, क्योंकि जिन्ना उनको पाकिस्तान में अपना प्रभाव रखने देने के लिए तैयार था। महात्मा गांधी के निजी सचिव प्यारे लाल ने इस सम्बन्ध में लिखा है, ''जिन्ना ने माउण्टबेटन को यह कहा था कि यदि अंग्रेज पाकिस्तान की स्थापना में उसकी सहायता करेंगे तो वह पाकिस्तान को ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में रखने को तैयार है।''

इन दंगों की भीषणता ने कांग्रेस के द ष्टिकोण में परिवर्तन ला दिया। इसका प्रमाण तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष आचार्य कृपलानी का वह भाषण है जो उन्होंने 15 जून 1947 को दिया। इसमें उन्होंने साम्प्रदायिक दंगों का विभत्स द श्य प्रस्तुत करते हुए कहा, ''मैंने एक कुँआ देखा है जिसमें 107 स्त्री बच्चों ने अपनी इज्जत बचाने के लिए छलांग लगाकर जान दे दी। एक दूसरी जगह एक धर्मस्थान में पुरूषों ने पचास स्त्रियों को इसी कारण अपने हाथों वध कर डाला। मैंने एक घर में हड्डियों का ढेर देखा है जिसमें आक्रमणकारियों ने 307 व्यक्तियों को बन्द कर जिन्दा जला डाला था इन भयानक द श्यों को देखकर इस समस्या के सम्बन्ध के बारे में मेरे विचारों पर बहुत प्रभाव पड़ा है और अन्य अनेक व्यक्तियों के समान मैं यह सोचने लगा हूँ कि विभाजन ही इस समस्या का एकमात्र विकल्प है।'' इस प्रकार देश में बढ़ती हुई अराजकता हिंसा और ग हयुद्ध ने भी कांग्रेसी नेताओं को काफी प्रभावित किया। कांग्रेस ने भोली-भाली जनता के रक्तपात की अपेक्षा विभाजन को स्वीकार करना अच्छा समझा।

(8) **दबाव द्वारा एकता अवाँछनीयः** कांग्रेसी नेताओं को यह विश्वास हो गया था कि भारत के अधिकाँश मुसलमान पाकिस्तान के पक्ष में हैं। अतः बाह्यकारी एकता देश के हित में नहीं होगी। दबाव के आधार पर गठित संघ न तो स्थायी हो सकता था और न ही लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के अनुकूल था। इसके अतिरिक्त संघ में इन अवाँछित तत्त्वों का होना देश के हितों के लिए उपयोगी नहीं था। पं० नेहरू ने अपने साथियों से इस सम्बन्ध में ये शब्द कहे थे, ''यदि उन्हें भारत में रहने के लिए बाध्य किया गया तो प्रगति और नियोजन नितान्त असम्भव हो जायेंगे।'' सरदार पटेल ने भी एक प्रकार से इसी विचारधारा का समर्थन किया था, जब उन्होंने 15 जून 1947 को कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक में कहा था, ''यदि एक अंग में विष संचार हो जाए तो उसे तुरन्त शरीर से अलग कर देना चाहिए। ऐसा न हो कि इससे सारा शरीर पीड़ित हो जाए और फिर उपाय करना सम्भव न रहे।''

(9) **कांग्रेस की भारत को शक्तिशाली बनाने की इच्छाः** कांग्रेसी नेता मुस्लिम लीग की तोड़फोड़ की नीति से समझ गये थे कि वह किसी भी बात पर कांग्रेस को सहयोग नहीं देगी। ऐसी स्थिति में भारत कभी भी शक्तिशाली देश नहीं बन सकेगा। इसलिए सरदार पटेल ने कहा था, ''मैंने उस समय महसूस किया कि भारत को मजबूत और सुरक्षित करने का यही तरीका है कि शेष भारत को संगठित किया जाए।'' मुस्लिम लीग केन्द्र को निर्बल बनाना चाहती थी, ताकि भारत कभी भी शक्तिशाली राष्ट्र न बन सके। इसलिए सरदार पटेल ने कहा था, ''बँटवारे के बाद हम कम से कम 75 या 80 प्रतिशत भाग को शक्तिशाली बना सकते हैं, शेष को मुस्लिम लीग बना सकती है।'' ऐसी स्थिति में कांग्रेस को देश का बँटवारा मानना पड़ा। भारत विभाजन के नौ साल बाद पं० जवाहर लाल नेहरू ने कहा था, ''हमने इस बात को द ष्टि में रखते हुए कि विशाल भारत की अपेक्षा सशक्त भारत अच्छा है, भारत विभाजन को स्वीकार किया। हमने उन लोगों को जो उसमें रहना चाहते थे, मजबूर करना उचित न समझा।''

(10) **अन्तरिम सरकार की असफलताः** केबिनेट मिशन योजना के अन्तर्गत अक्टूबर 1946 में अन्तरिम सरकार की व्यवस्था की गयी थी, जिसमें लीग के पाँच प्रतिनिधियों को भी सम्मिलित किया गया था। लीग अन्तरिम सरकार में कांग्रेस के साथ सहयोग करने के लिए नहीं, वरन पग-पग पर बाधाएँ डालने हेतु ही इसमें सम्मिलित हुई थी। इस प्रकार लीग के प्रतिनिधि कांग्रेसी साथियों के लिए दुख का बहुत बड़ा कारण बन गये थे। अन्तरिम सरकार में लियाकत अली खाँ वित्त मंत्री थे। उन्होंने कुछ मुस्लिम कर्मचारियों के सहयोग से कांग्रेसी मन्त्रियों को बहुत तंग किया। उसने उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रत्येक सुझाव को अस्वीकार करने या उसमें विलम्ब करने का मार्ग अपनाया। कांग्रेसी मन्त्री लियाकत अली की स्वीकृति के बिना एक चपरासी की नियुक्ति भी नहीं कर सकते थे। फलतः मन्त्रिमण्डल में रोज झगड़े होने लगे और सरकार का कार्य सुचारू ढंग से चलना असम्भव हो गया। कांग्रेसी नेता यह समझ चुके थे कि लीग के साथ मिलकर शासन का संचालन नहीं किया जा सकता है इसलिए सरदार पटेल ने कहा, ''यदि शरीर का एक भाग खराब हो जाए तो उसको शीघ्र हटाना ठीक है, ताकि सारे शरीर में जहर न फैले। मैं मुस्लिम लीग से छुटकारा पाने के लिए भारत का कुछ भाग देने के लिए तैयार हूँ।''

(11) **सत्ता हस्तान्तरण की धमकीः** 20 फरवरी 1947 को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एटली ने घोषणा की कि प्रत्येक स्थिति में ब्रिटिश सरकार जून 1948 ई० तक भारतीयों को सत्ता सौंप देगी। अब कांग्रेसी नेताओं को भारत विभाजन और ग हयुद्ध में से एक को स्वीकार करना जरूरी था। चूँकि ग हयुद्ध की अपेक्षा भारत विभाजन कम हानिकारक था। इसलिए नेहरू तथा पटेल ने इसे स्वीकार कर लिया। नेहरू ने कहा, ''यदि हमें आजादी मिल भी जाती, तो भारत निसन्देह निर्बल रहता, जिससे इकाईयों के पास कुछ अधिक शक्तियाँ रहती और संयुक्त भारत में सदैव कलह और झगड़े रहते। इसलिए हमने देश का बँटवारा स्वीकार कर लिया, ताकि हम भारत को बलशाली बना सकें। जब दूसरे हमारे साथ रहना ही नहीं चाहते थे तो हम उन्हें क्यों और कैसे मजबूर कर सकते थे।'' नेहरू ने एक अन्य स्थान पर कहा, ''हालात की मजबूरी थी और यह महसूस किया गया कि जिस मार्ग का हम अनुसरण कर रहे हैं, उसके द्वारा गतिरोध को हल नहीं किया जा सकता। अतः हमें देश का बँटवारा स्वीकार करना पड़ा।'' भारत के स्वतन्त्र होने के बाद पं० नेहरू ने इस सम्बन्ध में कहा था, ''यदि हम उस समय भारत विभाजन को स्वीकार न करते तो ग हयुद्ध के कारण हमारा देश नष्ट-भ्रष्ट हो जाता और आगामी कई वर्षों तक भारत की उन्नति रुक जाती।'' इसके अतिरिक्त कांग्रेसी नेताओं ने सोचा कि माउण्टबेटन योजना को अस्वीकार करने की अवस्था में ब्रिटिश सरकार इससे भी अधिक हानिकारक योजना लाद देगी। अतः कांग्रेसी नेताओं ने भारत विभाजन को स्वीकार कर लिया।

(12) **पाकिस्तान की स्थिरता में सन्देहः** अधिकाँश कांग्रेसी नेताओं का विचार था कि राजनीतिक, भौगोलिक, आर्थिक और सैनिक द ष्टि से पाकिस्तान एक कमजोर राष्ट्र सिद्ध होगा और अपने सीमित साधनों के कारण अधिक समय तक जीवित न रह सकेगा। परिणामस्वरूप आज अलग होनेवाले ये क्षेत्र देर सबेर से फिर भारतीय संघ में सम्मिलित हो जाएँगे। इस प्रकार की आशा व्यक्त करते हुए कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष आचार्य कृपलानी ने कांग्रेस के समक्ष ये शब्द कहे, ''भारत की एकता का कार्य भारत का सुद ढ़, सुखी, गणतन्त्रात्मक और समाज सत्तावादी राज्य बनाकर किया जा सकता है। इस प्रकार का भात अपने बिछड़े बच्चों को फिर अपनी गोद में बिठा सकता है। भारत की एकता के बिना उसकी स्वतन्त्रता अधूरी ही रह जाएगी।'' ऐसा प्रतीत होता है कि कांग्रेसी नेताओं ने पाकिस्तान की स्थिरता में सन्देह

के कारण भारतीय समस्या के अस्थाई हल के रूप में विभाजन की योजना को स्वीकार कर लिया। लेकिन 1947 की यह आशा यथार्थ रूप ग्रहण न कर सकी।

(13) **तुरन्त स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए:** कांग्रेस ने तुरन्त स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए देश का विभाजन स्वीकार कर लिया। ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम लीग की अन्तरिम सरकार में इसलिए शामिल किया था ताकि कांग्रेस और इसमें मतभेद चलता रहे और इन मतभेदों को सुलझाने का बहाना बनाकर वह भारत पर शासन करती रहे। माउण्टबेटन ने कहा था, ''यदि ऐसी परिस्थिति में हिन्दुस्तान की पार्टियाँ हमें ठहरने के लिए कहेगी तो हमें ठहरना पड़ेगा।'' कांग्रेसी नेताओं का यह मानना था कि यदि अंग्रेज भारत छोड़कर नहीं गये तो देश छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाएगा। जिन प्रान्तों में मुस्लिम लीग का शासन था, वहाँ चपरासी से लेकर उच्च पदों पर मुसलमान नियुक्त किये जा रहे थे और हिन्दुओं को हटाया जा रहा था। इसलिए सरदार पटेल ने कहा था कि यदि पाकिस्तान की माँग नहीं मानी गयी तो प्रत्येक दफ्तर में लीग की एक इकाई स्थापित हो जाएगी। कांग्रेस ने मुस्लिम लीग तथा अंग्रेजों के गठबन्धन को देश के लिए घातक समझा। सरदार पटेल ने कहा था, ''मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि सबसे अच्छा तरीका यह है कि अंग्रेजों को भारत से शीघ्र निकाला जाए, चाहे देश का बँटवारा भी करना पड़े।'' कांग्रेस की बैठक में माउण्टबेटन की योजना के बारे में गोविन्द वल्लभ पन्त ने ये शब्द कहे, ''3 जून की योजना की स्वीकृति ही देश के लिए स्वराज और स्वाधीनता पाने का एकमात्र मार्ग है। इसके अन्तर्गत हम एक शक्तिशाली केन्द्र वाला ऐसा भारतीय संघ बनाना चाहते हैं जो राष्ट्र को प्रगति के पथ पर ले जा सके. .... आज हमारे सामने दो विकल्प हैं 3 जून की योजना की स्वीकृति या आत्महत्या।''

(4) **लार्ड माउण्टबेटन का प्रभाव:** लार्ड माउण्टबेटन का व्यक्तिगत प्रभाव भी कांग्रेस द्वारा विभाजन प्रस्ताव स्वीकार करने के लिए उत्तरदायी था। जब लार्ड माउण्टबेटन भारत के गवर्नर जनरल बनकर आए, तो उन्होंने देखा कि देश में चारों ओर साम्प्रदायिक दंगे हो रहे थे, जिसके कारण अव्यवस्था फैली हुई थी। अतः उन्होंने यह अनुभव किया कि भारतीय समस्या का एकमात्र हल भारत का विभाजन है। इसी समय माउण्टबेटन ने यह भी कहा कि मुस्लिम लीग भारत में कभी भी शान्ति और व्यवस्था नहीं रहने देगी। परिणामस्वरूप भारत कभी भी शक्तिशाली देश नहीं बन सकेगा और फिर जब कोई सम्प्रदाय भारत में रहना ही नहीं चाहता तो उसे इसके लिए विवश नहीं करना चाहिए। लार्ड माउण्टबेटन के प्रभावशाली व्यक्तित्व और अकाट्य तर्कों से नेहरू व पटेल काफी प्रभावित हुए और उन्होंने विभाजन को स्वीकार कर लिया। मौलाना आजाद के अनुसार, ''लार्ड माउण्टबेटन के भारत आने के एक माह के अन्दर पाकिस्तान के द ढ़ विरोधी नेहरू विभाजन के समर्थक नहीं तो कम से कम उसके प्रति तटस्थ हो गए। इस कठिन कार्य में लार्ड माउण्टबेटन को अपनी आदर्श पत्नी से बहुत सहायता मिली, जिन्होंने नेहरू को अपने पति से अधिक प्रभावित किया।''

उपरोक्त कारणों से देश का विभाजन अनिवार्य हो गया था। वास्तव में मुस्लिम लीग के एक सुनियोजित षड्यंत्र के कारण देश का विभाजन हुआ। फलतः देश में साम्प्रदायिक दंगे हुए थे। निर्दोष व्यक्तियों के खून से होली खेली गयी। इसके बावजूद भी जिन्ना को काटा-पीटा दीमक लगा पाकिस्तान मिला। वह उस पाकिस्तान को प्राप्त नहीं कर सका जिसकी कल्पना 1930 में इकबाल ने की थी। भारत विभाजन के पश्चात पाकिस्तान में जो घटनाएँ घटित हुई और भारत में जो उसकी प्रतिक्रिया हुई, उससे इतिहास कलंकित है।

मि० जिन्ना द्वारा द्विराष्ट्र सिद्धान्त का प्रतिपादन और 1947 में भारत का विभाजन धार्मिक आधार पर

किया गया था। लेकिन बाद की घटनाओं से स्पष्ट हो गया कि उनका द्विराष्ट्र सिद्धान्त मूर्खतापूर्ण तथा अदूरदर्शितापूर्ण था। धार्मिक आधार पर निर्मित यह राज्य स्थाई नहीं रहा और 1972 ई० में पूर्वी पाकिस्तान ने अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर 'बंग्लादेश' के रूप में प्रकट किया। इस प्रकार 1971 में पाकिस्तान का पुनर्विभाजन हो गया। इस ऐतिहासिक घटना से लीग के द्विराष्ट्र सिद्धान्त का खोखलापन सिद्ध हो चुका था।

अध्याय-14
शक्ति का स्थानान्तरण-स्वतन्त्रता प्राप्ति

ऐटली की घोषणा

20 फरवरी 1947 को ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री ऐटली ने हाउस ऑफ कामन्स में भारत सम्बन्धी नीति के बारे में बयान दिया। ब्रिटेन का मन्त्रिमण्डल भारत की बिगड़ती हुई दशा को भली-भाँति समझता था। ऐटली ने समस्या को हल करने का एकमात्र तरीका यह निकाला कि ब्रिटेन को भारत से अपना अधिकार समाप्त करने की एक निश्चित तिथि निर्धारित कर देनी चाहिए। उन्होंने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार जून 1948 के अन्दर इस कार्य के लिए माउण्टबेटन को भारत का गवर्नर जनरल बनाकर भेजा गया। ऐटली की इस नीति की कंजर्वेटिव दल ने संसद में भारी आलोचना की लेकिन अन्ततः वह नीति स्वीकृत हो गयी। 24 मार्च 1947 को माउण्टबेटन ने गवर्नर जनरल का उत्तरदायित्व ग्रहण किया। भारत आते ही माउण्टबेटन ने यहाँ की राजनीतिक स्थिति पर काबू पाने के लिए देश के विभिन्न नेताओं से विचार-विमर्श शुरू किया। किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले माउण्टबेटन ने 24 मार्च से 15 अप्रैल तक विभिन्न राजनीतिक दलों और नेताओं से बातचीत की तथा प्रान्तों के गवर्नरों की एक सभा बुलाई। कांग्रेस के प्रमुख नेताओं में नेहरू और पटेल माउण्टबेटन से कई बार मिले। गांधी की प्रथम मुलाकात माउण्टबेटन से 31 मार्च 1947 को हुई। गांधी का यह सुझाव था कि अन्तरिम सरकार पूर्ण रूप से लीग के नेता जिन्ना के हाथों सौंप दी जाए जिससे भारत में साम्प्रदायिक दंगों को रोका जा सके। परन्तु गांधी का यह सुझाव कांग्रेसी नेताओं तथा वर्किंग कमेटी को मान्य नहीं था। जिन्ना की पहली मुलाकात गवर्नर जनरल से 6 अप्रैल को हुई जिसमें जिन्ना ने गांधी के सुझाव का विरोध किया। इसी बीच माउण्टबेटन की मुलाकात कांग्रेस के नेता आजाद, कृपलानी, कृष्णमेनन तथा मुस्लिम लीग के सचिव लियाकत अली खाँ से हुई। सिख प्रतिनिधियों में बलदेव सिंह, मास्टर तारासिंह और अन्य सिख नेताओं के अतिरिक्त बीकानेर और भोपाल की भारतीय रियासतों के राजाओं से भी बातचीत की। इस सिलसिले में माउण्टबेटन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारतीय समस्या का एकमात्र समाधान देश का विभाजन और पाकिस्तान की स्थापना है। अतः माउण्टबेटन ने बड़ी आसानी से पहले पटेल को देश के बँटवारे के पक्ष में, लेडी माउण्टबेटन ने नेहरू को समझा-बुझाकर बँटवारे के पक्ष में किया। अबुलकलाम आजाद देश के विभाजन के खिलाफ थे। पटेल ही नहीं नेहरू को भी विभाजन के पक्षधर बन जाते देख उन्हें बड़ा दुख हुआ था। आजाद विभाजन के प्रश्न को लेकर गांधी से मिले। आजाद के शब्दों में, ''मैं बँटवारे के खिलाफ रहा हूँ और अब भी हूँ। बँटवारे के खिलाफ जितना मैं आज हूँ उतना पहले कभी नहीं था। लेकिन मुझे यह देखकर अफसोस है कि नेहरू और पटेल ने हार मन्जूर कर ली है। अगर आप भी मन्जूर कर लेते हैं तो मुझे डर है कि हिन्दुस्तान का सर्वनाश हो जाएगा।'' गांधी ने कहा, ''अगर कांग्रेस बँटवारा मन्जूर करेगी तो उसे मेरी लाश के ऊपर से गुजरना पड़ेगा। जब तक मैं जिंदा हूँ भारत के बँटवारे के लिए कभी राजी न होऊँगा और अगर मेरा वश चला तो कांग्रेस को भी इसे मन्जूर करने की इजाजत न दूँगा।'' अप्रैल में ही गांधी माउण्टबेटन से मिले।

उन्होंने लार्ड माउण्टबेटन को सुझाव दिया था कि जिन्ना को सरकार बनाने दी जाए और उन्हें अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का चुनाव करने दिया जाए। इस सुझाव का जबरदस्त विरोध नेहरू और पटेल दोनों ने किया और इसे वापिस लेने के लिए गांधी को बाध्य किया। गांधी का यह सुझाव देश की एकता बचाए रखने के लिए था। परन्तु कुछ दिनों बाद गांधी का कहना था कि देश की हालत अब ऐसी है कि बँटवारा अवश्यम्भावी लगता है। मौलाना अबुलकलाम आजाद का ख्याल था कि गांधी सरदार पटेल के प्रभाव के कारण बँटवारे का विरोध न कर सके और समर्थक बन गये।

कांग्रेस और लीग नेताओं से बात करने के बाद माउण्टबेटन लंदन गये और ब्रिटिश सरकार के सामने देश-विभाजन की अपनी योजना पेश की। ब्रिटिश सरकार की सहमति पाकर वे 31 मई को वापस आए और कांग्रेस तथा लीग के नेताओं से बातचीत की। इन नेताओं की स्वीकृति पाकर ब्रिटिश सरकार ने 3 जून 1947 को भारत-विभाजन की योजना प्रकाशित कर दी। इस योजना के अनुसार-

(1) हिन्दुस्तान को दो हिस्सों भारतीय संघ और पाकिस्तान में बाँट दिया जाएगा।

(2) संविधान-सभा द्वारा पारित संविधान भारत के उन भागों में लागू नहीं किया जाएगा जो इसे मानने के लिए तैयार न हों।

(3) बंगाल और पंजाब में हिन्दू तथा मुसलमान बहुसंख्यक जिलों के प्रान्तीय विधानसभा के सदस्यों की अलग-अलग बैठक बुलाई और उसमें यदि कोई भी पक्ष प्रान्त विभाजन चाहेगा तो विभाजन कर दिया जाएगा।

(4) उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त से जनमत द्वारा यह पता लगाया जाए कि वह भारत के किस भाग के साथ रहना चाहेगा।

(5) असम के सिलहट जिले से भी इस प्रकार जनता द्वारा निर्णय कराया जाए।

(6) भारतीय नरेशों के प्रति पुरानी नीति रहेगी कि सर्वोच्चसत्ता के अधिकार उन राज्यों को वापस लौटा दिये जाएंगे।

इस योजना को कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों ने स्वीकार कर लिया और देश-विभाजन की तैयारी आरम्भ हो गई। बंगाल और पंजाब के जिलों के विभाजन तथा सीमा-निर्धारण का कार्य एक कमीशन के अधीन सौंपा गया जिसकी अध्यक्षता रेडक्लिफ ने की। स्पष्ट है कि माउण्टबेटन योजना देश के दो टुकड़े कर देने की योजना थी। साथ ही वह देशी रियासतों को अधिकार देती थी कि अगर वे चाहे तो भारतीय संघ या पाकिस्तान किसी में शामिल न होकर ब्रिटेन के अधीन बनी रह सकती थी।

माउण्टबेटन योजना को कांग्रेस कार्यसमिति (कांग्रेस वर्किंग कमेटी) की 3 जून 1947 की बैठक में स्वीकार कर लिया गया। ऐसी स्थिति में पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के खानबंधु और खुदाई खिदमतगार, जो बराबर कांग्रेस का साथ दे रहे थे, बड़ी मुसीबत में पड़ गये। जब कार्य समिति (वर्किंग कमेटी) की बैठक में गांधी ने भी माउण्टबेटन की योजना का अर्थात् देश के बँटवारे की योजना का समर्थन किया तो सीमान्त गांधी अब्दुल गफ्फार खाँ आश्चर्यचकित रह गये।

14 जून 1947 को कांग्रेस महासमित की बैठक में गोविंद बल्लभ पन्त ने देश के विभाजन की माउण्टबेटन योजना को स्वीकार करने का प्रस्ताव पेश किया। पन्त ने कहा कि वह देश को स्वतन्त्रता और स्वाधीनता प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। इससे सुनिश्चित हो जाएगा कि भारतीय संघ में केन्द्र को अधिक शक्तिशाली रखा जाएगा। इस प्रस्ताव का समर्थन आजाद ने किया जो बँटवारे का विरोध करते आ रहे थे। आजाद ने कहा, ''कांग्रेस कार्यसमिति का फैसला सही फैसला नहीं है। लेकिन कांग्रेस के सामने कोई और रास्ता नहीं है।'' पटेल और नेहरू ने भी प्रस्ताव का समर्थन किया, तब

भी इस प्रस्ताव का पास होना मुश्किल था। ऐसी हालत में गांधी ने हस्तक्षेप किया और प्रस्ताव को स्वीकार करने की सलाह दी। इस प्रस्ताव का विरोध करनेवाले सिन्हा कांग्रेस के नेता चौथराम मिडवानी, पंजाब कांग्रेस के अध्यक्ष डा० किचलू, पुरुषोत्तम दास टंडन, मौलाना हफीजुर्रहमान आदि थे।

गांधी, नेहरू और पटेल के समर्थन के बावजूद कांग्रेस कार्य समिति का प्रस्ताव अखिल भारतीय कांग्रेस समिति (AICC) में सर्वसम्मति से पास न हो सका। 161 सदस्यों ने या तो खिलाफ में वोट दिया या वे तटस्थ रहे। मुस्लिम लीग की कौंसिल की बैठक माउण्टबेटन योजना पर विचार करने के लिए 10 जून 1943 को नई दिल्ली में बुलाई गई। लीग ने भारी बहुमत से योजना को स्वीकार किया। लीग की बैठक में उपस्थित 400 सदस्यों में से सिर्फ दस सदस्यों ने उसका विरोध किया।

कांग्रेस द्वारा माउण्टबेटन योजना को स्वीकार कर लेने के बाद पश्चिमोत्तर प्रान्त के अब्दुल गफ्फार खाँ संकट में पड़ गये। उन्होंने माँग की कि भारतीय संघ व पाकिस्तान में शामिल होने के अलावा अलग पठानिस्तान या पख्तुनिस्तान की स्थापना के बारे में भी सीमान्त के निवासियों का जनमत लिया जाए। माउण्टबेटन ने इसे मानने से इन्कार कर दिया। अब्दुल गफ्फार खाँ ने पाकिस्तान या भारतीय संघ में शामिल होने वाले जनमत का बहिष्कार किया। लीग ने साम्प्रदायिकता का नारा लगाते हुए धर्म के आधार व जाली वोट डलवाकर पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त को पाकिस्तान में शामिल होने का फैसला करवाया। पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब, सिन्ध, बलूचिस्तान, असम के सिलहट जिले में पाकिस्तान में शामिल होने का फैसला किया।

4 जुलाई 1947 को ब्रिटिश संसद ने भारतीय स्वाधीनता विधेयक पेश किया गया। 15 जुलाई को वह बिना किसी संशोधन के हाउस आफ कामंस द्वारा 18 जुलाई को हाउस आफ लार्डस द्वारा पास कर दिया गया। 18 जुलाई को ब्रिटिश सम्राट के हस्ताक्षर हो गये। इसके अनुसार देश को 15 अगस्त 1947 को दो डोमिनियनों - भारत और पाकिस्तान में बाँट दिया जाएगा। 14 अगस्त 1947 को पाकिस्तान की स्थापना हुई। मुहम्मद अली जिन्ना गवर्नर जनरल और लियाकत अली प्रधानमन्त्री बने। 15 अगस्त शुरू होते ही रात के बारह बजे नेहरू ने संविधान सभा को संबोधित करते हुए कहा, ''आधी रात को इस घड़ी में जब दुनिया सो रही है, भारत जागकर जीवन और स्वतन्त्रता प्राप्त कर रहा है......... यह बहुत ही अच्छी बात है कि इस पवित्र क्षण में हम भारत और उसकी जनता की सेवा और उससे भी बढ़कर मानवता की सेवा करने की सौगन्ध लेते हैं।

इसी संविधान सभा में लार्ड माउंटबेटन को स्वतन्त्र भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया और नेहरू प्रधानमन्त्री बने।

कांग्रेस और विभाजनः लेकिन कांग्रेस ने विभाजन क्यों और कैसे मन्जूर कर लिया? मुस्लिम लीग किसी भी कीमत पर अपना हक लेने के लिए अड़ गई और ब्रिटिश सरकार को अपने ही बनाए जाल से न निकल पाने के कारण उनकी माँग को मन्जूर करना पड़ गया, यह बात तो समझ में जाती है। लेकिन भारत की अखण्डता में विश्वास रखने वाली कांग्रेस ने विभाजन क्यों स्वीकार किया यह अब भी एक मुश्किल सवाल है। आखिर बात क्या थी कि नेहरू और पटेल ने 3 जून योजना की वकालत की और कांग्रेस कार्य समिति तथा (अखिल भारतीय) कांग्रेस समिति ने उसके पक्ष में प्रस्ताव पारित कर दिया? सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि गांधी जी तक ने नेहरू और पटेल के विभाजन को इसलिए स्वीकार किया क्योंकि सत्ता का इन्तजार उनके लिए असह्य हो रहा था। कहा जाता है कि इसीलिए उन्होंने गांधी जी की सलाह की उपेक्षा कर दी, जिससे गांधी जी इतने मर्माहत हुए कि उनकी और जीने की इच्छा ही खत्म हो गयी। लेकिन फिर भी उन्होंने साम्प्रदायिक घ णा का अकेले ही मुकाबला किया, जिस प्रयास की प्रशंसा में माउण्टबेटन ने उन्हें एक ''वनमैन बाउंडरी फोर्स'' कहा।

इस संदर्भ में यह भुला दिया जाता है कि 1947 में नेहरू, पटेल और गांधी के सामने विभाजन को स्वीकार करने के सिवाय कोई और रास्ता भी नहीं रह गया था। चूँकि कांग्रेस मुस्लिम जनसमूह को राष्ट्रीय आंदोलन में नहीं खींच सकी थी और मुस्लिम साम्प्रदायिकता के ज्वार को रोक पाने में अक्षम साबित हुई थी, इसलिए अब उसके पास विकल्प ही क्या था? कांग्रेस की विफलता 1946 के चुनावों में एकदम साफ हो चुकी थी। इन चुनावों में लीग को 90 प्रतिशत मुस्लिम सीटें मिली थी। यों तो कांग्रेस जिन्ना के खिलाफ अपनी लड़ाई 1946 में ही हार चुकी थी लेकिन जब कलकत्ता और रावलपिंडी की सड़कों पर तथा नोआखाली और बिहार के गाँवों में साम्प्रदायिक दंगे फूट पड़े, तो उसने अपनी पराजय स्वीकार भी कर ली। जून 1947 तक कांग्रेस के नेता महसूस करने लगे थे कि सत्ता के तुरन्त हस्तान्तरण से ही यह साम्प्रदायिक पागलपन रोका जा सकता हे। अन्तरिम सरकार की अपंगता ने भी पाकिस्तान को एक परिहार्य वास्तविकता बना दिया। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक में 14 जून 1947 को पटेल ने कहा कि वस्तुतः हम इस सच्चाई से पलायन नहीं कर सकते कि पंजाब, बंगाल और अन्तरिम सरकार में पाकिस्तान की स्थापना हो चुकी थी और उसने काम करना शुरू कर दिया है। अन्तरिम सरकार के युद्धक्षेत्र में बदल जाने से नेहरू भी हैरान थे। मन्त्री लोग आपस में तू-तू मैं-मैं करते और अलग-अलग बैठकों में निर्णय करते। इसलिए बैठकों से बचते रहते और लियाकत अली खाँ, जिनके पास वित्त विभाग था, दूसरे विभागों के काम में रुकावट डालते। गवर्नर लीग का साथ दे रहे थे, प्रान्तीय सरकारें निष्क्रिय थी, बल्कि कहीं-कहीं दंगों में खुद भी शामिल थी और लोग मारे जा रहे थे। नेहरू को लग रहा था कि अगर इन चीजों को अन्तरिम सरकार रोक नहीं पा रही है, तो फिर उसमें हमारे बने रहने का औचित्य क्या है? सत्ता के हस्तान्तरण से कम-से-कम इतना तो होगा कि एक ऐसी सरकार बनेगी जो सचमुच नियन्त्रण कर सके।

दो डोमिनियन राज्यों को तात्कालिक सत्ता हस्तान्तरण की योजना स्वीकार करने का एक और कारण था। इससे भारत के विखंडीकरण की आशंका नष्ट हो जाती क्योंकि इस योजना में प्रान्तों और रियासतों को अलग से स्वतन्त्रता देने की बात नहीं थी। बाद में वस्तुतः हुआ भी यही अपनी तमाम अनिच्छा के बावजूद रियासतों को इस या उस देश में शामिल होना पड़ा। यह कोई मामूली उपलब्धि नहीं थी। रियासतें अगर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रखती तो भारत की एकता के लिए वे पाकिस्तान से भी बड़ा खतरा साबित होती।

इस तरह 1947 में कांग्रेस द्वारा विभाजन का स्वीकार मुस्लिम लीग की एक सम्प्रभु मुस्लिम राज्य की दलील को कदम-दर-कदम स्वीकार करने की प्रक्रिया का ही आखिरी चरण था। 1942 में क्रिप्स मिशन के समय ही मुस्लिम-बहुल प्रान्तों की स्वायत्तता मन्जूर कर ली गयी थी। गांधी जी एक कदम और आगे बढ़ गये तथा 1944 में जिन्ना से अपनी वार्ताओं के दौरान उन्होंने मुस्लिम-बहुल प्रान्तों के आत्म-निर्णय का अधिकार भी मान लिया। जून 1946 में कांग्रेस ने इस सम्भावना को भी स्वीकार कर लिया कि मुस्लिम-बहुल प्रान्त (जिन्हें केबिनेट मिशन योजना में ग्रुप 'बी' और 'सी' में रखा गया था) अपनी अलग संविधान सभा बना सकते हैं हालाँकि उसने अनिवार्य समूहीकरण (ग्रुपिंग) का विरोध किया और कहा कि उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त तथा असम को यह अधिकार होना चाहिए कि वे चाहें तो अपने ग्रुप में शामिल न हों लेकिन साल बीतते-बीतते नेहरू ने कह दिया कि समूहीकरण अनिवार्य रहेगा या ऐच्छिक, इस पर संघीय न्यायालय का निर्णय उन्हें मन्जूर होगा। फिर जब दिसम्बर में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने यह स्पष्टीकरण किया कि समूहीकरण अनिवार्य है तो कांग्रेस ने इसका विरोध नहीं किया। अधिकाधिक तौर पर विभाजन की बात कांग्रेस ने मार्च 1947 में मान ली, जब कांग्रेस कार्यसमिति द्वारा यह प्रस्ताव पारित किया गया कि यदि देश का बँटवारा होता है तो पंजाब (और इसी में निहित था कि बंगाल) का भी बँटवारा होना ही चाहिए। वस्तुतः लीग के सम्मुख जून 1947 में ही पूर्ण समर्पण किया जा चुका था, जब कांग्रेस ने यह इच्छा जाहिर की थी कि यदि तत्कालीन

अन्तरिम सरकार को सत्ता का हस्तान्तरण कर दिया जाए, तो वह डोमिनियन का दर्जा स्वीकार कर लेगी। लेकिन अन्ततः उसने विभाजन और डोमिनियन का दर्जा, दोनों स्वीकार कर लिए।

कांग्रेस के नेता बातें तो बड़ी-बड़ी कर रहे थे, लेकिन ट्रेजेडी यही थी कि धीरे-धीरे अपनी जमीन भी छोड़ते जा रहे थे। कांग्रेस संविधान सभा को सम्प्रभुता पर जोर दे रही थी, लेकिन उसने चुपचाप अनिवार्य समूहीकरण स्वीकार कर लिया तथा उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त को पाकिस्तान का अंग मान लिया। कांग्रेस के नेताओं ने विभाजन के लिए इसी कारण हामी भरी, क्योंकि वे साम्प्रदायिक दंगों को रोक नहीं पा रहे थे, लेकिन हिंसा के आगे आत्मसमर्पण न करने की बात भी वे दोहराते जा रहे थे। नेहरू के शब्द थे, ''हम हत्या से हाथ मिलाने नहीं जा रहे हैं और न उसे देश की नीति तय करने की इजाजत ही देंगे।'' गांधी जी ने वायसराय से बात करते हुए द ढ़ स्वर में कहा था, ''अगर भारत खून से नहाना चाहता है तो यही होगा।'' वे अक्सर कहा करते थे कि हिंसा के आगे आत्मसमर्पण से अराजकता बेहतर है।

कुछ भ्रम

कांग्रेस के नेताओं ने शायद ही कल्पना की कि घटना-प्रवाह इतना तेज हो जाएगा। न कोई यह मानने को तैयार था कि यह प्रक्रिया उलटी नहीं की जा सकती। विभाजन की घोषणा के बाद ही दोनों देशों के लाखों लोग इस हकीकत को स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। यही कारण है कि जनसंख्या की अदला-बदली इतनी अफरा-तफरी में हुई। कांग्रेस (खासकर नेहरू) ख्वाब में खोई हुई थी और साम्प्रदायिक विस्फोट की गति का आकलन करने में असमर्थ थी। अलग होने के अधिकार की कांग्रेस ने भी इसी उम्मीद से मन्जूरी दी थी ''मुसलमान इस पर अमल नहीं करेंगे, बल्कि इसका इस्तेमाल वे अपने डर दूर करने में करेंगे (नेहरू)।'' कांग्रेस के नेता यह नहीं समझ पा रहे थे कि 1940 के दशक-मध्य में जो साम्प्रदायिकता दिखाई पड़ रही थी वह अल्पसंख्यकों की आशंकाओं को हवा दी जा रही थी वह एक निश्चयात्मक ''मुस्लिम राष्ट्र'' था जो किसी भी तरह अपना अलग अस्तित्व बनाने के लिए द ढ़प्रतिज्ञ था।

कुछ लोगों अथवा नेताओं को यह उम्मीद भी थी कि विभाजन अस्थायी है, वे मानते थे कि हिन्दुओं और मुसलमानों की मौजूदा मानसिकता का कारण अभी अपरिहार्य है, लेकिन जब साम्प्रदायिक उन्माद थमेगा और समझदारी लौटेगी तो भारत पाकिस्तान एक हो जाएँगे। गांधी जी अक्सर कहते थे कि यदि लोगों ने विभाजन को हृदय से स्वीकार नहीं किया तो पाकिस्तान ज्यादा दिनों तक नहीं टिक सकता। नेहरू ने करिअप्पा से कहा, ''हमें आलोकित पर्वत शिखरों तक पहुँचने के लिए अक्सर अंधेरी घाटियों से गुजरना पड़ता है।'' सबसे अवास्तविक आशा यह थी कि विभाजन शांतिपूर्ण होगा। नेहरू को हमेशा की तरह भारतीय जनता की अच्छाई में विश्वास था, हालाँकि अगस्त 1946 से ही दंगों की बाढ़ आई हुई थी। इन साम्प्रदायिक दंगों में पाकिस्तान और भारत दोनों में कितने आदमी मारे गए, कितने शरणार्थी बनाए गए, कितनी औरतों का अपहरण किया गया, इसका सही हिसाब लगाना असम्भव है। पंजाब और बंगाल दो स्थानों पर साम्प्रदायिक घटनाएँ कई दिनों तक चलती रहीं।